

# श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका

द्वितीय अध्याय

विमलवाणी में प्रतिध्वनित

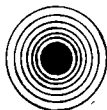






# श्रीमद्भगवद्गीता-भावार्थदीपिका-‘ज्ञानेश्वरी’

नवमअध्याय के पारायण-के रूप में प्रवाहित ‘विमलवाणी’  
( श्री० विमलाजी ठकार के प्रवचनों का सङ्कलन )



## श्रीमद्ज्ञानेश्वरप्रशस्ति

|                             |              |     |       |
|-----------------------------|--------------|-----|-------|
| सिद्धप्रज्ञासनस्थिताय       | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| सहजसर्वाङ्गसुन्दराय         | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| मूर्त्तमार्दवस्वरूपाय       | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| करुणामयाय ज्ञानमुद्राय      | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| सत्योन्मीलितचक्षुष्काय      | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| विदग्धवाङ्मयविभूषणाय        | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| शारदासुतकविगौरवाय           | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| निखिलरससिद्धेश्वराय         | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| भक्तिज्ञानयुतयोगेश्वराय     | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| नवरससागररमीनाय              | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| अद्वैतामृतपूर्णकामाय        | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| सहजसमाधिबिलासाय             | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| विश्वसंविदोन्मेषश्रेष्ठाय   | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| पञ्चमपुरुषार्थप्रतिष्ठापकाय | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| भक्ताय भागवतवरिष्ठाय        | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| परतत्त्वप्रक्षालितवाणीरमणाय | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| वीतरागरजितजीवनाय            | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| विनम्रलाघवपूर्णचन्द्राय     | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| अलाञ्छितलावण्यमयाय          | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| मृदुमधुरमन्दहासाय           | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| चिरषोडशकलासंयुताय           | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| सुखदशीतलमार्तण्डाय          | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| शिवशक्तिलाहितसौम्याय        | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| आत्मविलोपनलोलाय             | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| स्फुटितचिद्रत्नसौरभाय       | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| चिद्बिलासस्फुटितपुष्पाय     | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |
| निवृत्तिसुताय प्रेमेश्वराय  | ज्ञानेश्वराय | नमो | नमः । |

—विमला—

[विसम्बर १९६८ अतामो (आपान) समुद्र-तट पर धूमते समय स्फुरित]

## निवेदन

विगत अनेकों वर्षों से (१९८७ तक) सतत चले जाये श्री ज्ञानेश्वरी-पारायण-ग्रन्थ से सत्यज्ञी जिज्ञासुजनों के पितामह-सुयोग-काम में परम श्रद्धेया "दीदी" (विमलाजी) की बाणों के माध्यम द्वारा स्वयं उनका (एवं उनमें अनुस्यूत सभी भगवद्भिर्भूतित्वरूप सन्तों का) जीवन-रस अतीव स्नेहसने रूप में परोसा जाता रहा। उस समस्त प्रसाह को ज्यों का त्यों सभी ज्ञोभ्युजों तक पहुँचाने की अभिलाषा रहने पर भी शमता-मर्यादा-बन्ध बह हो नहीं गया। अवश्य ही गुजराती भाषा में अनुदित-सङ्कलित रूप में कुछ अध्याय (द्वितीय में से स्वित्त-प्रश्न-लक्षण, नवम तथा द्वादश अध्याय पूरे) प्रकाशित हो गये; हिन्दी में भी कलकत्ता से (श्रीमती सरलाजी विरला के अभिक्रम से) 'अकिभागीरथों' नाम से शारहवाँ अध्याय प्रकाशित हुआ था, जो शीघ्र ही अप्राप्य (out of print) हो गया। तब वषं पहले श्र० "दीदी" के चिन्तन अभिगम्यक करने वाली पत्रिका "जीवन-परिमल" में क्रमिक रूप से द्वितीय अध्याय का प्रवचनसार प्रकाशित होने लगा। जिनका एकत्र निवेश करके १९८८ में पुस्तक रूप से प्रकाशन हुआ। उसके बाद उसी रूप में नवम अध्याय के प्रवचनों का भी क्रमिक प्रकाशन होता चला। इस अध्याय पर सांसार्योपिका में अधिः भावप्रचुर व्याख्या (३४ श्लोकों पर ५३५ ओवियाँ) होने से; इन क्रमिक प्रकाशनों में अनेक वर्ष लग जाने की सम्भावना देख कर निर्णय लिया गया कि शेष सब एक साथ शीघ्र ही प्रकाशित किया जाय तो पाठकों को सुविधा होगी। प्रभुक्रपा से वह सम्भव हुआ है, उत्तरायणपूर्व (मकरसंक्रान्ति) पर यह सङ्कलन-प्रकाशन रूप अञ्जलि "सविता" के चरणों में समर्पित है।

इस प्रकाशन में श्रीमद्भगवद्गीता—नवम अध्याय के श्लोकों के साथ-साथ मूल ज्ञानेश्वरी (मराठी) का हिन्दी रूप (उसी 'ओवो' छन्द में) भी पाठकों की सुविधा के लिये दिया जा रहा है। सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी (नौ हजार ओवो) का शब्दशः हिन्दी रूप ('ओवो'-छन्द में) परम श्रद्धेया "दीदी" की प्रेरणा एवं कृपा ने उन्हीं के इस माध्यम द्वारा ग्यक, सम्पादित एवं प्रकाशित (१९८३ में) करवाया था, (जो अभी प्राप्य है, जिसमें श्री ज्ञानेश्वरमहाराज के जीवनचरित एवं कृतित्व-विषयक सुविस्तृत प्रामाणिक भूमिका-परिशिष्टादि भी हैं), उसी में से नवम अध्याय यहाँ बिया गया है।

इस अध्याय में अनेकों स्थानों पर सहज-प्रवाह में श्र० 'दीदी' के निजी जीवन-प्रसङ्ग उदाहृत हुए हैं, जो प्रत्येक भारतवासी एवं जिज्ञासु-साधकों के लिए विशेष मननीय एवं समप्रशिक्षणप्रद हैं, इसीलिये (स्वयं 'दीदी' की अनिच्छा के बावजूद) उन्हें यथावत् ले लिया गया है। इन पारायण-प्रवचनों के समय प्रारम्भ में १०-१५ ओवियाँ एक साथ सत्वर पढ़कर फिर उन पर मुक्त व्याख्या की जाती है, जिसमें बहुधा पूरी ज्ञानेश्वरी में से कहीं से भी यथाप्रसङ्ग विषय ब उद्धरण आते हैं। इस प्रकार व्याख्याक्रम में अध्याय का ओवीक्रम बहुधा ज्यों का त्यों नहीं रहता; फिर किसी ओवो की व्याख्या में अधिः विस्तार होता है, किन्हीं अनेकों को एक साथ संक्षेप में ले लिया जाता है। अतः यहाँ पुस्तक में ओवीक्रम सब जगह बिबाधा नहीं गया है। प्रवचनों को उनका सहज प्रवाह अधुण रूखते हुए लिया गया है। इसीलिये पुष्क आकारित विवरणसहित 'विषय-क्रम' नहीं दिया था रहा है।

सम्पादन की दृष्टि से मूल-ज्ञानेश्वरी के प्रसङ्ग को दो कॉलम में, और आगतः उससे पुष्क युगापेक्षी व्याख्या को, अन्य सन्तों की बाणों व जीवन के उदाहरणादि को, एवं स्वयं दीदी के विशेष चिन्तन को अति-

व्यक्तियों को नष्टे कोष्ठकों [ ] में सन्वर्गानुसार कभी दो कॉलम में तो कभी लम्बी पंक्तियों में रखा गया है । इस सङ्कलन का प्रकाशन पहले पृ० ३२ तक क्रमिक रूप में (कमी ४ पृष्ठ, तो कमी ८ पृष्ठ) अक्षयवाचक में होता रहा—फिर विशेष परिस्थितिवश वाराणसी आना हुआ; मुद्रित अंश के स्थानान्तरण में (रेलपासल में) अधिक विलम्ब होने के कारण पृष्ठसंख्या का अनुसन्धान छूट जाने से पृ० ३२ के बाद मुद्रण पृ० ४१ से प्रारम्भ हो गया । बीच की संख्या (३३-४०) के पृष्ठ वास्तव में हैं ही नहीं । तथा पृ० ४१ से अन्त तक का रूप कुछ अलग है, दोष अन्य प्रकार का है, आधा है इस अपरूपता को पाठक समझ कर ही देंगे ।

इस लेखमाला के विलम्बित क्रमिक प्रकाशन के कारण एक-दो स्थानों पर (हस्तलिपि के पृष्ठों का व्यविक्रम होने से) क्रम-भङ्ग हुआ है, जिसका यथास्थान निर्देश भी कर दिया गया है, पर उससे होने वाली असुविधा के लिए, तथा सम्पादन-प्रकाशन में रही हुई सभी त्रुटियों के लिये सहृदय पाठकों से समझायाचना है ।

अन्त में प्रभु के इस परम अनुग्रह के प्रति धन्य प्रणति निवेदित है जो इस हृदय-चित्त-बुद्धि आविष में प्रविष्ट होकर इन्हें 'विमल-बाणी' सबके प्रति परोसने का माध्यम बना कर इस जीव ज जीवन को कृतार्थ एवं स्वैहृष्य बना रहा है । उसी कृतार्थतावश यह जीव नामधेय जितनी भी पृथक् प्रतीति से विरत है । वे प्रभु जो है उन्हें सर्वत्र अनन्त प्रणाम ॥

उत्तरायण (बनारसहस्तलिपि) १९१०

—सम्पादन-माध्यम

॥ हरिः ॐ तत् सत् ॥

बाणी गुणानुकल्पने, अथवा कथायां, हस्तौ च कर्मसु, मनस्तव पादयोर्नः ।

स्मृतयां, शिरस्तवनिवातभगत्प्रणामे, वृष्टिः सतां दर्शनेऽस्तु भवसन्तानम् ॥

मालिक ! तेरी रजा रहे और तू ही तू रहे ! बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे !

बस तू ही तू रहे !!

जन्त हो इस अरुम का सारा ही आशियाँ ! दाद देंगी बुलबुलें—'तूने भला किया !'

हाहद में धुल जाने वाले गुल की बू रहे ! बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे !!

कैद हो तुफ़ाँ अगर पाये तेरी नजर ! फिर खुदो की आँधियों की हो नहीं गुजर !

दरिया में मिलती बूंद जैसी गुफ्तगू रहे ! बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे !!

यह खुदी ही तबाह हो कर ले तेरी पनाह ! फिर तमन्नायें कभी ना कर सकें गुमराह !

तेरे दर की बन्दगी की आबरू रहे ! बाकी न मैं रहूँ, न मेरी आरजू रहे !!

मधुराद्वैतप्रवर्तक-स्वनामध्वन्य-प्रेमयोगेश्वर  
श्रीज्ञानदेव



आविर्भाव  
शक सं० ११९३  
ईस्वी० १२७१

प्रत्यक्ष विराजे  
बाईस वर्ष

तिरोभाव  
शक सं० १२१५  
ईस्वी० १२९३

प्रमुख व्यक्तवाणीः—“भावार्थदीपिका”, “अमृतानुभव”, “बागदेवपासष्टी”, अनेकों अभङ्ग ( भजनपद )



**VIMAL  
PRAKASHAN TRUST**

Vimal Saurabh  
Vaniya Wadi Street No. 9,  
Rajkot-360 002. (Guj.)  
Mob. : 98255 29096  
98254 16769  
E-mail : vimalprakashan@yahoo.com

Books Available At:  
VIMAL PRAKASHAN TRUST,  
"SANTKRUPA", 103, RATNAM TOWER,  
B/H. CHIEF JUSTICE'S BUNGALOW,  
JUDGE'S BUNGALOW ROAD,  
BODAKDEY, AHMEDABAD. 380015.  
PHONE NO. 079. 6854991.

© વિમલ ઠક્કર/પ્રકાશક : વિમલ-પ્રકાશન-ટ્રસ્ટ  
શિવકુટો, ઝાલૂ વર્સિસ ( રાજ૦ ) ૩૦૭૫૦૧  
૫, પિઆંસાકિકલ હાઈવે સોસાયટી,  
નવચંબુરા, અહમદાબાદ ૩૮૦ ૦૦૯

પ્રથમ સંસ્કરણ ૧૯૯૦ **Rs 3.00 = 00**  
મૂલ્ય : ● ર૦ માત્ર  
મુદ્રક : તારા પ્રિન્ટિંગ વર્સિસ બારામસી ૨૨૧૦૧૦

## केवल काव्य नहीं—चिदरत्नकलिका

—विमला

“ग्रन्थ के प्रारम्भ में योगेश्वर ज्ञानदेव ने एक प्रतिज्ञा की है कि यह जो गीता-भावायं-दीपिका है, इसके शब्द केवल ५२ मातृकाओं से बने हुए नहीं है। यह केवल काव्यग्रन्थ नहीं है, यह केवल बुद्धि की चमत्कृति प्रदर्शित करने वाला ग्रन्थ नहीं है। आठ सौ वर्ष पहले की भाषा एवं उस युग के अनुरूप दृष्टान्त-उपमा-रूपकादि में गुंथा हुआ जीवन का महान् तत्त्वज्ञान है ‘ज्ञानेश्वरी’; इसके द्वारा अद्वैतामृतवर्षिणी भगवद्गीता का मर्मार्थ सामान्यजन तक पहुँचाया गया है।

ये शब्द नहीं चिदरत्नकलिका हैं, एक बार जो सावधान होकर समग्र चित्त से श्रवण करेगा, तो श्रीगुरुकृपा से यह जो ज्ञानगङ्गा बही है इसमें स्नान करने वाला इसी जन्म में मुक्त हो सकता है। अमृत को भी मात कर दे—केवल मधुरिमा से नहीं, सज्जीवनी शक्ति से भी। और जो अपने आपको बद्ध मान रहा है वह श्रवणमात्र से मुक्त हो सके। अद्भुत रसमयी एवं प्रासादिक भाषा है, उपमा-रूपकों की झड़ी लगाती हुई, मन को रिझाने वाली स्निग्ध मधुर भाषा है, बुद्धि को उद्दीपित कर दे ऐसी काव्य शक्ति है। अतीन्द्रिय अनुभूतियों को जगा दे—ऐसी सूक्ष्मता शब्दों में है। इसीलिये कठिनाई है कि कहीं हम शब्दबन्ध से रोज़ कर अर्थ से अलग न पड़ जायें।

शुद्ध-सार्विक-सदाचारी व्यक्ति जब श्रवण करने बैठते हैं तो हो सकता है कि इससे मन-बुद्धि को जो सुख मिलता है उसमें रम कर खो जायें; अतः आप सबसे प्रार्थना है कि ऐसे खो न जायें और जो गम्भीर संकेत हैं उन्हें खो न दें। वारम्बार अनेक रीतियों से कहा यही जा रहा है कि सर्वत्र-सर्वदा विद्यमान जो लक्ष्य परमात्मसत्ता है उसका हमारे हृदय-मन-बुद्धि में समग्र स्वीकार हो और पल-पल का इन्द्रियादिगत व्यवहार उस परम सत्ता के भान-अनुसन्धान में चले।

अद्वैतामृतवर्षिणी श्रीमद्भगवद्गीता का यह सार है कि द्वैत का स्वीकार करते हुए अद्वैत से अधिष्ठान से काया-वाचा-मनसा हमारे सब व्यवहार हों, उन व्यवहारों में चित्त का समत्व कायम रहे, और इन्द्रियों में सन्तुलन का प्रसाद छलके। इन्द्रियों का सन्तुलन चित्त को समता का बहिरङ्ग रूप है। यह केवल उसकी निष्पत्ति एवं अभिव्यक्ति है, इसको हम न भूलें।

भक्ति का यह जो रहस्य इस अध्याय में ज्ञानेश्वर महाराज पदे-पदे विविध रूपों से कह रहे हैं इसके मूल बोध को हम भूलें नहीं। नहीं तो उपमाओं का सौन्दर्य, अनुप्रासादि का लावण्य और शैली का प्रसाद—इसी पर रोज़ कर हमारे हाथ खाली रह जायेंगे। यह ब्रह्माविद्यापरक ग्रन्थ है। ब्राह्मी स्थिति व ब्रह्मनिर्वाण तक पहुँचाने के लिए नौ हजार ओषियाँ लिख कर सन्त ज्ञानेश्वर लोगों को ले रहे हैं। इसी दृष्टि से हम इसे पढ़ें-मुनें तो परम कल्याण अवश्यम्भावी है।’

....“हम श्योछावर हैं ज्ञानेश्वरमहाराज पर!—कि वे प्रेम की भाषा में, द्रैत का सम्पूर्ण स्वीकार करते हुए, अद्वैत को जीने की युक्तियाँ बताते चले जाते हैं। अध्यात्म के अनेकों ग्रन्थ देखे, किन्तु इस उन्नत तक दूसरा ऐसा ग्रन्थ देखने में नहीं आया जिसमें सम्पूर्ण जीवन का स्वीकार रहते हुए आत्मा का अधिष्ठान छूटता न हो।

....“ज्ञानेश्वरमहाराज की कही भक्ति में भावनाओं की आतिशबाजी नहीं, कल्पनाविलास नहीं, वे प्रत्यक्ष जीवन जीने के कर्म को लेते हैं। प्रभु का व अपना स्वरूप समझने से कर्म करने की पद्धति में कैसे आमूलाग्र परिवर्तन आ जाता है—यह बताते हैं।...वे कहते हैं कि—वह शाब्दिक ज्ञान व्यर्थ है, वह क्रिया-प्रक्रिया व्यर्थ है जो जीवन की समग्रता को खण्डित करे। कोई भी जीवनरसिक व्यक्ति हमेशा इस ढंग से जीना चाहेगा कि जीवन की समग्रता को आँच न आये।”

....“भक्ति जीवन जीने की शैली है। भक्ति में और ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है। आत्म-ज्ञान या ब्रह्मज्ञान वही सच्चा है जिसकी परिणति भक्ति में होती है। ब्रह्मज्ञान को प्रतिफल में जीने की शैली का नाम है भक्ति ! वह भक्ति कच्ची है जिसका अधिष्ठान आत्मज्ञान नहीं। और ज्ञान कृतार्थ होता है भक्तिरूप हो कर ही।”....

मन-मन्दिर में प्रभु को बैठाये रहना—अर्थात् प्रभु के विषय में हुए ज्ञान का, बुद्धि द्वारा जानी गई सत्ता का हृदय में समग्रचित्त से स्वीकार होना—यही भक्ति है।”

[ प० श्रद्धेया विमलाजी द्वारा श्रीज्ञानेश्वरी-नवम अध्याय (प्रस्तुत) के व्याख्यात्मक पारायण के समय मध्य में प्रसङ्गवश कहे गये अंश ]



“यह आबाल-सुबोध। ओवी में रचित प्रबन्ध।

यहाँ ब्रह्मरस - सुस्वाद - भरे अक्षर गुंथे ॥

चन्दनतरु के निकट। पाने को परिमल।

न देखनी पड़ती राह। फूलने की ॥

बैसे श्रवणों में यह प्रबन्ध। पढ़ते ही करे समाधिस्य।

न लगे ब्याख्या सुनने पर। व्यसन कैसे ?

स्वानन्दभोग का पात्र। बनाता किसी को भी यह।

सर्वेन्द्रियों को करे सुतृप्त। श्रवण से ही ॥

चन्द्र को निज क्षमता से। भोगे चतुर चकोर भले।

पर चाँदनी का सुख पाते। सभी लोग ॥

यह अध्यात्मशास्त्र बैसे। अन्तरङ्ग अधिकारी के लिये।

पर लोग सब वाक्चातुर्य से। होंगे सुखी ॥”

[श्रीज्ञानेश्वरी—१८वाँ अध्याय, ओवी १७४२-४४, १७४७-४९]

## ‘सत्सङ्ग’

—विमला

व्यक्ति के निमित्त से, माध्यम से, सत्य का संग होता है। अपने यहाँ विशेषता है कि प्रार्थना हो या ध्यान की सभा हो, कोई व्यक्ति ‘गुरु’ बन कर नहीं बैठता, व्यक्ति का प्रामाण्य नहीं है। ग्रन्थ का भी नहीं; एक दूसरे की मदद से ज्ञानेश्वर महाराज के अनुभूत सत्य का स्पर्श पाने बैठते हैं।

उस सत्य का स्पर्श हमारे सम्पूर्ण जीवन को होता रहे, उस दिशा में हमारे कदम बढ़ें इसीलिये सत्सङ्ग होता है। यहाँ से व्यक्ति-प्रामाण्य या ग्रन्थप्रामाण्य लेकर नहीं जाना है यह एक बात मुझे आपसे कहनी है। दूसरी बात यह कहनी है कि सत्सङ्ग की पद्धति-वातावरण में भी एक फर्क करना है। आत्मानुभवों और जिज्ञासु के बीच सम्बन्ध क्या हो ? अब तक एक ही माना गया कि यह सम्बन्ध गुरु और शिष्य का हो। यहाँ सत्सङ्ग के द्वारा हम खोज रहे हैं कि गुरु-शिष्य के बदले विद्यार्थी और शिक्षक—ऐसा सम्बन्ध हो, उससे भी अधिक मित्रता का सम्बन्ध हो। क्योंकि आत्मानुभवों को लाभ आत्मजिज्ञासु से कम नहीं है, जब उसके बारे में वह चर्चा चलाता है, बोलता है अपने अनुभव के बारे में, अपने समझ के विषय में, तो उसको भी उतना ही आनन्द आता है। श्रोता के बिना अभिव्यक्ति की विशदता, अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता-प्रगल्भता, वक्ता में कैसे आये। इसलिये कहती हैं कि जिज्ञासु और आत्मानुभवों में सम्बन्ध मित्रता का हो। मित्रता में भी स्नेह होगा, आदर होगा ही। प्यार का सम्बन्ध हो, प्रामाण्य का नहीं। अध्यात्मक्षेत्र में से व्यक्ति-प्रामाण्य ग्रन्थ-प्रामाण्य को निकाल देना—यह आज की आवश्यकता है।

मेरे देखे, मेरी दृष्टि से सत्सङ्ग वही है जहाँ एक व्यक्ति या ग्रन्थ का प्रामाण्य निर्माण नहीं किया जाता। प्रेम के आदान-प्रदान का वातावरण हो। उसमें विवेक होगा, नम्रता होगी, शील होगा, सौजन्य होगा, सब होगा। भय नहीं होगा। समतल घरा पर खड़े होंगे। सीखने वाला और सिखाने वाला दोनों पास में नहीं बैठेंगे तो उपनिषद् का सर्जन कैसे होगा, ? अतः अनौपचारिक वातावरण हो। ऐसे आत्मानुभवों और जिज्ञासु के बीच नये क्रान्तिकारी सम्बन्ध जागृत हों, ऐसी भी एक इच्छा रहती है।

जैसे हंभ राजनीति, अर्थनीति में अधिकारवाद नहीं चाहते वैसे अध्यात्म में भी एकाधिकारवाद, व्यक्तिविशेष का अधिकार-प्रामाण्य नहीं चाहते। स्वाधीनता, समानता, अपना अभिक्रम, आत्मनिर्भरता इन मूल्यों को अध्यात्मक्षेत्र में लाने की इच्छा है। उस इच्छा से यह सत्संग या ध्यानशिविर चलते हैं।

और एक बात है—धर्म-अध्यात्म-साधना के नाम से लोप पङ्कु बन बाते हैं—कि इनकी शरण में गये—वे सब करेंगे—हमें कुछ नहीं करना है। शरणागति के नाम से एक ओर प्रमाद बढ़ता

है पंगुता बढ़ती है, दूसरी ओर प्रामाण्यवाद बढ़ता है। —वह नहीं करना है। शरणागति के नाम से दीनता-हीनता-पंगुता-दोषग्लानि के रूप में अहंकार को पोसने की कोई जरूरत नहीं, बल्कि बहुत नुकसान होता है उससे। अध्यात्म कहता है कि प्रत्येक मनुष्य में सम्भावना है मुक्तात्मा बनने की। महात्मा होने, योगी होने की सम्भावना मनुष्यमात्र में कूट-कूट कर भरी है। अन्यथा न कहा जाता— “योगी भव अर्जुन !” वह अकेले अर्जुन से नहीं कहा गया है, वह आपसे और हमसे कहा गया है। इसी जन्म में एक ही भव में वह संक्रमण-उत्क्रमण हो सकता है। अहङ्कार-ग्रन्थि से मुक्त होने का पर्व प्रत्येक के जीवन में आ सकता है।

परावलम्बन के मानस से मुक्ति आवश्यक है। परिवार में वही, समाज में वही, अर्थ-व्यवस्था-राज्यव्यवस्था में वही, अध्यात्म में भी वही अनिवार्य रूप से आवश्यक है। आज तक परावलम्बन का गौरव गाया गया, एक ओर से विशिष्टाधिकारवाद और दूसरी ओर से पङ्गुता-दीनता-परावलम्बनवाद ! इसीलिये इस देश में से धर्म-अध्यात्म का तेज क्षीण हो गया। इसमें से अपने को बाहर निकालना है।

देश और विश्व को इतनी विषम परिस्थिति है। ऐसे माहौल में व्यक्ति के नाते हमारा कर्तव्य है कि विश्व में—देश में—समाज में नवमानवसंजन के लिये व्यक्तियों के चित्त परावलम्बन में से, प्रमादवाद में से, अधिकारवाद में से मुक्त हो जायें। सत्सङ्ग-श्रवण में से घर जाने वाले व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र में स्वावलम्बन का तेज, स्वाधीनता से समृद्ध वृत्ति, निर्भ्रान्त बुद्धि लेकर जायेंगे। भीतर वह तेज होगा तो ये नागरिक समाज को, विश्व को सेवा कर सकेंगे।

इसी हेतु से प्रतिवर्ष यह सत्सङ्ग-पर्व चलता है।

[ श्री ज्ञानेश्वरी-पारायण-निमित्त से एकत्र हुए सत्सङ्गी-जिज्ञासुओं के प्रति कहा हुआ निर्देश ]



श्रीमद्भगवद्गीता भारतीय संस्कृति का सार रूप ग्रन्थ है। जो व्यक्ति वेदाम्यास नहीं कर सकते, उपनिषद नहीं पढ़ सकते उनके लिये यह भगवद्गीता समस्त वेदों का सार बताने वाला सरल ग्रन्थ है। सभी उपनिषदों (ऋषी मार्गों) के अर्थ (बुध) का दोहन करने वाले स्वयं वायुदेव हैं। यह गीतानामक अमृत एक शोभन-सुष्ठु-समीचीन (यथार्थवाहिनी) बुद्धिवाले भक्त के लिये दुहा गया है।

१८ अध्याय गीता में मानवीय जीवन का साङ्गोपाङ्ग चिन्तन एवं विश्लेषण है। मानव जीवन में खानेपाने आदि-व्याचिष्यों का निदान, चिकित्सा, उपाय-योजना है। ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग योगसाधना आदि सभी मार्गों के इच्छुक जिज्ञासु सानकों के लिये उपाय बताये हैं। साधना का एवं मानवीय सम्बन्धों में संवाद उत्पन्न करने का ऐसा कोई मार्ग नहीं जो गीता में बणित न हो।

इसके अनेक भाष्य हैं और होते रहेंगे, जबतक मनुष्यजाति जीवित है। जैसे वेद अन्तर्गत हैं, वेदों के अर्थ अन्तर्गत हैं। अपनी-अपनी बुद्धि, कला, अनुभूति संवेदनशीलता के आधार पर अर्थघटन होता है। सभी अर्थों का प्रकाश एक ही बुद्धि में पड़ा हो ऐसा कोई मनुष्य पैदा नहीं हुआ है।

ऐसे अर्थघटन करने वालों में एक हैं—ये महाराष्ट्र के बाल सन्त श्री ज्ञानेश्वर ! इन्होंने गीता पर भावार्थदीपिका नाम से ग्रन्थ लिखा जो "भगवती ज्ञानेश्वरी" नाम से लोक-प्रख्यात हुआ। गीताजी के छात ली श्लोकों पर नौ हजार.....श्लोकी लिखीं। सारे तीन चरण का यह नया छन्द (श्लोकी) स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज ने बनाया। इन से पहले महाराष्ट्र में गोमातृक में बड़े कवि तुषु अमृतदाय, मुकुन्ददाय, किन्तु उनसे भी आगे मराठीभाषा को समृद्ध बनानेवाला यह श्लोकी-छन्दोबद्ध श्रीज्ञानेश्वरी ग्रन्थ अनुपम मौलिक एवं अनूठा है।

इस ग्रन्थ का पारारण्य प्रतिवर्ष हम क्यों करते रहे इसका कारण है कि भारत में अनेक सदियों से ब्रह्मात्म के नाम पर पलायनवाद का बोलवाला चलता आया है। ब्रह्मसाधना के पलायनवादी मार्गों की महिमा है—“परमात्मा को पाना है तो संसार (बाहर से) छोड़ दो। घरबार छोड़ो, परिवार छोड़ो !”—ऐसे “छोड़ने” की रट लगा जाती है। जिन मानवीय सम्बन्धों के बीच मनुष्य पैदा होता है। उन सम्बन्धों को बन्धन मानना और इन में से कब छूटेंगे ?—इसी की इच्छा रखना, सम्बन्धों की उपेक्षा करना यह यहाँ की ब्रह्मसाधना की एक परम्परा रही है। इसलिये यहाँ का धार्मिक-आध्यात्मिक जीवन समाज की मानवीय जीवन की उपेक्षा करता आया है। “बहु ही सत्य है, अतः तो मिथ्या है” इसलिये देश में, चारों ओर, गरामी हो, भुलमरी हो तो अपने को क्या ? कोई बीमार हो, या निरस्रता के कारण लोप तरह-तरह से बूसे जाते (शोषित होते) हों तो अपने को क्या ?.....ऐसे जीवन की उपेक्षा पर आधारित धर्म वास्तव में अधर्म है। धर्म तो मानव सम्बन्धों में ही उत्पन्न करने की कला एवं शास्त्र है।

पलायनवादी मनोवृत्ति का शिकार हो चुका है यह देश। इसीलिये, यहाँ लाखों मन्दिर-मस्जिद मुकद्दारे, गिरजाघर, बौद्ध विहार, मठ, जैन उपाश्रय, करोड़ों साधु-संघासी आदि हैं—फिर भी यह देश शिकार है भ्रष्टाचार का, भ्रष्टाचार एवं शोषण का, अपराधी मनोवृत्ति का (cowardise corruption criminality—ये तीन महाव्याधि जा रहे हैं यहाँ के जीवन को) धीमक जैसे किसी चीज को भीतर-बाहर से खोखला कर देती है जैसे सत्य-हनन हुआ है इस देश के जीवन का।

इसलिये अपने साधियों (श्रोता मानवों) को ले जाती हूँ ऐसे अध्यात्म के पथ एवं निरूपण की तरफ जो पलायनकारी नहीं हैं, जीवनविमुख नहीं हैं। इस (श्री ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ के) माध्यम से हम देख पाते हैं कि अध्यात्म तो समग्र जीवन के सम्पूर्ण विनशर्त स्वीकार में है, विमुखता में नहीं।

मन में शिकायत, क्रियादर रखते हुए 'आ पड़े को सहना'—यह स्वीकार नहीं, धर्म या अध्यात्म नहीं। दुःख आया तो शिकायत है, सुख आया तो खिपक गये—यह धर्म नहीं है। कोई शोक देने वाली घटना हुई तो धमयान-वैराग्य और कोई हर्ष-उत्तेजना पैदा करनेवाली घटना हुई तो उसके पीछे दीखे—यह धर्म नहीं।

धर्म कहता है कि सुख-दुःख, मान-अपमान, जन्म-मरण—जो भी जीवन के अन्तर्गत है—उस समग्र जीवन का सम्पूर्ण विनशर्त स्वीकार हो। यह करने का साहस जो करे वही धार्मिक बन सकता है। यह 'वीरों की बाट' है कायरों-मीढ़कों की नहीं। "यह वीरों की बाट है माई कायर का नहीं काम रे! सर पर बांध कफन जो निकले विन तोले परिणाम रे!" आज भारत में धार्मिक व्यक्ति का अकाल है। अनेकों कर्मकाण्ड हैं, शुष्कज्ञान है, लेकिन सही धर्म और अध्यात्म नहीं है। इसलिये नजर टिकती है ज्ञानेश्वर महाराज पर। इन्होंने गीता का अर्धघटन जीवन के अमिषुक्त किया है— "यह विद्व नही रे माया। यह तो प्रभु की काया!" यह विद्व मिथ्या नहीं, यहाँ के अणु-रेणु की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यह तो प्रभु की काया है।

कहना ही हो तो इसे फल का छिलका कहो, लेकिन फल पर छिलका न हो तो रसचारण नहीं हो सकता। आत्मा पर पंचमहाभूतों की देह की चादर न हो, यह घट या पिण्ड न हो, तो धारमरस धारण नहीं हो सकता, व्यक्त नहीं हो सकता, व्यवहार में नहीं आ सकता। विद्व याने व्यक्त परमात्मा ही है। ब्रह्म याने अख्यक्त परमात्मा! यह कहने वाले महावीर हैं ज्ञानेश्वर। इन्होंने जीवन का स्वीकार किया है। इन्कार नहीं किया।

जीवन के अस्वीकार में सर्वव्यापिनी प्रभुसत्ता का अपमान है, और जीवन का सम्पूर्ण स्वीकार ही भक्ति है। उस में जहाँ विसंवाद हो वहाँ संवाद पैदा करेगे। वह पुषपाध का विषय है। कर्मलेत्र का विषय है। रस पाने के लिये छिलके को हटायेगे, लेकिन स्वीकार कर के हटायेगे। मिथ्या कहने से अवहेलना होती है कि "अन्याय है, भ्रष्टाचार-अत्याचार हैं, सोषण है, तो हमें क्या? सब मिथ्या ही तो है!"

आने वाले १५ वर्ष (१९८६ से २००० तक) भारत के राष्ट्रीय जीवन में अत्यन्त महत्त्व के साक्षित होने वाले हैं। इस भूमि पर जो अचारतीय, भौतिकता की महत्त्व देनेवाली उपभोग-परायण, सुविचालोलुप संस्कृति आज छापी है, उस का और भारत की सनातन संस्कृति का अब सीधा सामना हो कर रहेगा। अब कोई पाखण्ड नहीं, सीधा मुकाबला होगा। भारतीय संस्कृति आत्मपरायण है, जीवनपरायण है। और अन्य संस्कृतियाँ उपभोगपरायण, देशेन्द्रियपरायण हैं। अपने यहाँ कहा गया— "त्यागेनैकेन अमुततर. तानसु." अब उस श्रद्धा को व्यवहार में व्यक्त करने का अवसर है। धर्म के आधार पर समाजरचना, अर्थरचना, राज्यव्यवस्था करने का अवसर आया है।

इसलिये यह जो ज्वन-अमिषुक्त धर्म समझाने वाला ग्रन्थ है इसे हाथ में ले कर मैं बैठती हूँ। ज्ञानेश्वर महाराज परम योगी थे। उन का जन्म न दीक्षा नाथपन्थ में हुई। आयु के तीसरे वर्ष से द्दशे वर्ष तक अपने पिता के पास वेदोपनिषदों एवं शास्त्रों का अध्ययन किया। ८ से १२ वर्ष तक अपने बड़े भाई एवं गुरुदेव के पास योगाभ्यास किया। उन की सबसे बड़ी बात जो मुझे

माटी है वह यह कि वे जीवन के प्रेमी व्यक्ति हैं। देश-काल परिस्थिति के सम्बन्ध के अनुसार उन के ग्रन्थ में जो कुछ आया हो उसे रहने दें, सब या सब आज लागू नहीं हो सकता, किन्तु जो मूल निरूपण है वह मानवधर्म का, मानव कर्म का, भक्तिमार्ग का निरूपण है।

“चारों पुत्रधारियों की सिद्धि ले कर हार्यों में निकला जो भक्तिपथ पर”

कहते हैं कि धर्म—अर्थ—काम—प्रेम ये चारों पुत्रधार्यं जिसने सिद्ध कर लिये हों वह अभी अपूर्ण है, पूर्ण नहीं हुआ है। मुक्त होने के बाद पञ्चम पुत्रधार्यं है—प्रेम—सम्पूर्ण विषय पर बिनवर्त प्रेम। यही भक्ति है। (Unconditional love is compassion, that only is devotion.)

इसीलिये श्री ज्ञानेश्वरी को ‘पञ्चम-पुत्रधार्यं-प्रबोधिनी’ कहा गया। वैष्णव पाँच पुत्रधार्यं मानते हैं। अद्वैत को रम-रम में रचा-पचा कर, आत्मा की सर्वव्याधिनी—एक-ब्रह्मण्ड समग्र सत्ता के स्पर्श से भोगी-भोगी चेतना से ही “सिन त्यक्तेन भुञ्जीयाः, मा गुणः !”

यह त्यागपरायण संस्कृति है। यहाँ जीवन को यज्ञकर्म समझा गया है। अपने आसो लुटा देने पर अमृत पाने वाली संस्कृति है “त्यागेनैकेन अमृतत्वमानशुः।”

दूसरी हैं उपभोगपरायण संस्कृति। मनुष्य के सामने जब यज्ञ सड़ा होने वाला है। सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्रों का महत्त्व बढ़ने वाला है। स्वयंचालितता, (Automation) कम्प्यूटरों से ही काम कराना (Computerisation) चलेगा।

मिन्न संस्कृतियों का ऐसा सीधा मुकाबला कभी नहीं था।

अब या तो सम्प्रदायवाद जियेया या सनातन धर्म व संस्कृति जियेगी। दोनों के नखरे नहीं चलेंगे। रहेंगे तो हिन्दू—मुसलमान—सिख—ईसाई सब रहेंगे, लेकिन भीतर आपस में जहर रखना ऊपर से सह-अस्तित्व बनाये रखना यह नाटक अब नहीं चलेगा। सहजीवन का अभिनय नहीं चलेगा।

सम्प्रदायवाद भी रहा है ईरान—ईराक—अरब देशों में, बौद्धधर्मप्रधान देशों में, कौटिलिक साम्राज्य के में। यहाँ वेद-उपनिषदादि के द्वारा ऐसी संस्कृति खड़ी की गयी थी जो कहती है कि सम्प्रदायों के धारके मनुष्य की व्यवहार-सुविधा के लिये हैं, इन में चरम सत्य नहीं।

सम्प्रदायवाद का भीमत्स नाव जो १९४७ में देखा था, कुछ-कुछ वंसा ही सम्प्रदायवाद का भीमत्स नर्तन पंचाव में १९८२ से चल रहा है। यह सावधान होने की घड़ी है। संभल जाओ भाई! अभी भौका है। जिन की श्रद्धा है—वेद-पुराण में, कुरानेशरीफ में—Sirmon on the Mount में, The New Testament में—जिन की श्रद्धा है, उन्हें कहती हूँ कि उस भक्ति को जिया जा सकता है। अद्वैत में लिस्टी चेतना के लिये द्वैतमय विषय में मानवी सम्बन्धों में उतर पड़ते हैं यत्न—प्रभु की लीला में समर्पित होने। कभी रोना होता है कभी हँसना होता है। कभी धाव के पास बैठे, कभी शिव के पास बैठे। कभी मुसुंराये तो कभी आसू बहाये। कभी शरीर आधिभ्याधि से अस्त है तो कभी स्वस्थ है। इन सभी आधिदैविक-आधिभौतिक-आध्यात्मिक घटनाओं—परिस्थितियों में से गुजरता चलता है मनुष्य। चित्त में शिकायत नहीं। जो भी सामने आया उसे पूरे तरह जी लिया और अगले ही क्षण निकल चले आगे। जहाँ से गुजरे, धो बीता, अपने साथ उसका कोई भी संस्कार या स्मृतिभार चित्त में रहे बिना भी रहे हैं; बढ़े चलते हैं आगे।

कोई कहे कि मैं यूद्ध तो करूँगा लेकिन मेरे शरीर पर कोई धाव नहीं होना चाहिये, मैं ही माहूँगा दूसरों को। वह कोई योद्धा नहीं होता। जैसे मनुष्य जीवन में आकर द्रव्य के झटके में लगे, ताप न लगे—ऐसा क्षेत्र खोजकर, घुनकर भीना चाहें तो नारानी की बात होगी। जीवन से बचकर जाओ कहे? कष्ट से बचो, अभियता से बचो, अपमान से बचो, प्रतिकूल संयोगों से बचो। बचने की कोशिश में बीयोगे कैसे? “हरि का पथ है शूरों का, नहीं कायर का काम यहाँ!”



ऐसे पञ्चमगुरुवाचं अतिक्रमे के प्रवक्ता हैं श्री ज्ञानेश्वर ! ज्ञानी व योगी तो हैं, लेकिन साथ ही प्रेमी होने के कारण बहुत ही मधुर भाषा एवं ललित शैली है। अतीव गहन-गम्भीर विषय होने पर भी निरूपण में काव्य-साहित्य-लाभिय इतना है कि विषय का भार नहीं लगता। अविश्वस्यिक्ती बलीव प्रभुस्तिव-कोमल है। स्वयं कहा भी है इसका रहस्य कि वाणी में कवित्व होना बड़े सीमाय की बात है, किन्तु केवल कवि होना (तरह-तरह के यमक-धनु 1त-वलेष-उपमा-प्रेक्षा-रूपकादि अलङ्कारों से वाणी को सजाना) पर्याप्त नहीं। कवित्व में श्रेष्ठता छाता है रसिकत्व। रसिक कौन ? जो कहीं भी आसक्त हुए बिना उपभोगों में से गुजर सकता है। आसक्ति और विरक्ति दोनों की बीच चित्त को नहीं लगती, और प्राप्त विषय-सम्बन्ध में से गुजरता चला वा रहा है। यह नहीं कहेंगा कि—“भोजन घणलेपनम्, वस्त्रं शवाच्छादनम्”

ऐसी भावना क्यों करें भाई ! शरीर जब तक टाय नहीं, शिव विराजमान हैं यहाँ, तो उसे सजायेंगे लावण्यकता के अनुरूप; सुन्दर-शुचि नैवेद्य िलायेंगे कि 'शिव'-स्वरूप व्यक्त होता रहे। ...आसक्ति हो तब तो विरक्ति की आवश्यकता है। शासकत हुए बिना, केवल अनिवायं उपभोग लिखा और उस विषय में से गुजर चले-बाहे वाणी का विषय हो, श्रवण का हो, रूप का हो या 'काम' का विषय हो ! रसिकता की कसौटी है ! जीवन के सभी प्रसङ्गों में से हँसते-खेलते मनुष्य गुजरता चला जाये—कहाँ भी आसक्ति या विरक्ति पैदा न होने पाये। ६ठे अव्याय की व्याख्या करता हुए महाराज ने कहा है, आसक्ति-विरक्ति से बचते हुए जीने का रास्ता बताया है कि जहाँ चित्तनी आवश्यकता हो उतना ही बोले।

“जहाँ-जहाँ भी-जो योग्य हो, वहाँ समझे व करे वही” जहाँ जितना आवश्यक हो उतना ही विषयों से सम्बन्ध रखो, उतना ही इन्द्रियों से ग्रहण करो।

अस्तु; यह तो जरा सा परिचयारमक नमूना बसाया श्रीज्ञानेश्वरी का। हमें शैशव से ही प्रेम है ज्ञानेश्वर महाराज से। हमारे मातामह(नाना) प्रतिदिन एक घण्टा श्रीज्ञानेश्वरी-अभ्ययन के बिना जलग्रहण नहीं करते थे। देह छोड़ने से पहले आ कर अपना ज्ञानेश्वरी-ग्रन्थ मुझे सौंप कर चले गये कि “इसे अपने साथ रखो, पढ़ा करो।” ऐसा संस्कार भी मिला।...

अपने प्रसङ्ग पर लौट आये। रसिकत्व भी पूर्ण श्रेष्ठ होता है जब उस में परम तत्त्व का स्पर्श हो। सभी इन्द्रियां वाणी और मन भी जहाँ नहीं पहुँच सकते हैं, जो व्यक्त तथा अव्यक्त दोनों परबों के पीछे छिपा है। व्यक्त में पदार्थ हैं, अव्यक्त में गुण शक्तियां व ऊर्जा हैं। इन सभी से परे जो परतत्त्व है उसका स्पर्श जिसकी व्यक्तिचेतना को हो गया है वह कवि भाग्यशाली है—ऐसा महाराज कहते हैं।

इन की विशेषता है गुरुनमित। आयु के आठवें वर्ष से बड़े भाई की ही छत्रछाया में रहे; योग्यास-शास्त्रास्यास किया; जब १२ वर्ष के हुए तब गुरुजी निवृत्तिनाथ (तब आयु १५ वर्ष) ने कहा कि 'ज्ञानेश्वर ! तुम्हारा अध्ययन पूरा हुआ, अब श्रीमद् भगवद्गीता पर व्याख्याश्रय लिको !' (तब आज का जमाना नहीं था कि ३०-४० वर्ष तक विद्यालयों में पढ़ ही रहे हैं। आज तो पढ़ाई कभी खत्म होती नहीं, और उस पढ़ाई में से न ज्ञान निपजता है न संस्कार मिलते हैं। चरित्र का गठन भी नहीं होता।)

श्रीज्ञानेश्वर ९ वर्ष के थे तभी (बालकों के यज्ञोपवीत के प्रथम पर) समाज के अग्रणी बाह्युर्णो-पश्चितों ने इन के माता-पिता को देहान्त-प्रायश्चित्त बताया था। तब से बड़े भाई ने ही ज्ञानेश्वर, सोपान एवं मुक्ताबाई को संभाला; वे ही माता-पिता एवं गुरुदेव भी हुए। अतः अपार प्रेम है

जन के प्रति । भगवान् के प्रति जो भी प्रेम व्यक्त करना है वह सब ज्ञानेश्वर ने गुरु का उल्लेख करते हुए उनके प्रति व्यक्त किया है । शृंगार तक वाणी पहुँची नहीं पर उसके भी उत्कर्ष रूप मधुर प्रणय की अभिव्यक्ति ज्ञानेश्वर महाराज ने सहज-प्रासादिक शैली से की है । बारम्भ में ही प्रतिज्ञा है इन की—

“शान्तरस द्वारा शृङ्गार को हरा दूँगा ।” “साहित्यिक कहते हैं कि रसों का सम्राट् शृंगार है, पर मैं सिद्ध कर दिलाऊँगा कि नवरसों का सम्राट् शान्तरस है ।” क्योंकि साहित्य वह है जिससे मानव का हित हो । मनुष्य का हित है आत्मा को पहुँचाने में, आत्मलक्ष्मी-आत्मपरायण बनने में । जो विषयोत्पेक्षक वृत्ति उपजाता है वह साहित्य नहीं—‘अहित्य’ है ।

श्रीज्ञानेश्वरी में प्रथमपूर्वक (बाजी लगाकर) ऐसी वाणी प्रकट की है जो निश्चित ही शान्तरस द्वारा शृङ्गार को जीत जाय । और भी स्पष्ट कहा है—

“ये अजर नहीं चिद्वरत्नकलिका हैं, मेरे गुरुदेव ने जो चित्तान्तरित मुझ में संक्रान्त कर दी है उसके उन्मेष हैं वे अजर !” इसलिये यह भी वचन घोषित किया है कि “जो एकबार भी पूरा ध्यान से कर ज्ञानेश्वरीग्रन्थ पढ़ेगा वह मुक्त होगा ही ।”

लेकिन ऐसे एकाग्रचित्त से पढ़ना सुनना हो नहीं पाता है । पाँच मिनट भी चित्त एकलकी रहता नहीं, इसीलिये ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी की सत्यता अनुभव करनेवाले पाठक या श्रोता विचलते नहीं । आत्मा ही रहलते हैं कि—

“कालो ह्ययं निरवधिः विपुला च पृथ्वी ! उत्पत्यते हि किल कोऽपि समानधर्मा,”

तब तक अपने को तो बारम्बार यह ह्वय पढ़ते रहना है, जितना बन पड़े उतना उसके आशय का अनुष्ठान करना है ।

: २ :

“यह मेरी सुधी प्रतिज्ञा सुनिये कि एक बार इस श्रवण में अवधान दीजिये तब श्रेष्ठतम सुख के पाव आप रूनेगे ही ।” अवधान क्या ? उद्यमता, समानता, सावधानता कहें । अंग्रेजी में (awareness) कहते हैं, पुकाराम ने कहा है— ‘सर्वेन्द्रियों को बनाकर श्रवण (कर्ण)

फिर सुनिये सन्तों के वचन !”

श्रवण की कला सीखकर सन्तों के पास जाना चाहिये; सभी इन्द्रियों को शक्ति एक में समेटकर सभी में मन को मिगोकर तब श्रवण करना चाहिये । बही महाराज कहे हैं कि “यै जो कह रहा हूँ उसे एक बार पूरा अवधान देकर सुनिये, तो परमसुख निश्चित ही पायेंगे ।”

[बारह वर्ष की आयु में ज्ञानेश्वर गीता की व्याख्या करने बैठे हैं, तब पूरे महाराष्ट्र का पश्चित्त समाज बड़ी सतर्कता से (एवं परीक्षा

भाव से) सुनने बैठा है कि देखें यह संप्रदायी का का वेदा (जिस का यज्ञोपवीत भी नहीं हुआ है) गीता की क्या व्याख्या करता है ?]

फिर संमेल गये कि पण्डितसमाज से बात हो रही है, अतः बोले—“मैं कोई धर्मगुरु से मेरी ‘श्रीद्धि’ प्रगल्भता, मेरी वाणी की शक्ति जतलाने के लिये नहीं कह रहा हूँ । आप सब सर्वज्ञ यहाँ बैठे हैं, मैं तो बालक हूँ, जरा दुलार से कह रहा हूँ कि आप सर्वज्ञजन मेरी बात पोंड़ी सुनिये तो सही ! आपका ही पढ़ाया हुआ मैं बोल रहा हूँ ।”

[इस कथन रस को देखिये ! इन्हीं सब शास्त्र पण्डितों ने इनके बाता-पिता को देहान्त-प्रायश्चित्त देकर भी बालकों का यज्ञोपवीत करना अस्वीकार किया था । इन्हें कभी ज्ञान या नगर के भीतर नहीं रहने दिया । ग्राम के बाहर

झोंपड़ी बनाकर माता-पिता एवं चारों बालकों को रहना पड़ा था, २२ वर्ष तक (अर्थात् पूरी आयु) गाँव के बाहर घासकूस की झोंपड़ी बना कर रहना, मित्रा माँगकर भोजन करना पड़ा था । संन्यासी के बेटे होने के कारण इन्हें कौन गाँव में रहने दे ? कौन मन्त्रियों में जाने दे ? चरों में कौन जाने दे ? — फिर भी पण्डितों से कह रहे हैं कि “यह मेरा धमण्ड नहीं, आपका ही पढ़ाया हुआ बोल रहा हूँ ।”

आप बड़े श्रीमान् हैं । श्री याने धन सम्पत्तिवाले नहीं । भौतिक वैभव को हमारे पूर्वजों ने कभी “श्री” नहीं माना । अतः ‘श्रीमान् हूँ’ याने बुद्धि का ऐश्वर्य, चरित्र का ऐश्वर्य आप के पास है ।] इसलिये मेरा मनोरथ आपके पास रहने की इच्छा हो जाई है । यह राजविद्या राजगुरुयोग का अर्थ वाणी में खोलना चाहता हूँ—यह गीता का मध्यस्थ शिक्षक जैसा अभ्याय है । इसलिये आप दुलार नहीं बँगे तो कौन देगा ? [अध्यात्म-पूर्वक अथवा करना ही लाड़ लड़ाना है ।]

आप की दृष्टि में जो वास्तव्य है उसी से मेरा चित्त प्रसन्न हो गया, मैं बड़ी शान्ति पाता हूँ । मैं बड़ा श्रान्तकामन्त हूँ (बचपन से ही माता-पिता के बिना थीया हूँ) लेकिन आपकी दृष्टि में जो स्नेह है, उसकी छाया में (यह गीतापंथ कहने के निमित्त से) मुझे रहने को मिलेगा । इसी आनन्द में मैं लोटपोट हो जाऊँगा कि आप सुनने के लिये आये हैं, आपके नेत्रों में इसकी उत्कण्ठा है । इसकी प्रसन्नता मेरे चित्त में खिल उठी है ।

आप सुख के मण्डार हैं, इसलिये मैं अपनी इच्छा से जो भी गीता का अर्थ सुँगेगा वह ज्यों का त्यों जी भरकर आप के पास कहूँगा । मैं तो पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, किसी श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास गया नहीं हूँ । लेकिन आपकी वत्सलता है इसलिये गीतापंथ कहने का साहस कर रहा हूँ ।

यहाँ यदि मैं लाड़ लड़ाने के लिये सुले दिल से बात करने में संकोच कई तो बहुत कुछ

बो दूँगा । इसलिये मैं दिलखोलकर बोलनेवाला हूँ, कुछ गलत कह जाऊँ तो आप समझ कर दीजियेगा । माँ-पिता से लाड़ लड़ाने के समय तो वे चले गये, अब आप ही हैं माँ-बाप । बच्चा जब बोलना सीखता है तो तोतली बोली में कैसा-कैसा कुछ भी कहता है, माँ जानती है कि बच्चा बोल नहीं पा रहा है, बलत-सबलत कुछ भी मूँह से निकाल देता है । फिर भी माँ प्यार से कहती है—‘फिर से बोल तो !’ तोतली बोली माँ के प्यार में मानो तरंग उठाती है । चलना सीखने लगता है तो लबलबाता हुआ टेढ़े-तिरछे रंग भरता है—तब भी माँ आनन्द से भरकर कहती है ‘देखो-देखो मुन्ना चलने लगा !’

वैसे आप सब सज्जनों-गुरुजनों का मुझ पर बँसा ही प्यार है, इसी से गीतापंथ कहने का दुलार मेरा साहस कर रहा हूँ ।

आपके समाज में बोलने की मेरी योग्यता नहीं । आप गुरुजन हैं मैं बालक हूँ इतनी ही मेरी योग्यता है और कुछ नहीं । आपके सामने “सारस्वत” (शास्त्रों का अर्थ व साहित्य) कहना तो ऐसा है मानो पिता की दाखी में परोसे हुए अन्न में से ही घास उठाकर बालक पिता के मुख में दे । [ज्ञानेश्वर के चित्त की यह सहज विनम्रता मुझे श्रुष कर देती है ।...जिस समाज ने उनको इतना मर्यान्तक कष्ट दिया, चपेला ही नहीं, अतिशय अपमान तक किया उस पर कोई प्रतिभाव नहीं, कोई व्यंग्य नहीं, कटाख नहीं, किसी की निन्दा नहीं, किसी पन्थ-सम्प्रदाय का लच्छन नहीं, फरियाद नहीं । बस अपने को जो कहना है वह जैसे बाबुदेव की वंधी गाती हो, या यमुना की बारा कल-कल बहती हो वैसे पुरे पन्थ में ज्ञानेश्वर की प्रसादमयी वाणी कहे आ रही है । शान्त और मधुर रसों के कल्लोल हैं यहाँ ।]

जिस की दाखी में अमृत परोसा हुआ हो, उसे कुछ और मिथ्याज्ञ-पक्कास क्या खिलाया जाय ? चन्द्रमा को गरपी लगती होगी मानकर कोई पंखा चलाने बैठे तो कैसा हास्यास्पद होगा ?

बैसे स्वयम्भू-अनाहत नाद—(प्रणव) को संगीत सुनाने के लिये कौन जाय ? पुष्प के परिमल को कोई नर्याकत से हज लगाने चले वंसा ही हैं आप सर्वज्ञों को गीतार्थ सुनाना, यह मैं जानता हूँ ।

[यह इनकी ललित काव्यवाणी है ।]

“मैं सूर्य की भारती उतारने चला हूँ, सागर को अर्घ्य चढ़ाने चला हूँ । और आप से कह रहा हूँ कि अबधान दीजिये ! कौसा साहस है यह ?”

नाचपन्धियों के उपास्य हूँ आदिनाथ पाङ्कर । तो, श्रोताओं से कह रहे हैं कि स्वामी ! आप तो शिवराज्य की मूर्त होकर विराजमान हैं । आपके सामने गीता का अर्थ सुनाना—यह मेरी अर्चना है आपके चरणों में । मैं बहुत दुर्बल, अकिञ्चन हूँ; पर बड़ी शक्ति से वाणी द्वारा आपकी पूजा कर रहा हूँ । आप कृपा कर के इसे स्वीकार कीजिये ।

प्रेम की रीति ही ऐसी है कि प्रेमी ‘पत्रं-पुष्पांफलं तोयम्’ जो भी दे उससे प्रेमास्पद को खुशी ही होती है, उसी तरह मैं जो कुछ भी बोलूंगा उससे आप प्रसन्न होने ही चाले हैं । और चाहे जिस तरह गुलार दिखाने हुए मैं जो कुछ कह रहा हूँ उससे आप बुरा नहीं मानेंगे यह मैं जानता हूँ । क्योंकि मैं के पास शिशु जब स्तनपान करने जाता है तो छिर से धक्का भी मारता है मैं को, वैसे ही मैं आप के पास के पास प्यार पाने आया हूँ तो ये शब्दों के धक्के लगा रहा हूँ । आप तो मैं जैसे कृपाणमय हैं, उस कृपा को ही प्रकट कराने के लिये मैं यह सब बोल रहा हूँ, आप का अनादर नहीं कर रहा हूँ ।

प्रभु के सामने शब्दब्रह्म (वेद) गया; और मुझ खोला तो ‘निति निति’ कहना पड़ा, नकारात्मक शब्दों में बोलना पड़ा । ‘बहु उपास्य नहीं, अश्लो से विश्वे-कानों से सुना जाय—मन से चिन्तन किया जाय—बहु ब्रह्म नहीं’ इत्यादि । वर्णन करने

के लिये कोई भावास्पक विभायक शब्द नहीं मिले । वेद लजा गये । ज्ञानी होने का अभिमान तभी तक है, जब तक प्रभु के सामने जा कर सके नहीं होते ।

प्रभु के सामने जाने का आशय है—शब्दों के अर्थ रूप में । प्रभु विश्व में गुप्त हैं, सुप्त नहीं (सोये नहीं छिपे हुए हैं ।) शब्द से बाहर अर्थ नहीं, वैसे विभु विश्व से बाहर कहीं और नहीं बैठे हैं, वे हैं विश्व में ही । विश्वाकार बने हैं विश्वनाथ, जगदाकार बने हैं जगदाधार ।

शब्दब्रह्म शरणा गया जब अर्थ कहने चला । तब चुपचाप सो गया । [यो ध्यक्तियों के—मिनों के प्रति भी सच्चा प्रेम हो तो शब्द बन जाते हैं, उपस्थित ही भाषा बन जाती है ।] तो जहाँ वेद भी लजा कर चुप हो गये कि अब हमारा काम नहीं, अनुभूति का ही काम है—ऐसा जो गीता का अर्थ है यह वेदपरक है । वेद जहाँ पहुँचे थे वहाँ यह गीता आप को पहुँचा देगी । परम अर्थ की उपलब्धि—सन्निधि उपस्थित सब करा देगी । उस गीतार्थ को मैं मराठी में कह रहा हूँ ।

[ज्ञानेश्वर महाराज के समय तक किसी ने गीता का अर्थ प्राकृत भाषा में किया नहीं था । संस्कृत में ही सब शास्त्रों की व्याख्या की जाती थी । ज्ञानेश्वर गीतार्थ कहने बैठे तो पहले ही अध्याय में कहा—

“संस्कृत देवों की भाषा है तो क्या प्राकृत चोरों ने बनाई है ? वह भी तो प्रभु ने ही वैया की है ?” इन्होंने पहली बार लोकभाषा का स्थान वैदिक धर्मसाहित्य में प्रतिष्ठित किया ।]

आप की दृष्टि में से जब एकाग्रता की वृष्टि होगी तब मेरी मति में सकलार्थ—सिद्धि होगी । गीता के अर्थ इतने अटिल हैं, मैं बालक बैठे हूँ आप के सामने, आप की दृष्टि में से जो वस्तुलता व एकाग्रता भरेगी वही मेरे चित्त में सोई हुई अर्थशक्ति को जगायेगी, तब आप के और मेरे बीच सब अर्थ प्रकट हो जायेंगे ।

श्रोता के बिना वक्ता, वक्ता नहीं हो सकता। अतः आप की उपस्थिति में यहाँ (गीतार्थ कहने में) प्रभेय (धारों महावाक्मों का आशय) सिद्ध (प्रकट) होगा। वाणी में उसे सहज एवं सहज करने की शक्ति आप कृपा करके मुझे दीजिये।

[ओबी १-२५]

[पहला नमन श्रीज्ञानेश्वर ने सन्तजनों, श्रोताओं को किया। २५ ओबीओं में श्रोताओं को प्रसन्न किया "अपनी कथा. की २५ से मुझ बालक के चित्त में गीतार्थ कहने की शक्ति आगूत कर दीजिये"—ऐसा कह कर विनय किया भारत की सनातन परम्परा का संकेत है यह। वक्ता और श्रोता के बीच प्रेय-सम्बन्ध पैदा करने के बाद कथा प्रारम्भ की जाती है। "वक्ता श्रोता तु भगवान् वासुदेव इति मे मतिः" स्वयं भगवान् ही इन दोनों रूपों में मानवदेह धारण कर के आये हैं अपना गुणगान सुनने के लिये। बधवा वक्ता पर कृपा कर के उसका धीनानामृत-प्राशन करने के लिये श्रोताओं के रूप में आ कर कृपा बरसा रहे हैं।

अब श्रीगुरु को नमन कर रहे हैं। कहते हैं गीता का अर्थ मेरे बोलने की प्रतीक्षा में राह देखाता लड़ा है। जिस क्षण श्रीगुरु ने वादेया दिया कि "तुम गीता का भाष्य लिखो"—उस दिन से गीता का एक-एक अक्षर प्रतीक्षा कर रहा है कि कब अर्थ बन कर मेरी जिह्वा पर आ कर बैठे। [श्री गुरु का वादेश ही कृपा या अनुग्रह है। शीवदर्शन से निष्पन्न नाथ-सम्प्रदाय

में ऐसा कहा गया है। श्रीगुरु वादेश देने ही नहीं यदि उसे सिद्ध करने की शक्ति शिष्य में न हो। उस की शक्ति की सम्भावनाओं को पहचान कर ही गुरु वादेश देते हैं।]

केवल वाच्यार्थ-लक्ष्यायं आवि ही नहीं, उनके अनुगामी एवं सहचारी सभी भाव तक प्रतीक्षा में, अव्यक्त में मचल रहे हैं कि कब शिह्वा से प्रकट होने का अवसर मिले जैसे दूध के साथ बारात जाती है।

इस प्रकार अर्थ और भाव नेपथ्य में खड़े हैं प्रकट होने के लिये, इस वस्तुत्व और श्रोतृत्व के संगम की पावन घड़ी आ गई है।

[सीधे कह दें तो ज्ञानेश्वर कैसे? ये उन्मा सम्राट हैं, सभी अलङ्कारों का भाण्डार है इन की वाणी व शंकी में। कविप्रसाद है, अब मराठी भाषा में ऐसा संगीत-लासल्यमेव काव्य दूसरा नहीं है। फिर इतने गहन-गार्भ-विषय को ऐसे प्रासादिक मधुर काव्य-रूप में विषय करना ज्ञानेश्वर महाराज ही कर सकते हैं।]

आप के और मेरे हृदय के तार अब इस सारस्वत-बीणा में सजाने हैं, आप के व मेरे पञ्चप्राण ऐसे मिल जायें कि दोनों का मिलकर एक ही स्वर निकले। बिम्ब व प्रतिबिम्ब की प्रति वक्ता और श्रोता के चित्त में अब अर्थ के बिम्ब-प्रतिबिम्ब एक हो रहें। किन्तु यदि आप अन्यमनस्क, बुविषत हो जायेंगे, मन कहीं भटक जायेगा तो अपने बीच का सेतु टूट जायेगा, तब शब्द निकलेंगे भी पर अर्थ नहीं प्रकट होगा।

[जिन लोगों ने श्री.वे.कृष्णमूर्ति को सुना होगा उन्हें स्मरण होगा "Listening is total action." अर्थ की महिमा ज्ञानेश्वर महाराज के बाद वैंसी किरी ने गायी है तो श्री. कृष्णमूर्ति भी ने। प्रत्येक प्रवचन में वे कहते थे कि श्रवण यदि समग्र रूपों कर्म मन पाता है तो फिर जीवनपरिवर्तन के लिये, आत्मसाक्षात्कार, बोध-जागृति के लिये कोई स्वतन्त्र पुष्ट्यार्ष करने की आवश्यकता नहीं।] वे कहते—**"Bite into it! Eat it! Drink it! Sleep with it!** (इस का कोर-प्राप्त करो, इसे खा लो, पी जाओ! इसी को साथ लिये सो जाओ।).....]

श्रोता और वक्ता के सामरस्य (communion) में से शब्दों के अर्थ प्रकट होते हैं, भाव के पुष्प खिलते हैं, शीरम-सन्मिल हवा में छा जाता है। अतः 'सर्वनिर्घों को श्रवण बनाकर कृपया अब सम्पूर्ण अवधान दीजिये।

[क्रमशः]

[जाठ सौ वर्ष पहले कही हुई ज्ञानेश्वरवाणी और आज बीसवीं सदी में श्री कृष्णमूर्तिजी द्वारा कही गयी बात में अनुसन्धान देख लीजिये। बड़े क्रान्तिकारी वे ज्ञानेश्वर। इन्होंने अपने समय की सब परम्पराओं से पृथक् स्वतन्त्र रीति अपनायी अष्टास्य-अभिष्यक्त को। किसी भी ग्रन्थ (शास्त्र हो या काव्य) के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण में हमेशा प्रथम स्तुति किन्हीं देव-देवी की की जाती है, अधिकतर पहले श्रीगणेश स्तुति फिर शारदाबन्दन कर के अपने विशिष्ट हृष्टदेव की स्तुति रहती है। किन्तु ज्ञानेश्वरी में प्रथम प्रणाम किया गया 'आत्मा' को।

“ॐ नमो बी आद्य ! वेदप्रतिपाद्य ! जय-जय स्वसंवेद्य ! आत्मरूप ! !”

(अपने निजरूप को नमन करता हूँ जो आद्य है, प्रथम है, किसी कारण का कार्य नहीं, स्वयम्भू है, स्वसंवेद्य है स्वयंप्रकाश है, वही वेदों का प्रतिपाद्य परमतत्त्व है। वही यहाँ आत्मा रूप में विराजमान है।) ऐसे क्रान्तिकारी का आत्मगान है श्रीज्ञानेश्वरी। वे कह रहे हैं कि—]

श्रोता दुषिष्ठ होंगे, चित्त कहीं दूर अन्यत्र चला जायेगा तो यहाँ जो रस अभिव्यक्त होने का रहा है वह अन्तर्धान हो जायेगा। मैं अकेला कुछ नहीं कर पाऊँगा। यदि आप का सहयोग रहेगा तो गीता के शब्दों का अर्थ प्रकट होगा।

नवम अध्याय के प्रथम चरण में ही कहा था कि आप यदि समझ अवधान श्रवण में केन्द्रित करेंगे तो आनन्दकन्द परमात्मा का बीज हुए बिना नहीं रहेगा।

(आगे कहते हैं)—चन्द्रकान्तमणि में से रस झरता है जब वह चन्द्रकिरणों का स्पर्श पाता है। वैसे (मैं) मले चन्द्रकान्त हूँ कि मुझ ने आदेश दिया, किन्तु मेरे शब्दों में से अर्थ प्रकट होगा तभी कि जब आप अवधान देंगे; तभी वस्तुत्व प्रकट होगा। श्रोता के बिना वक्ता पङ्गु है।

क्या कमी भावलों ने यह कहा है कि हमको भीडा मान लो ! भोजन करनेवाले को सुधा व जिह्वा के रस का संयोग पाकर ही चावल सुस्वादु प्रतीत होते हैं। भावलों में अपने आप में कहाँ रस है? मैं तो चावल हूँ, मुझे सिखा कर भात बनाया मेरे गुद्वेदने; उसका स्वाद चखेंगे भोजन करने वाले। यदि गुद्वेदने

सिखाया-पकाया न होता तो चावल सूखा-सिक्का ही रहता, उसके भीतर रस को रस रूप में प्रकट अभिव्यक्त किया है की गुद्वेदने; और प्रसाद का आस्वाद खेंगे आप भोक्ता-श्रोतामण। गुद्वेदने की पकाने की कला है, आप में आस्वाद लेने की कला है; उसी के संयोग से रस का आविर्भाव होगा। मैं जो कह गया कि 'चन्द्रकान्त' हूँ—वह मेरा अविनय हुआ, कृपया क्षमा कीजियेगा।

[देखा नक्करा ! ...गम्भीर ग्रन्थ लेकर बैठे हैं। किन्तु ऐसी मधुरता से रचिकता से उस विषय को निर्देवित करेंगे कि बनायास ही नहीं, बड़े रञ्जक रूप से वह श्रोताओं के हृदय में उतर जाय। ऐसे हृदयरञ्जन द्वारा लोक-शिक्षण करने की महान् परम्परा भारत में रही है। सतत परिश्रमा करते हुए सन्तजन गाँव-पाँव अलख जयाते हुए मधुर हरिकथा के माध्यम से वेदशास्त्रों का हार्थ जन-जन के हृदय तक पहुँचाते रहते थे—सागर के खारे जल को भीडा बनाकर घर-घर पहुँचाने वाले मेघों की भाँति। यह परोक्ष-सूचनात्मक शिक्षण (Indirect suggestive education) जितना सन्तो-

फकीरों—कथाकीर्तनकार्यों ने दिया है और संस्कृति व चारित्र्य का निर्माण किया है उतना विद्यालय—महाविद्यालय—विश्वविद्यालयों के बस की बात नहीं। भूलना नहीं, बारह वर्ष की नवकिशोरवस्था में ये गीता—ध्यास्या करने बंटे हैं; वह बालमुलम मोठे नखरे, लाड़—डुलार भरी ढोली प्रकट हुए बिना नहीं रहती।]

(और आगे बढ़े) अरे मैंने अपने आप को चावल कहा, यह भी मूल दुर्घ; चावल में फिर भी स्वयं में रचनागत ही गुण—स्वाद होता है; मुझ में तो इतना भी कर्तृत्व नहीं। मैं तो कठ-पुतली हूँ, और सूत्रधार हूँ मेरे गुरुदेव। वे नचाते हैं मुझे; मेरे नाचने में कला तो उन की ही है। और दशकों (आप जैसे श्रोताओं) के बिना वह कला प्रगटे कैसे ?

[इतना सुन कर] गुरुदेव श्री निवृत्तिनाथ बोले कि 'अहो, ज्ञानदेव ! यह क्या हो गया ? बोल गये कि यहाँ किसलिये बैठे हो ? गीता की व्याख्या कहनी है न ! वह प्रयोजन भूल कर सुम तो सन्तों की प्रशंसा में एवं शुक के स्तुति-गान में लगे गये। अस्तु ! जितना कहा गया और जो कहने का अभी तेरे चित्त में उमड़ रहा है वह सब हमें पहुँच गया भाई ! अब तू बोल कि श्रीनारायण ने पार्ष्ण में क्या कहा ?

[कैसा नखरा है विषय प्रारम्भ करने का !]

(श्लो० १ शोषी २६-३२)

इससे सन्तुष्ट हो कर निवृत्ति का दास (ज्ञानेश्वर) कहने लगा— सुनिये जी ! बाबुदेव, ऐसे बोले—

[श्री ज्ञानेश्वर महाराज के पञ्चम—पुरुषार्थ मधुराहृत—रूपा भक्ति की अपनी अनूठी शैली

[जो शब्द सुना, अर्थ समझ में आया, उसका जीवन में प्रयोग न करे तो सुने हुए की उपेक्षा होती है। प्रयोग करने आजमाने से पहले ही कह दिया कि "इससे क्या होगा ? कुछ नहीं होगा।" यह अनास्था, अवज्ञा है।

याद आती है आचार्य राममूर्तिजी से सुनी हुई एक बात। गौधीजी ने जब नमक सत्याग्रह, दांडीकूच शुरू किया तब मांसीलाल नेहरू ने उन्हें पत्र लिखा कि "नमक बनाने से क्या आजादी मिलने वाली है ? ब्रिटिश हुकूमत हिलने वाली है ? कैंसी—कैंसी बातें आप करते हैं बापू ! नमक बनाने से क्या होगा ?" बड़े झुंझला के पत्र लिखा था। बापू तो बापू थे। उन्होंने उत्तर में तार भेजा—"कर

है। यहाँ भगवान् और भक्त परस्पर प्रेमी व प्रियतम हैं। यहाँ मोति वाली प्रीति नहीं। बद्धभुत अर्हत का अविच्छादन है, उसकी संरचना बोध में भी बढ़ कर प्रेम से हुई है। ... यहाँ अर्जुन और बासुदेव का सम्बन्ध भक्त व भगवान् का है। उस अर्जुन से बासुदेव कह रहे हैं—]

अर्जुन ! मेरी जो राजविद्या राजगुह्ययोग है वह अब तुझ से कहने जा रहा हूँ। [आठवें अध्याय में श्री जगद्वर ब्रह्म की बात, प्रणव का रहस्य व महिमा कह चुके हैं जो अत्यन्त महत्व-पूर्ण है। अब आगे और भी गुह्य राजविद्या की बात यहाँ समराज्जुष में मुझ से क्यों कहने जा रहे हैं यह प्रश्न अर्जुन के मन में है, यह भी प्रश्न कर बासुदेव बोले—]

तू केवल मेरा भाई ही नहीं, प्राणों जैसा प्रिय है मुझे। तू सबकुछ आस्था है। थड़ा से पहले होता है आस्था का भाव (concern, care)। जीवन के बारे में तू उवासीन नहीं है। [यहाँ अथर्व की सर्वाङ्गसम्पूर्णता श्रोता समझे नहीं तो एक बार अथर्व से परम पुरुषार्थसिद्धि की प्रतिज्ञा कैसे पूरी होगी ? अतः अनेक प्रकार से समझाते हैं।] तुझे जीवन की इच्छा है, आकांक्षा है, समझने की प्रतीक्षा है। तू समझना चाहता है इसीलिये समझाने में मुझे आनन्द आता है। जिसे जीने में, समझने में रस ही नहीं, जैसे जैसे 'चला लेने' की वृत्ति है, उसे क्या कहा जाय ! तुझे सही-सही जीवन जीने में रस है। इसलिये मुझे बोलने में आनन्द आता है, मुझे निश्चित मालूम है कि तू मेरे कहे हुए शब्द व अर्थ की अवज्ञा नहीं करेगा, अपमान, अनादर उपेक्षा नहीं करेगा।

के देखो !" बस। तार मिला तो पण्डितजी (मोतीलालजी) ने तय किया कि बलो में नमक बनाऊंगा। बड़े जोर-शोर से तैयारियाँ शुरू हुईं। जहाँ वे नमक बनाने वाले थे वहाँ हजारों लोग इकट्ठे हो गये और सँकड़ों पुलिस उपस्थित थी। मोतीलालजी की कार आयी, वे उतरे तो देखा यह नबारा। उन्हें तो कल्पना नहीं थी इसकी। वे नमक बनाने की जगह पहुँचे न पहुँचे कि पकड़ने वाले पुलिस अधिकारी वॉन्ट लेकर सामने खड़े हो गये। अभी तो नमक बनाया नहीं था। पहले ही पकड़ कर ले गये। बेल में पहले नहीं ले गये। जहाँ ले गये वहाँ कमिश्नर साहब के धोड़े रसे जाते थे। उस कमरे में उन्हें रखा। वहाँ पहुँचते ही उन्होंने बापू को तार भेजा "करने से पहले ही देख लिया।"

कहना यही है कि आस्था के बिना, बेपरवाही से किया हुआ कर्म हमारी समग्रता का कर्म नहीं हो पाता। इसलिये आस्थासहित, श्रवण और जीवन समग्र कर्म (total action) नहीं होता।...

श्रीकृष्ण कहते हैं कि तू आस्था-सहित बन्धन करता है और सुने हुए की अवज्ञा तू नहीं करेगा यह मुझे विश्वास है इसलिये तुझे कहने में मेरा प्रेम उमड़ता है। [श्री ज्ञानेश्वर कह रहे हैं कि वासुदेव ने पार्श्व को ऐसा कहा था, इससे श्रोताओं को यह सूचना हुई कि आप भी इसी ढंग से सुनो।]

(वासुदेव कहते हैं) इसलिये अपना निगूढ़ अर्थ तुम्हारे सामने खोल रहे हैं (जिसे कहने में वेद भी असमर्थता से लज्जाकर चुपचाप सो गये हैं)। वस्तुतः यह रहस्य खोलना नहीं चाहिये, खोल कहते हैं—'गोपनीयं प्रयत्नतः' उपनिषद् भी कहते हैं "श्रुतं मे गोपाय"। लेकिन तेरे प्रति प्यार मुझे आज्ञा से बाहर ले जा रहा है और मेरे जीवन का, मेरी सत्ता का जो निगूढ़तप रहस्य है वह मैं तेरे सामने खोलने जा रहा हूँ। मेरे हृदय में जो पड़ा है वह तेरे हृदय में संक्रान्त हो जाय यह हमारी मासना है। आखिर प्रेम क्या है? जीवन संक्रान्त करना ही तो प्रेम है। वेह के स्तर पर जीवन संक्रान्त करो, मन के स्तर पर, बुद्धि के स्तर पर, और इससे भी ऊपर उठ कर आत्मीय स्तर पर जीवन संक्रान्त हो जाय—यही तो प्रेमामिच्छा का भाव है। परस्पर संक्रान्त होने में प्रेमी कृतार्थ होते हैं। [प्रतिज्ञा है ज्ञानेश्वर महाराज की—कि शांतिरस द्वारा शृङ्गार को जीत लूंगा। उसी का निदर्शन है यहाँ।]

पाय के घान में दूध है। लेकिन घान पर जो चिचड़े (एक प्रकार की बड़ी मक्खियाँ

जो खून चूसती हैं) बैठे हैं, उन्हें दूध नहीं मिलता, वे रस ही चूसते हैं। इस प्रकार मेरे चारों ओर हजारों लोग हैं। पर वे मेरा सत्व नहीं पाते। पाय के घान बड़का पहुँच जाय तो वह दूध पीने लगता है। वह पीना जानता है, पाय प्रसन्न होकर उसे पिलाती है, बड़से को देखते ही पिन्हा जाती है। वैसेही पार्श्व तू जानता है प्रकृता और सुमना, सुने हुए का जतन कर के आचरण में लाने में तुझे रस है। तेरा वह प्रेम ही मुझे विश्वास बनाता है अपने रहस्य खोलकर कहने के लिये। बड़े लाड़ से कह रहे हैं—अर्जुन तू बड़ा सुमन है। सुन्दर, ऋतु, सरल मनवाला है।

[‘अर्जुन’ का अर्थ ही है ऋतु मति वाला। (जो जटिल-कुटिल नहीं।) ऋतुता बड़ा योग है। ...एक बार विनोबाजी ने एक पत्र में दादा को लिखा था कि आप बड़े ऋतुतायोगी व्यक्ति हैं। उसी में कोष्ठक में लिखा था जो ऋतु है वही अर्जुन है।]

तेरी मति शुद्ध है। जो कुतर्क करती है वह असुद्ध मति है, प्रयोग किये बिना केवल विवाद व चर्चा करने के लिये, केवल जीम चलाने के लिये, १०-५ इंच पढ़ लिये हैं उस जानकारो के घमण्ड में बोलते हैं उनकी मति असुद्ध है। कल्पना के तरंग लड़ाना तर्क नहीं है।—शुद्धमति व्यक्ति ऐसा नहीं करता। वह अनुभवियों के वचन आस्थासहित सुनेगा, उस में से जो अपनी समझ में आये वह यथाशक्ति करके



देखेगा, जहाँ अपनी समझ कम पड़ती मालूम हो  
वहाँ विनयपूर्वक नम्रता से प्रश्न पूछेगा समझने  
के लिये "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रक्षेन सेवया"  
प्रणिपात—पूर्वक परिप्रश्न अर्थात् नम्रता पूर्वक  
बहण—भारण—सेवन करना ।

हे अर्जुन तू अनिन्यक है; किसी की निन्दा  
नहीं करता । अनन्य गति है, असय विषयास  
है तेरा मुझ पर; तू सत्य कभी छोड़ता नहीं ।  
ऐसे व्यक्ति को यदि हृदय का गोप्य रहस्य न  
कहा जाय तो किसे कहें ? तेरे सिवा ऐसे युगों  
वाला दूसरा कोई भेरे देखने में नहीं आया है ।

मेरी इच्छा है कि भोगश्री के सिद्धासन  
पर तू विराजे । भेरे पास कुछ हो वह मैं तुझे  
न दूँ तो मैत्री कैसे ? प्रेम कैसे ? तू जब तक  
मुक्त नहीं बनता तब तक तेरी मेरी प्रीति व्यक्त  
नहीं हो पाती । तू दीन-हीन बनकर बैठे है;  
'बुद्ध नहीं कहेंगे' कहता है । मैं तुझे गीता सुना  
रहा हूँ कि तू मुक्त हो सके । यही प्रयोजन है  
गीता का कि तेरा चित्त सर्वदा-सर्वथा मुक्त  
रहे । तू सर्वथा मुक्तचित्त से जीवन जी सके ।  
[चित्त यदि अच्छे या बुरे संस्कारों से मुक्त नहीं,  
नीति-अनीति के दृग्द से मुक्त नहीं, पाप-पुण्य  
के भय और राग-द्वेषादि ज्वर से द्रस्त चित्त  
है तो जीवन कैसे जिया जायेगा ? किसी के  
हाथ पाँव रहसी से बाँध बँ और उसे नदी में  
छोड़कर कहें कि तैरो भीमर ! तो वह कैसे  
हरेगा ? गीता की फलश्रुति है मुक्ति-भक्ति-प्रीति  
को जीवन में जीना ।]

(ओषी ३३-४१)

अब कहते हैं कि ज्ञान और विज्ञान में  
तुझे सम्झाऊँगा । संसार में जो पदार्थ जैसे हैं  
वैसे यथार्थ रूप में भारीबी से समझने में मैं  
तेरी सहायता कहूँगा । आज तेरा ज्ञान विपरीत  
है । 'ऊर्ध्वमूल जघःशास्त्र' अधवत्थ (कल तक भी  
न रहनेवाला, ऊपर जहाँ नीचे शाखाओं वाला)  
बूझ है यह संसार । [जो जीवन आज है वही  
कल नहीं होगा । हर नया प्रभात नया जीवन

लाता है । कल की पुनरावृत्ति नहीं है आज ।  
जीवन में पुनरावर्तन कभी नहीं होता (Life  
knows no repetition) हम पुनरावृत्ति की  
भाषा रखते हैं, उसके द्वारा सुरक्षा की कल्पना  
करते हैं, इस लिये हम भूतकाल में उलझ जाते हैं ।

अतीत के अनुसार भावी की व्यवस्था  
करना चाहते हैं, किन्तु यह व्यवस्था हो नहीं  
सकती क्योंकि जीवन तो रोज नया है । नया  
आविष्कार, नई समस्यायें, नये सन्धमें, नये  
साथी । सूर्योदय-चन्द्रोदय-पक्षियों के गीत, नदियों-  
झरनों का बहना, आकाश में तारागण्डल का  
शुक्लार—ये क्या कमी बासी या पुराने पड़ते  
हैं ? मनुष्य की बनायी चीजें पुरानी पड़ती हैं  
प्रभुनिर्मित सृष्टि कभी बासी नहीं होती ।]

यहाँ जो जैसा है उसे ठीक बैसा समझने  
की व्यवस्था समझा देता हूँ कि जीवन में क्या  
शाश्वत है क्या परिवर्तनशील है, क्या स्थिर है,  
क्या नश्वर है । परिवर्तनशील को रोक रखने  
की कोशिश नहीं करना, और जो सनातन है—  
अपरिवर्तनशील है उसे बदलने की इच्छा नहीं  
रखना । यह रास है बदलाव व ठहराव का !  
बदलाव को समस्या नहीं मानना । बचपन बीता  
जवानी आ गई, तो क्या इसे समस्या मानेंगे ?  
जवानी में से प्रौढ़ बने, बूढ़ हुए तो क्या वह  
संकट आ गया ? परिवर्तनों को सङ्कट मानकर  
समस्या बना लेता है चित्त, और उससे बचना  
चाहता है । यह गीता—एवं श्री ज्ञानेश्वरी आप  
को जीवन में छलाँग लगाने के लिये कहती है ।  
बचने की भाषा यहाँ नहीं है ।

"जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पँठ ।  
मैं बारी बूहन बरी, रही किनारे बँठ ॥"  
किनारे बँठनेवालों का काम नहीं है जीना ।  
काम आरम्भ करने से पहले ही असफलता व  
अपयश के दुःख की कल्पना कर के कितने ही  
लोग जीवन जीते नहीं । जीना ही स्वर्गित  
करते चले जाते हैं । अरे माई, जन्म के बिन्दु  
से लेकर मृत्युसण तक स्थगित करना (Post-  
ponement) ही चलता रहेगा तो जियोगे कब ?

यामुदेव कहते हैं कि बृह्णिणी जैसे अनाद्य को रूप में झालती है, छिलकों को फटक कर अलग कर देती है, वैसे में जीवन का विदलेषण कर के तेरे सामने रखूँगा, आत्मा व अनात्मा को अलग कर दिखाऊँगा। [रूप में से तो छिलके को उड़ा देते हैं, नीचे झाल देते हैं; जीवन में से अनात्मा को अलग कर के कहाँ झालोगे ? अनात्मा को अनात्मा रूप में बहूचानना, चित्त का उस में से हट जाना ही त्याग है। जीवन में बड़े काम की कीज है यह ! अनात्मा या 'विषय' में से चित्त का हट जाना ही त्याग है; पदार्थों को उठाकर फेंक देना या व्यक्तियों को—सम्बन्धों को छोड़कर भाग जाना या सब से अलग (विमुक्त) होकर कहीं कभरे में बन्द होकर बैठना—यह त्याग नहीं है।]

ज्ञान और विज्ञान को पृथक् स्पष्ट रूप में तेरे सामने घाबों में रखूँगा। हुंल जैसे कीर व नीर को अपनी घोंच द्वारा अलग कर लेता है वैसे मैं आत्मा—अनात्मा को अलग कर के दिखा दूँगा।

संसार में असार एवं सार की ठीक-ठीक पहचान तुझे करा दूँगा। फिर तू अनात्मा को आत्मा समझ कर उसके पीछे दौड़ेगा नहीं। [असार—अनात्मा के पीछे चित्त का न दौड़ना, न अटकना, न अटकना—यही तो अध्यात्म है।] जीवन की ऐसी व्यवस्था बैठा दूँगा कि तू संसार में रहते हुए ही मोक्षकी के सिंहासन पर प्रतिष्ठित हो सकेगा। जोसे जो हो इस जीवन में तू संसार के सब दृश्यों (मान-अपमान, संयोग-वियोग, हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु आदि) से सर्वथा अलिप्त रहते हुए प्रत्येक सम्बन्ध एवं परिस्थिति को पुरी तरह जोते हुए ध्यान व ठाठ से गुजर जायेगा; कहीं अटकेगा नहीं, अटकेगा नहीं। [यामुदेव स्वयं जीवन जो कर दिखा गये हैं। उनके जैसा जीवनरमिक परबसंन्यासी हमारे देखने से अन्य कोई नहीं आया। वे सर्वत्र हैं और कहीं भी नहीं हैं। उनके पास भोग—त्याग आसक्ति—वैराग्य जैसी कोई रेसायें

(जीवन को विभाजित करनेवाली) नहीं। मर्यादा नहीं और असन्तुलन भी नहीं। अद्भुत जीवन जो गये वे ! वही अर्जुन को भी समझा रहे हैं।] (एलो० २ ओवी ४२-४६)

इस अध्याय में मैं तुझे राजयोग राजविद्या समझाने वाला हूँ। जो सभी गुणविद्याओं का सम्प्राद है, सभी प्रकार के योगों का परम आचार्य है, वह बताने वाला हूँ। इस योग में न कुछ छोड़ना है न पकड़ना है; जो जैसा है वैसा उसे समझते हुए व्यवहार करना ही इस रीति से कि उस में से आसक्ति या विरक्ति कुछ भी पैदा न हो।

[अब आप के ध्यान में आयेगा कि कहीं मुझे ज्ञानेश्वर से इतना प्रेम है। वे त्याग-वैराग्य की भाषा नहीं बोलते। सम्बन्धों का निषेध नहीं करते।]

यह सभी धर्मों का निजधाम है। [धारणाधर्म इत्याहुः 'बोधनालक्षणोऽर्थो धर्मः' जिससे धारण किया जाता है या तो धारण करता है, वह धर्म है; जो हितकर पुण्यकर्म में प्रेरित करता है वह धर्म है। पृथ्वी का धर्म है गुदक, स्थिरता धारण करना, पोषण देना, लप्ता। जल का धर्म है शीतलता, डबता, बहना, धोष घोना। पवन का धर्म है बहना, प्राण-सञ्चार करना...आदि। वैसे ही मनुष्य के अनेक धर्म हैं—परिवार, समाज मानवजाति, देश, विद्व, साम्यं सृष्टि के प्रति। मनुष्य का जीवन तो असंख्य धर्मों की संकुल धारा है। सभी धर्म जिस एक निजधर्म के आवार पर टिके हैं, वह राजयोग में तुझे बसा रहा हूँ। जिस सहज संयम, सन्तुलन, समता-अपी योगसार के सहारे सभी धर्म जीते हैं। [योगसूत्र में जिसे चित्तवृत्ति का 'निरोध' कहा उसका अर्ध-घटन ज्ञानेश्वर ने किया सहजसंयम-संतुलन-समता। जहाँ कोई 'अति' नहीं अतिरेक नहीं, अध्याप्ति-अतिव्याप्ति नहीं। (spontaneous equanimity, spontaneous-equibalance.) इन्द्रिय-अन-वाणी-बुद्धि के प्रत्येक हिलचाल व व्यवहार में सहज-अनायास संतुलन

रहे। इसीलिये उसे सभी योगों का सञ्जाट्ट कहा है। मनुष्यों की मनुष्यता तब कृतार्थ होगी जब वैसा जीवन जी सकेना। मनुष्यजीवन केवल खाने-बेचने-सोने के लिये नहीं। वे भी धर्म है इस तनु में, किन्तु पशुता में से संक्रान्त हैं— 'आहारानिद्राभयमैशुर्न च समानमेतत् पशुभिर्नराणाम्' किन्तु साध ही—धर्मो हि तेषामधिको विशेषो !' स्वसंबेधता लिये हुए जो मनुष्यवेह में चेतना आई, उसका धर्म है आगे के आचाम में पहुँचना।

गीता वेदपरक है, वेद मुक्ति-परक व श्रीतिपरक हैं। मुक्ति व प्रीति पर्यायवाची हैं। वह व्यक्तियुक्त नहीं है जिसकी वाणी में से नजर एवं व्यवहार में से सबके प्रति समान प्रेम नहीं झरता है। जिस में 'मैं-तू-वह' का भाव नहीं है। ऐसा प्रेम झरता है जीवन से, वही शुक्तावस्था है। वह है 'धर्म का निज धाम' जो 'उत्तम से भी उत्तम' है, जिस के उचित होने पर चम्पान्तर (आवागमन) समाप्त हो जाता है। संत तुकाराम ने गाया है—

'जन्म लेना होता है वासना के सङ्ग से, वही स्वयं हरिक्रम हुई ! (तो फिर जन्म कँसा ?) बिना वासनाशून्य हो जायें, हृदयघंघि खुल जाय तो फिर आवागमन नहीं होता। यही राजयोग का प्रयोजन है।

गुरुमुख से यह राजयोग सुनते-सुनते, तेरे भीतर जो स्वयम्भू ज्ञान है—आराम का स्वभावरूप ज्ञान है—उसका उदय होगा। तेरे जीवन में ऐषा ज्ञानोदय का प्रभात उदित हो यही मैं चाहता हूँ। जो ज्ञान स्वयम्भू एवं सदा वर्तमान रहते हुए भी तहा कर रहे हुए वज्र की लम्बाई चौड़ाई को तरह छिपा रहता है वही गुरुमुख की वाणी का सर्वाङ्गश्रवण करते-करते (वज्र की सब तहें खुल जाने के समान) पूरा का पूरा प्रकट हो जाता है।

ज्ञानेव महाराज के समय विद्वत्समाज में एवं धर्म-अव्याप्त्य क्षेत्र में सर्वत्र आद्य शाङ्करा-

चार्य के अद्वैतसिद्धान्त का, उसमें भी मायावाद का बोलबाला था—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' 'माया'- 'मिथ्या' शब्द का वास्तविक धर्म न समझने के कारण व्यक्त संसार की, जीवन की, देह की, भौतिक जीवनव्यवहार की भयानक उपेक्षा सारे देश में हो रही थी। मिथ्या-माया शब्दों का धर्म है परिस्थिति-सापेक्ष सत्यता। वेद्य-काल-व्यक्ति-परिस्थिति के अनुसार व्यक्त होनेवाला सापेक्ष सत्य है संसार में, और सर्वथा निरपेक्ष चरम-परम सत्ता है केवल ब्रह्म। जिस में विकृति नहीं, कारण-कार्य का भेद नहीं, अवकाश भी नहीं। वह अव्यक्त है। व्यक्त स्फुरित होता है वेद्य-काल के किसी एक बिन्दु पर। वहाँ प्रारम्भ है। जन्म है; जिसका जन्म हुआ वह धीरे-धीरे बढ़ता है, फिर शीघ्र होने लगता है और अन्त में पुनः अपूर्त हो जाता है—व्यव्यक्त में लीट जाता है।

नाम रूप आकार रंग-रस-स्पर्श-गन्ध आदि में सबधत्त कर जाता है वह व्यक्त जीवन है। इस सापेक्षता को ही मिथ्यात्व कहा गया था, लेकिन उसका गलत अर्थ प्रचारित हुआ कि यह सब झूठ है, इसका कोई महत्त्व नहीं। इस ध्वजा के कारण दैनिक जीवन व्यवहार (आहार, निद्रा, निवास, विहार आदि) की प्रयत्न उपेक्षा हुई। उस से भारतीय जन-मानस बढ़ा पशु बन गया। प्रत्यक्ष प्राप्त जीवन के प्रति प्रेम नहीं रहा। जो सामने है उसका इन्कार करना, उस से भूह मोड़ना और जो नहीं विद्यता उसके पीछे दौड़ना—इसी को धर्म मान लिया गया।

ऐसे युग में आये श्रीज्ञानेश्वर, विब्रोही क्रान्तिकारी व्यक्ति के रूप में 'मधुराद्वैत' नाम का नया दर्शन लेकर। उन्होंने ने उद्घोष किया कि सम्पूर्ण जीवन का विनयासं समग्र स्वीकार ही धर्म है, अस्वीकार अधर्म है। जीवन के एक बंध का स्वीकार, दूसरे बंध का अस्वीकार यानी आंशिक स्वीकार,—यह नास्तिकता है। यह विषय माया नहीं, मिथ्या नहीं, यह तो प्रभु की काया है। वटवृक्ष के बीज के भीतर जैसे सम्पूर्ण वृक्ष

समाया होता है, वह दिखाई नहीं देता। लेकिन बीज के भीतर उसी बीज का विस्तार है जिसे हम विद्याल वृक्ष के रूप में देखते हैं। बीज एक वा, नग्ना सा वा; उसी में से यह अनन्त बीजा विस्तार प्रकट हुआ। यह अनेकता कहीं बाहर से लाकर जुटायी नहीं।

परब्रह्म परमात्मा एक है यही परम सत्य है (The oneness of truth) उसी में से बहिरि ब्रह्माण्डों का विस्तार हुआ है। अनेकता का बीज है एकता। एक बीज में से निकले वृक्ष में फिर अनेकों फल लगते हैं, उनमें पुनः अनेकों बीज होते हैं जिन के भीतर और अनन्त विस्तार छिपा रहता है। इस तरह अनेकता की भी प्रवाहनियता चलती रहती है।

और भी एक संकेत है इसमें, कि बीज की एकता में से अनेकता प्रकट होने के लिये बीज की अक्षय्यता आवश्यक है, वह जरा भी क्षिप्त हो या आग का स्पर्श पाया हुआ हो तो उसका बीजघन समाप्त हो जाता है।

“पूर्ण है वह पूर्ण है यह” परमतत्त्व पूर्ण है और उसमें से उत्पन्न हुआ यह विश्व भी पूर्ण है। [लोग अव्यक्त-अनन्त तत्त्व को तो पूर्ण एवं शुद्ध मानते हैं और उसके व्यक्त रूप को अपूर्ण-अशुद्ध। इसे ‘शबल ब्रह्म’ कहते हैं। व्यक्त में जाने से ब्रह्म की शुद्धता में ह्रास हुआ-ऐसा मानते हैं। किन्तु जैसे मिट्टी-पानी छानकर बक्के पर चढ़ाने से घड़ा बना तो घड़े को जहाँ भी स्पर्श करो मिट्टी ही तो छुई जायेगी ! तो परमात्मा से बना जगत् कैसे अशुद्ध हो गया और परमात्मा शुद्ध रह गये ? घड़े में जैसे मिट्टी के सिवा कुछ नहीं, वैसे जगत् में भी चिन्मयी सत्ता ही नाना रूपों में विराजमान है-ऐसा ‘आत्मोत्सास-चिच्चिालस’-रूप जगत् है यह शैव-दखंभ में, नाथ-सम्प्रदाय में माना गया, वह सिद्धान्त ज्ञानेश्वर महाराज ने यहाँ (गीता-व्याख्या में) प्रतिपादित किया है।

इसी नाते महाराज कहते हैं कि यदि ब्रह्म सत्य है तो जगत् भी उतना ही सत्य है उसकी शुद्धता सच्चिदानन्द-रूपता की लेशमान भी हानि नहीं हुई है। इतना ही अन्तर है कि जगत् रूप से जो ब्रह्म की अभिव्यक्ति है वह नित्य परिवर्तनीय है। चढ़ी-चढ़ी, क्षण-क्षण बदलती है, पर बदलाव के क्षणों में भी सत्य की ही अभिव्यक्ति यह है चिरन्तन शाश्वत ही (through momentaries there is the emanation of the eternity)। ‘क्षण’ है अमर्य शाश्वत जीवन का आविष्कार। अनित्य है इसलिये उसे दुःखमय क्यों कहा जाय ? काया में यौवन आया, भले १०-५ वर्ष ही टिकता हो, पर उतने समय तक भी जो लुमायी, जो सौन्दर्य तनु में व्यक्त हुआ, उसका क्या कोई महत्त्व नहीं ५०-६० साल में ! चार दिन भी रहे भले, पर उसका अपना ऐश्वर्य है।

दूध जमाने पर दही बना; उसे मयने पर छाछ और मक्खन अलग हुए; मक्खन तुपाने पर घी बना। ऐसे मूल में दूध से ही बने हुए इन सब पदार्थों में दूध की एकता क्यों न देखी जाय ? ऐसे ही इस संसार में-पञ्चमहाभूतों के बने वैविध्य में सब को प्राणवान् गतिमान् बनाने वाले, एक ही धुरी पर सब परस्पर विरोधी दिखते पदार्थों को चारण करने व चलानेवाले एक ही परमात्मा हैं।

[मायावाद के गलत अर्थ को छोड़कर प्रभु-सत्ता के उन्मेषरूप जीवन का समग्र स्वीकार करें, यहाँ के एक-एक क्षण को पावन बनायें, आनन्द-मय रीति से उत्कृष्ट कर्म करते हुए जितायें। जहाँ विसंवाह हो वहाँ संवाह पैदा करें, जहाँ श्रुतियाँ हों उन्हें पूर्ण करें। जहाँ दोष हैं उनका निराकरण करें।—दोष-दुःख-कष्ट-रोष-दुःख-मरी-अज्ञान-अन्धविश्वास अत्याचार आदि से पीड़ित मनुष्यों की ‘उनका प्रारम्भ’ कह कर उपेक्षा न करें।—यह दासित्व है मनुष्य का। समस्त जीवन ो मंगलमय बनाने का पुष्पावर्ष एवं नवमानव-सर्वजन आनन्द का युगधर्म है।

देख की ओर अन्धकारभरी परिस्थिति में यह सब कह रही हैं; किन्तु रात्रि में भी जानेवाले प्रयास की बात तो की ही जा सकती है। सूर्योदय अवश्यम्भासी है।

आज भारत जैसा अधर्मों से भरी दुनिया में नहीं रहा है। जहाँ बुरी तरह से जीवन मूल्यों की तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र की, कण-कण की ओर उपेक्षा-अवहेलना हो रही है। जीवन की उपेक्षा ही महापाप है। जीवन की एकता से दृष्टि फेर लेना और अनेकता में से किसी एक बिन्दु को पकड़ बैठना—यह अपमान है जीवन का।

आज को सभी समस्याओं का सुलझाव केवल विद्युत् अन्धकार में है। भटक कर बिना भूल बुके सम्प्रदायों के गड़बड़ाया-प्रवाह से बाहर निकल कर हमें पुनः अपनी वास्तविक अमूल्यनिधि (विरासत) विद्युत् अन्धकार की भूमिका में लौट जाना होगा, उसे ही जीवन का आध्यात्म एवं धुरी बनाना होगा, वही एकमात्र तरणोपाय है।]

ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—दूष जमाकर वही बनाया; अब दूष को सत्य कहें वही को मिथ्या कहें तो वह नादानी होपी। ऐसे ही बह्य को सत्य कहें-संसार को मिथ्या कहें तो नादानी ही है। अवश्य ही जगत् नाम से कही जानेवाली अनेकता-विचित्रता-विचित्रता-गतिशीलता, निरन्तर परिवर्तनशीलता इत्यादि सब परमवत्स्य के आधार पर खड़ी है। जल के आधार पर तरङ्ग खेलेते हैं; कमी तरङ्गों को मुद्धी में ले सकते हैं क्या? कि जैसे ये जल पर दौड़ते हैं वैसे धरती पर भी दौड़ा कर देखेंगे। तरङ्ग को हाथ में लेने जायें तो हाथ में पानी ही आता है, वैसे ज्ञानेश्वर कहते हैं कि संसार को अपनी दक्षेत्रियों से लेने गया तो मेरे हाथ में परमात्मा ही आया। यहाँ वासुदेव कह रहे हैं कि जगत् में जो नानात्व विस्तार है वह मेरी सत्ता के ही आधार पर है। भित्ति (दीवार) पर चित्र बना है। उस दीवार को गिरा दो तो चित्र रहेगा? उसी दीवार पर अनेकों चित्र बनाये-मिटायें जा सकते हैं; पर किसी आधार के बिना चित्राकृतियाँ रह नहीं सकतीं।

तरङ्ग लक्षणशीली हैं पर मिथ्या नहीं। और लण है धाववती या सनातनता के दुधार या रश्मियाँ! क्षणिक होने में इनकी दिव्यता-प्रभ्यता-उपयोगिता कम नहीं हो जाती।

[इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराज ने अद्वैत को मधुर बना दिया है। यहाँ निषेध या सखन को अवकाश ही नहीं। छोड़ने-पकड़ने की बात नहीं। वे कहते हैं कि परमात्मा के सिवा यहाँ कुछ है ही नहीं, उसे छोड़कर आओगे कहाँ? कहीं भाग नहीं सकते। जहाँ भी जाओ वहाँ परमात्मा पहले से मौजूद है। ("तद् धावतोऽ-न्यानस्येति तिष्ठत्") इनके सम्पूर्ण वाक्य (यह भावात्मीयिका, अमृतानुभव, चांगदेवपासण्डो, संक्यों अभङ्ग आदि) में कहीं भी छोड़ने-पकड़ने की भाषा नहीं है।]

बीज का विस्तार जैसे दूध है जैसे मेरा विस्तार यह विषय है। दूध बनने पर बीज अलग नहीं बचा रहता। स्वर्ण की डली खलकार बन गयी, फिर वह डली नहीं रही, केवल स्वर्ण रहा; रूप बदल गया। ऐसे प्रभुसत्ता के ही नित्य नवीन आकार रूप इस जगत् को मिथ्या-माया कैसे कहेंगे? इसे अपवित्र या अन्धरूप कैसे कहेंगे?

[उदियों से इस 'माया' के 'मिथ्या' (मूल) अर्थ का प्रचार होते रहने से भारतीय चित्त को ऐसा इतना पंगु बना दिया गया है कि लोच जीवन से बचने के लिये साधु-सन्तों को, 'गुरुओं' को सोचते हैं, पर इतना समझ रखें कि जो जीवन जीने से बचाये (जीवन से पलायन सिखाये) वह सन्त नहीं, गुरु नहीं।

विनोबाजी ने सूत्र दिया—“ब्रह्म सत्यं, जगत् स्फूर्तिः, जीवनं सत्यबोधनम्” नन्हे से बीज में से दूध कैसे बना? उसमें कलियाँ-फूल-फल-सुगन्ध-रस आदि कहाँ से आ गये? एकता में से अनेकता का विस्तार तरह-तरह से हम देखते हैं फिर भी एक परमात्मा में से अजाप-अजाग्रत अनेकता का विस्तार कैसे हुआ, यह समझ नहीं पाते। संसार की और मानवीय सम्बन्धों की एविचित्रता का गान करने के लिये हम वहाँ बैठे हैं।

सम्बन्धों में प्रियता—अप्रियता पैदा कर के बन्धव—निर्माण हम करते हैं, अपने आप को जकड़ लेते हैं। संसार बन्धन नहीं, वह मुक्तिवादा बन सकता है यदि हम केवल एक सूत्र पकड़ लें कि—जीवन एक एकरस अलम्ब समग्र सत्ता है—एक ही परमात्मा का व्यक्त विस्तार है यहाँ (Life is an indivisible homogenous whole. Diversity is the extension of unity)।

द्विन्द्व समग्रता को छू नहीं पाते, एक-एक बिन्दु को छूते हैं इसलिए हमें अनेकता ही दिखाई देती है। उसमें क्रम की कल्पना करते हैं, कार्यकारण—सम्बन्ध जोड़ते हैं।] (ब्लो० २-३ओवी-४६-६५)

“अव्यक्त रूप में मेरा स्वरूप जमा हुआ है, व्यक्त रूप में मैं पिघला हूँ वही यह वैलोक्य है।” हुपारे सामने जो यह विषय है यह परमात्मा का अनुग्रह है, कृपा से द्रवित रूप है। परमात्मा की विगलित कृपा है यह निखिल सृष्टि।—कि “मुझ ब्रह्मत्त्व को देख नहीं पाते; पकड़ नहीं पाते आनन्द नहीं ले पाते।—तो लो मैं सर्वेन्द्रियब्राह्म होकर, जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले पदार्थ बन कर सामने हूँ और सूर्य-चन्द्र के समान सब के लिये समान रूप से उपलब्ध हूँ।”

[कहाँ तो परमात्मा को मन्दिरों में कैद कर के अनुभूति को जीवनविमुख बनाने वाली—संसार को अक्षुषि बन्धन कहने वाली परम्परा, और कहीं सम्पूर्ण विषय को परमात्मा की विगलित कृपा के मूर्त रूप में देखने वाली यह क्रान्ति-कारी ब्रह्मारम्भ दृष्टि ! कि विषय परमात्मा का प्रसाद है।

बीज में विस्तार कुछ नहीं, और सम्पूर्ण वृक्ष उस बीज का ही विस्तार है, जैसे स्पन्दारिका परम सूक्ष्म (अव्यक्त) परमसत्ता का ही विस्तार है सम्पूर्ण जगत्। गोमुख से निकलती अंगुली जितनी पत्थरी धारा का विस्तार क्रमशः बढ़ता हुआ गङ्गासागर का आकार लेता है।]

पानी के ऊपर फेन पैदा होता है बलित के कारण; उस फेन (झाग) में से फिर पानी नहीं पैदा होता, और पानी पर से झाग

हटा दो तो एकाग्रता में उसका अस्तित्व ही नहीं रहेगा। ऐसे ही मुझ से उत्पन्न यह नामरूपात्मक संसार है, पर मुझसे पृथक् इसका कोई अस्तित्व नहीं, सत्ता नहीं। [Fragment (अंश) को Totality (अंती समग्रता) से अलग कर के उस कण के विश्लेषण द्वारा समग्र का अन्वाख नहीं लगाया जा सकता। जीवन के किसी अंश को जीवन की समग्रता से अलग कर के देखा—समझा नहीं जा सकता।

यहाँ प्रतिक्षण में सामने आये जीवन की शाश्वती की पूजा का संकेत है।

“स्वकर्मणा तमम्यर्च्यं.....”

‘यह गीता भ्रमों को तोड़ने वाला शब्द है और जीवन धीना सिखाने वाला शब्द भी है।] ‘

जगत् रूप में गतिशील जितने भी सृष्ट पदार्थ एवं चेतन अभिव्यक्तियाँ हैं उन सबकी गति का आधार मैं ही हूँ। जगत् की स्थिति भी मेरे कारण है। मैं यानि जीवन की एकता। [गांधीजी ने उस एकता को पकड़ लिया था, इसीलिये कहा “Truth is my God” “God is Truth” ऐसा नहीं कहा, जीवन की एकता परमात्मा है, उनकी आराधना के लिये अहिंसा चाहिये। सब एक है तो हाथकड़ो किस से ? किस से ईर्ष्या ? किसका शोषण करोगे ? जीवन की एकता का चरम सत्य के रूप में स्वीकार किये बिना अहिंसक समाज बन नहीं सकता। अज्ञान बिना वाले व्यक्तित्व विषय में धारित

कैसे लायेंगे ? एक-दूसरे से डरने वाले परस्पर ईर्ष्या-द्वेष-स्पर्धा करने वाले भ्रातृसमाज कैसे बनायेंगे ? धर्म के नाम पर परस्पर लड़ने वाले डेर सारे सम्प्रदायों को समाप्त कर के ही इतनी की राख में से सम्प्रदायातीत मानव-धर्म एवं नये मानव-समाज का निर्माण हो सकेगा । आज जीवन के प्रत्येक क्षण में फैला है पाषण्डवाव एवं प्रमादवाव ! तो समाजवाव-साम्यवाव काये कैसे ?

जीव से वृक्ष, स्वप्न से अलङ्कार, जल पर तरङ्ग और हाथ—एसे उपमाबहुल वर्णन में जीवन की एकता कितनी मधुर लगती है; पर अपने जीवन में हाक कर देखें तो ! अण-अण में फंसा बोर अपमान करते है हृष हस एकता का । यों धर्म-धर्म-उपासना के नाम पर कितने 'बध-बैठक' (अतिश्रम) करते फिरते हैं, स्वयं जीवन की समझता से मूढ़ मोड़कर । किन्तु माई ! जीवन की एकता को एकरस समझ परम सत्ता को, चरम सत्य को समझना और प्रतिपक्ष के व्यवहार में उसे जीना ही अध्यात्म है । जीवन जीने के प्रत्येक कर्म में उस एकता एवं सत्य की पहचान को ज्ञाना, उसके सहज परिणाम रूप प्रेम ही जीवन का शील बनना आत्म-साधना है ।]

(अन्य उपमा लेते हैं—) तू स्वप्न देखता है, वहाँ कितने सारे अर्थिक, वस्तु, क्रियायें विसाई बेठी हैं; कितनी अनेकता विसती है ? वह मिथ्या तो नहीं है न ! फिर नीच सुलने पर वह सब कुछ कहाँ गया ? स्वप्न की अनेकता का जागृति की एकता से क्या सम्बन्ध है देखें तो ! जागृति में आप एक विद्यते है लेकिन—किसी के प्रति स्नेहमय आप, किसी से द्वेष करने वाले आप, किसी की आपसुखी करनेवाले आप, किसी का बोधन करनेवाले आप, कहीं कके सदाचारी-दानी-बार्मिक आप, और कहीं फंसा भी भ्रष्टाचार अत्याचार बनाचार करके अपना स्वार्थ साधने वाले आप ! किसी से डरनेवाले और किसी को डराने-बमकानेवाले आप । दिन भर में, पल-पल

में कितने ही पीतरे बदलनेवाले आप ! किसी के पुत्र, किसी के भाई, किसी के पति, किसी के पिता, किसी के अधीनस्थ कार्यवालय तो किसी के अधिकारी आप !—एसे कार्यलेख सेभी कितनी ही भूमिकार्ये एक साथ आप निभाते हैं, आप के 'एक' होते हुए भी यह जो अनेकता आप के चित्त ने पैदा की है, यही और मूर्त होकर स्वप्न में दिखाई देती है ।

एक अपने आप में जैसे इतनी विविधतायें एवं स्वप्नसृष्टि का सब कुछ समाया हुआ है, जैसे मुझ एक में यह समस्त विश्वरूपी अनेकता समाई हुई है । (श्लो० ४, बोधी-६६-६८)

ये सब भूत (सचराचर सृष्टि) मुझ में प्रतिबिम्बित हैं, मैं उन में नहीं । अर्थात् सत्ता आत्मतत्त्व की है, उससे निरपेक्ष पृथक् सत्ताजगत् की नहीं । इस आत्म-स्वरूप में तुम्हारी दृष्टि प्रवेश करे । यदि कल्पना छोड़कर पहचान लो कि मेरा स्वरूप प्रकृति से अतीत है तो यह कहना भी व्यर्थ होगा कि सब भूत मुझ में हैं । श्मोकें मैं तो सर्वमय हूँ । सब कुछ मैं ही हूँ तो 'ये मुझ में हैं'—ऐसा कैसे कहा जायेगा ? (शोबी-६९-७१)

होता यह है कि सृष्टि का सङ्कल्प होना ही मानो सन्ध्या बनता है, जिस से बुद्धि पर क्षणभर बन्धरा छा जाता है । इसी से अक्षण्ड अद्वैततत्त्व का यथाथं स्वरूप घुँघला पड़कर दिखाई नहीं देता, और उसी की सत्ता पर नानात्मक सृष्टि, भेदमय द्वैतकल्प जगत् दिखने लगता है ।

जैसे कि सन्ध्या के झटपुटे से कहीं दूरपर माला पड़ी है ! दूर से देख कर पथिक को लगता है कि साँप है ! दूर से साँप दिखते ही यह भागने लगा । दूसरा कोई उसके पास गया तो देखा "अरे साँप नहीं यह तो माला है" । माला पर सपं दिखा या वह भी सच, और पास में जाने पर सपं नहीं माला विसी, यह भी सच है । ऐसे ही दूर से देखने पर विभिन्न पदार्थों, विविध विषय दिखते हैं । पास में जाने पर मालूम होता है यह विविधता कुछ नहीं, एकता का ही श्रुंगार है ।

विषयों की पृथक् सत्यता नहीं रहती, फिर वे बन्धन नहीं जान पड़ते। वे अन्तराय नहीं, सृष्टि निर्माता के समीप ले जानेवाले उपाय बन जाते हैं।

माला का सपं जैसे समीप जाते ही अन्तर्धान हो जाता है, ऐसे ही विषय की अनेकता

को, विषयाकृति को, स्नेह से छू कर देखो तो वे 'विषय' नहीं रहते। आसक्ति से देखोगे—सुझोगे तो वह आसक्ति ही बन्धन पैदा कर देगी। जैसे दूरी के साथ भय माला में सपं पैदा कर देता है, वैसे आसक्ति व्यक्त अनेकरूपता को विषय बनाकर बन्धन पैदा करती है। [बीबी-७२-७३]

\* \* \* \*

[...यह श्रीकृष्ण—संवाद मानो गुह—शिव्य संवाद है जो उपनिषद् है—गुह के समीप बैठकर पाया गया आत्मा—परमात्मा का बोध है। इसे योगशास्त्र कहा है। गीता में कर्म—ज्ञान एवं मक्ति का निरूपण है। वे सभी योगाधिष्ठित हैं केवल शान्दिक—बौद्धिक नहीं। कर्म, ज्ञान एवं मक्ति सभी योग के अधिष्ठान पर खड़े हैं। केवल कर्म करने से चित्तसुद्धि होगी यह भ्रम है, कर्म के पीछे से कर्ताभाव का लोप होता है तब वह कर्मयोग बनता है। अद्वैतबोध के अधिष्ठान पर जब हूँत के सम्बन्धों को ह्रम पीते बले जाते हैं तब वे सम्बन्ध मुक्तिदायक बनते हैं।

कर्म का व्यापार बढ़ाना अहंभाव, कर्ताभाव को पालता—पोसता है, बन्धन बढ़ाता है। धार्मिक ज्ञान भी अहंकार को ही बढ़ाता है। और अद्वैत के बोध के बिना मक्ति केवल कर्मकाण्ड (ritualism) रह जाती है। उसमें समर्पण की शक्ति नहीं आती।

एक महारत्मा के यहाँ सत्सङ्ग होता था। उस गाँव में एक दुराचारी भ्रष्टाचारी ब्यसनी व्यक्ति रहता था। लेकिन उसे प्रभु ने कष्ट बढ़ा भयुर दिया था, सुरीले भावभरे भजन गाता था। सत्सङ्ग के समय महारत्मा उठी व्यक्ति को बुलाते—भजन गाने को कहते। वह मस्त होकर गाता। दो—चार दिन ऐसे ही बीते तो गाँव में बड़ी चर्चा चली कि "यह इतना श्रेष्ठ आदमी ही और सन्तजी इसे पास बैठा कर भजन गवाते हैं। शायद ये इस के आचरण नहीं जानते। ये सन्त लोग ऐसे ही भोले—निपट नादान होते हैं, आगे—पीछे का कुछ नहीं जानते"। तो गाँव के प्रतिष्ठित लोग गये महारत्मा के पास और कहा कि "जिस आदमी को आप अपने पास बैठाकर भजन गवाते हैं, इतनी प्रशंसा करते व सम्मान देते हैं वह तो बहुत ही दुराचारी व्यक्ति है। इस बात को गाँव में बड़ी चर्चा होती है, दुरा लयता है।" सुनकर महारत्मा चुप रहे। उस क्षण को फिर सत्सङ्ग हुआ तो उसी व्यक्ति को भजन गाने को कहा। भजन पूरा हुआ तो सन्तजीने उस व्यक्ति से कहा "तुम ही असली हीरा हो भाई! क्यों कीचड़ में पड़े हो?" वह व्यक्ति आकुल—आकुल हुआ घर पहुँचा। परन्ती से कहा कि "सन्तजी ने मुझे असली हीरा कहा।" रात भर सो नहीं सके; सन्तजी के शब्द कानों में गूँजते रहे। सुबह होते ही नहा—धोकर, परन्ती को साथ लेकर सन्तजी के पास पहुँचे। प्रणाम कर के कहा "महाराज! आज से सब दुराचार, अनाचार, भ्रष्टाचार, धाराब आदि ब्यसन तथा वेदयागमन आदि सभी कुछ समाप्त है। आपने जो कहा सब बही रहेगा इस तन—मन में।" ... लोगों को उस में दुराचारी—भ्रष्टाचारी—बाराभी आदि दिखता था, वही सन्त को दिखाई दिया असली हीरा! केवल आत्मा दिखता। अन्तर था दृष्टि का।

आज का विषय ऐसी दृष्टि से ही सम्बन्धित है कि यह जो अनेकता बिसली है वह मन की कल्पना के कारण ही मन पर आरोपित होती है।



पश्चिम में 'ब्रकैले' नामक चिन्तक ने Subjective Idealism नाम की विचारधारा का प्रवर्तन किया। वे कहते हैं कि अपने से बाहर जो कुछ दिखता है उसका नामकरण (Naming) मनुष्य करता है, यह नामकरण मनुष्य की कृति है। एक को दूसरे से पृथक् स्वतंत्र मान कर उनको अलग-अलग नाम दिये। उन वस्तुओं का जो उपयोग वह करना चाहता था, उस के अनुसंधान में ये नाम दिये गये। मिट्टी के डूले बेल कर कुम्हार के मन में आया कि चलो इस के घड़े बनायें, कुल्हड़ बनायें, प्याले, तवा, हाँडी, बाकी, माँद—जो कुछ दैनिक जीवन में उपयोगी आकृतियाँ हैं, ये मिट्टी में से बना लें ! हमें ये सब अलग-अलग वस्तुयें दिखती हैं, कुम्हार के लिये ये सब मिट्टी हैं, और आकृतियाँ कुम्हार की कल्पनाविधि की उपज हैं।

सन्त देखते हैं तो उन्हें सब आकृतियों में वह मिट्टी दिखती है, कौपीनी और महल में भी उन की रचना में लगा हुआ गारा-मिट्टी-पत्थर ही दिखते हैं। हमारी नज़र में अनेक ढंग के, अनेक स्तरों के कम-अधिक कीमत वाले वस्तु हैं, वहाँ सब में सन्त को धागे (तन्तु) ही दिखते हैं। अनेकता में उन की दृष्टि ठहरती ही नहीं, सब भेद छेवती हुई वह सीधी जा टिकती है एकता पर।

भक्ति शीना याने अनेकता विविधता में एकता को देखने की धारित पैदा करना। चित्त में कल्पना आयी इसलिये अनेक रूप बनाये, फिर उस अनेकता में आसक्त हो कर अटक गये। कल्पना द्वारा उपभोग्य वस्तुओं की विविधता को बढ़ाना और नित्य नये उपभोग में व्यस्त रहना—इसे आज प्रगति की निशानी समझा जाता है। अध्यात्म की धारा इस के ठीक विपरीत चलती है कि आवश्यकताओं की बढ़ाना नहीं, बल्कि घटाते चलो। क्योंकि आवश्यकता बढ़ाने को और उन की पूर्ति के सामान बनाने व जुटाने की कभी सीमा (अपारि) नहीं आयेगी। मन कभी सन्तुष्ट होनेवाला नहीं और सृष्टि की अनन्तता कभी समाप्त होने वाली नहीं। इसी को माया कहा गया है।

नामकरण द्वारा एकता में अनेकता को देखना, कल्पना द्वारा आवश्यकता-उपयोगिता बढ़ाना फिर उनकी पूर्ति की सामग्री बनाना, उसमें फिर प्रियता-अप्रियता के रंग चढ़ा कर मनुष्य का मन माया पैदा करता है।

जीवन की सत्ता एक है और अनन्त है। (The one that is Infinite.) उस एकता में से अनेकता कैसे पैदा होती है और सन्तों व ज्ञानियों के चित्त में उस अनेकता का मोह क्यों नहीं है, भ्रम क्यों नहीं है—यही विषय निरूपित करने जा रहे हैं ज्ञानेश्वर महाराज !]

(बासुमुकुम सरल निखालस उपमा है—)

जमीन में मटके-हाँडी-कुल्हड़ आवि की कोई खान है क्या ? कि हम जो चाहें वही आकृति की वस्तु जमीन में से निकाल लें ! ये सब आकृतियाँ कुलाल (कुम्हार) की मति (मन-बुद्धि) के मर्म से उत्पन्न होती हैं। उसके चित्त में आकृति की कल्पना उठी, मिट्टी में से वह आकृति सिद्ध करने के लिये कुम्हार ने मिट्टी को भिगोया, रौंद-रौंद कर मुलायम बनाया-मिट्टी को 'कमाया', फिर उसका लौंदा घूमते चक्के (चाक) पर चढ़ाया; हाथ से उसे आकृति देता गया, पुरी

आकृति आने पर उसे चाक से उतार कर सूखने को रखता गया, फिर आंवा जला कर उस कच्चे घड़े आदि को पकाया। मिट्टी तो पड़ी है, उस से जो बनाना चाहो बना लो।

सागर में क्या तरङ्गों की खान है ? जिस में से एक के बाद एक तरङ्ग निकलते जाते हैं ? नहीं, पवन के झोंके व लगे तो तरङ्ग नहीं उठते। पानी तो पानी ही है, पवन का स्वभाव होता ही वह तरङ्गाकार बनता है। वैसे ही हमारे जीवन की जो एकता है वही चित्त की कल्पना के झोंकों से अनेकता रूप में दिखने लगी। तरङ्गों

को मुझी में लेना चाहो तो हाथ में आयेगा जल ही। कल्पना द्वारा दिये गये नाम-रूपों के कारण अनेकता दिखती है पर वस्तुतः सत्ता एक ही है। मधुराद्वैत का अधिष्ठान है इसलिये किसी भी उपमा-दृष्टान्त आदि में अद्वैत की प्रतिक्रिया घूटेंगी नहीं।

कपास के डेर में क्या कपड़ों के धान पड़े हुए हैं या वेदी में जमा कर रखे विविध बलों की तर्हों की तरह कपास में क्या बलों की तिजोरी रखी हुई है? नहीं, मनुष्य ने कपास के गुणधर्म पहचाने तब कल्पनायें उठीं कि इससे आच्छादन (रङ्गने) के उपयोगी कैसी-कैसी कौन-कौन सी रचनायें हो सकती हैं? वह सब उसी कपास में से बना लीं मनुष्य ने। कपास को देखने वाले के मन में कल्पना उठी कपड़े की, उसी को युक्ति द्वारा उसने पूर्णरूप से बिया।

समझाना यही चाहते हैं कि अनेकता मन-कल्पित है और एकता जीवन की सत्ता। सुवर्ण देख कर किसी के चित्त में कल्पना धायी उससे शरीर को बसाने की। तब अङ्ग-अङ्ग के अनुरूप तथा असंख्यों प्रकार के चित्रकर्म से सुसोमित अलङ्कार बनाये। एक सुवर्ण ही विविध अलङ्कार बन गया। स्वर्ण तो स्वर्ण ही रहा, सुनार की कल्पना तथा देखने-पहनने वालों की इच्छा के अनुरूप अलंकारों की अनेकरूपता भक्त हुई। भौतिक पदार्थों की मयब से मनुष्य अपने ही विचारों को सजाता है। फिर उसी में वैच जाता है। नचन सृष्टि में नहीं है, मन में है। अनेकता मन में से पैदा होती है, सत्ता तो एक ही है। इसी उपमा को एक कदम आगे ले जा रहे हैं कि विविध अलङ्कार बनने पर भी सोने के सोनेपन में कोई विकार नहीं आया, स्वर्णता दूषित या बाधल नहीं हुई। (वासुदेव कह रहे हैं) वैसे ही जनबाकार होने पर मेरी सत्ता की एकता पर कोई बाध नहीं आयी। न वह झपट हुई, न नष्ट हुई।

यही मधुराद्वैत की झूठी है कि व्यक्त को अव्यक्त के समान ही बचित्र माना गया है।

व्यक्त की उपासना-आराधना ही अव्यक्त को पाने का रास्ता खोल देती है, सम्बन्धों में से मुक्ति फलित होती है। नाम-रूपात्मक संसार में से अनामी के पास पहुँचे, अरूप के पास पहुँचे, काल की मयब से अकाल में पहुँचे—यह सिखाने की कला है।

किसी शब्द नाव का प्रतिध्वनि उठा। गुम्बज या घाटी में जोर से अकार का उच्चारण किया गया। तो आकाश में से वैसे ही ध्वनि पुनः सुनाई दी। पहले वह ध्वनि नहीं की, अब सुनाई दी। क्या वह मिथ्या है? नहीं, स्पष्ट सुनाई देती है। हयारी ध्वनि पूरी हो चुकने के बाद बैठी ही किन्तु सामने से आती हुई यह नई ध्वनि सुनाई देती है। वैसे ही मेरी कल्पना से ही आसपास की अनेकता पैदा होती है। एक व्यक्त है, उस के चित्त में कल्पना आई अपना परिवार बनाने की। वह पति बना, फिर माता-पिता बने—ऐसे पतित्व, पितृत्व, भ्रातृत्व एवं आगे-आगे सम्बन्धसंखला चित्त में से ही तो पैदा हुई। इस से उस व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व तो मिट नहीं गया।

प्रतिध्वनि अनिर्वचनीय स्वरूप है, उसे सत्य या असत्य कुछ भी नहीं कह सकते। क्योंकि हमारी ध्वनि से पहले वह ध्वनि नहीं की अतः वह सत्य नहीं; और कानों में स्पष्ट सुनाई देती है, केवल मैं ही नहीं, वहाँ कहे अन्य लोग भी उसे सुन सकते हैं, अतः वह असत्य भी नहीं। इस प्रतिध्वनि की अलग सत्ता नहीं, और घाटियों से या गोलगुम्बज से चिरा आकाश न हो, झुले मंदान में कितने भी जोर से अकार का उच्चारण या नाव किया जाय, वह दुबारा सुनाई नहीं देगा। यानी कि ध्वनि के कहीं टकरा कर जोड़ने के बिना प्रतिध्वनि नहीं पैदा होती। घाटी का अस्तित्व और किसी की ध्वनि दोनों मिल कर प्रतिध्वनि का जन्म होता है, वैसे मेरी सत्ताकी एकता और चित्त की कल्पना ये दोनों मिल कर जगत् रूपी अनेकता का विलतार होगा है।

वर्षण में जो प्रतिबिम्ब दिखाता है वह सच है कि झूठ है ? हम हट जायें तो वर्षण से प्रतिबिम्ब नहीं रहेगा अतः वह सच नहीं है । अब हम वर्षण के सामने हों तो प्रतिबिम्ब भी है । क्या हम दो बन गये ? नहीं मैं ही भुस को देख रहा हूँ । प्रतिबिम्ब झूठ नहीं, क्योंकि उसका Photo लिया जा सकता है । फिर भी वस्तु दो नहीं है । क्योंकि जो एक व्यक्ति है वही प्रतिबिम्बित हो रहा है और वही उस प्रतिबिम्ब को देख भी रहा है । संसार में इतने क्यों नहीं है यह समझाना है । सत्ता की एकता ही कल्पना के कारण अनेकता बनी है । वृक्ष वृक्ष ही हैं फिर भी अपनी कल्पना के अनुसार हमने गणना करके संख्या बनायी, वृक्षों का वर्गीकरण किया, भाव के अनुसार अलग अलग नाम दिये; उन का उपयोग-उपभोग किया, लेकिन मूल में सत्ता एक ही है ।

वह प्रतिबिम्ब और प्रतिध्वनि भेरे कारण पैदा हुए हैं; लेकिन मैं ने पैदा नहीं किये हैं । मैं ने वर्षण या घाटी के सामने खड़े हो कर संकल्प नहीं किया कि अब मेरा प्रतिबिम्ब, या मेरी ध्वनि की प्रतिध्वनि पैदा हो । मैं निमित्त हूँ प्रतिध्वनि उत्पन्न होने में, कर्ता कभी नहीं । कहना यही है कि मैं कारण हूँ फिर भी कर्ता नहीं हूँ । और जो भेरे कर्म तुम्हें दिखाई देते हैं वे भुस पर चिपकते नहीं, उन का लेप नहीं चढ़ता ।

‘सूर्य प्रकाश देता है’—यह मनुष्य की भाषा है, क्योंकि हम प्रकाश लेते हैं, उसका उपयोग करते हैं । हमारे ‘लेने’ के नाते ही सूर्य पर प्रकाश ‘देने’ का आरोप किया जाता है । सूर्य का स्वरूप है प्रकाश, वहाँ लेना-देना कैसे ?

प्रतिध्वनि जैसे वस्तुतः बिम्ब और ध्वनि में ही समाये है वैसे यह समस्त सृष्टि भुस में ही समायी है । कल्पना के कारण उसमें अनेकता दिखाई देती है, वस्तुतः एकता ही है ।

मेरा स्वरूप निर्मल है, उसमें अनेकता का मल नहीं है । देखने वाले की कल्पना के कारण यहाँ भ्रूतों (सचराचर सृष्टि) का आभास होता है, अन्यथा भेरे इस निर्मल स्वरूप में न अनेकता

है न एकता है, बस सत्ता है, ‘है’—पना है । कल्पना यदि चित्त से निकल जाय तो अनेकता का पैदा भी चित्त से हट जाता है ।

चिरे चित्त में यदि भय नहीं है, न किसी से मुझे कुछ माँगना या लेना है । तो सबकी तरफ देखने की मेरी नजर एक होगी या नहीं ? और जो हर समय इरता, सिकुड़ता हुआ पीता है उसकी दशा क्या होती है ? कोई जरा सा अनुकूल बोले कि बहाँ वह निर्भय रहता है, आकषित होता है, आसक्त हो जाता है । जरा सी कोई प्रतिकूलता मिली कि भागे वहाँ से । जीवन-व्यवहार में उसकी अर्लें अनुकूलता-प्रतिकूलता को खोजती रहेगी । भय के कारण वह बच-बच कर चलता है, मनुष्यों में भेद करता है । अनुकूलता-प्रतिकूलता तो अपने मन ने पैदा की है; उससे व्यवहार प्रभावित क्यों हो ? ऐसे ही चित्त में वासना हो सबसे सराहना पाने की, तो भी व्यवहार यथोचित समात नहीं रहता; सबको लुप्त करने के लिये मुक्तियाँ अपनाता है, जरा किसी की नाखुशी देखी कि चिल बूबने लगता है । भय और वासना के कारण चित्त में हमेशा शोष बना रहता है, उबल-पुथल मची रहती है । वह व्यक्ति स्वयं अपने भीतर शान्त नहीं रह सकता तो सबके माथ शान्त यथायोग्य समात व्यवहार कैसे करेगा ?

इस तरह दृष्टि बदल जाती है । एक व्यक्ति के लिये सब समान है, और दूसरे का चित्त व्यस्त रहता है भेदभाव से—इसको एक अंग से लुप्त रखना है, दूसरे को अन्य प्रकार से । इससे यह लेना है उससे वह लेना है, जो अपने अनुकूल है उससे एक तरह का व्यवहार, जो प्रतिकूल है उससे दूसरी तरह पेश आना-यही (calculation, manipulation) का बंधा करता रहता है । इसीलिये उसके व्यवहार में सटिलता पैदा होती है । कहीं आसक्त होता है, कहीं से विरक्त होकर भागता है कहीं दीन तो कहीं आक्रामक बनता है । यह सर्रा संसार मनुष्य खड़ा करता है ।

तब—'यदमानोद्विजते लोको, लोकाग्नोद्विजते च यः'—वह हो नहीं पाता ।

जिस व्यक्ति के चित्त में कोई भय नहीं, प्रलोभन नहीं, स्वार्थ नहीं, वह कहीं क्षुब्ध रहेगा ? कहीं व्यवहार में असमानता लायेगा ? सक्षुब्ध ही उसका व्यवहार शत्रु-निषङ्गल-निस्त्रासल रहेगा । शरीर-धारणा के लिये ध्रम करेगा, बाकी शान्त रहेगा ।

इसीलिये सन्तों का व्यवहार सबके प्रति समान होता है । उनके पास शराबी, प्राणी, कुख्यात दुराचारी आ कर बैठे तो भी सन्त के मन में तिरस्कार नहीं आयेगा । यह अवश्य है कि वे शराबी से जो बात करेंगे वह सदाचारी से नहीं करनी पड़ेगी, साधु-सज्जन से जो कहेंगे वही शराबी को नहीं कहेंगे । वाणी में—कथन व निरूपण में अन्तर आयेगा, अनिश्चित अलग हो सकती है, लेकिन चित्त में, भाव में एवं मानवीय वेदमाल में उदा भी अन्तर नहीं आयेगा ।

बापू (गांधीजी) के पास दुनिया भर के, सब तरह के लोग आते थे, उम, बोधेबाब, भ्रष्टाचारी और एक से एक बढ़कर सदाचारी, विनम्र, सच्चिन्दि व्यक्ति भी । अपार लोकसंग्रह या बापू के वही । लेकिन उनके व्यवहार में कभी केशमान भी वेदमात्र या अपना-परत्यापन नहीं आता था । वे अनित जीते थे ।

गीता जीवन जीने का शास्त्र है, जीवन जीने के कर्म के साथ गीता-श्रवण का अनुबन्ध न जोड़ें तो श्रवण ध्वंस ही नहीं श्रवण का अयमान होता है । यहाँ जो एकात्मता का उपदेश चल रहा है उसका अपने जीवन में जीते समय उपयोग विनियोग होना चाहिये ।]

हे पार्थ कल्पना करो कोई व्यक्ति खुद चक्कर ले रहा हो (एक जगह खड़े हो कर वेग से गोल-गोल घूम रहा हो) तो थोड़ी देर में खड़े हो जाने पर उसे आसपास सब कुछ भ्रमण व्यक्त, सामान घूमता हुआ प्रतीत होता है, जैसे ही हे अर्जुन कल्पना के चक्र में निरन्तर जिनका मन घूमता रहता है, उनको संसार में

अनेकता दिखती है, अनेक प्रकार की गतिमाँ व विषमतायें-नजर आती हैं । मैं तो वस्तुतः जैसा हूँ वही हूँ । अथवा गतिमुक्त हूँ ।

[पहले नाम का सम्बन्ध कल्पना से जोड़ा, फिर रूप का सम्बन्ध कल्पनामूलक बताया । अब गति का सम्बन्ध कल्पना से जोड़ रहे हैं । ऐसे उपमायें एक-एक कदम आगे बढ़ रही हैं ।

कल्पना छोड़कर दू देखेगा तो मुझमें यह सृष्टि-भूतमात्र-समस्त विस्तार वस्तुतः है नहीं, मेरी सत्तामात्रता-विन्मयी सत्ता सर्वदा अक्षुण्ण अक्षय्य एकरस है ।

[हमने ब्रह्मनिर्वाण वया में जीने वाले सन्त विनोबाबा के जीवन में अन्तिम दो वर्षों में यह देखा था । और बचपन से लेकर १९६४ तक देखा था सन्त बुकटोजी महात्माज को । सुखी बाल से देखते हुए भी श्री या पुरुष को भिन्न पहचानना उन (दोनों) के लिये मुश्किल था । 'बाबा ! वह विमल है !' 'बाबा ! वह निर्मला है !' ऐसा उन्हें बताया पड़ता । देखने वालों को आश्चर्य लगता ; किन्तु उन्हें सामने एक मनुष्याकृति चैतन्य-मात्र दिखाई देता । बेड़-पीडा हो तो उस आकार में चैतन्य दिखता, क्रुता-विल्ली-अन्य पशु-पक्षी जो भी सामने आये उसमें उस उस आकार का चैतन्य ही नजर आता ।]

[अनेकता कल्पनाजनित है यही विषय चल रहा है]—हे अर्जुन तू कल्पना के चक्र में घूम रहा है, इसे छोड़कर स्थिर शान्त हो जा, फिर मेरे स्वरूप को देख ।

तू कहेंगा कि "कल्पना छोड़ देने पर भी तो अनेकता दिखती है ।" ठीक है यार्ड ; मरुभूमि में सूर्य की किरणों के प्रसर संयोग से रेती में भ्रमण दिखता है न, जैसे सूर्य किरणों के आघात से मरुभूमि पर भ्रमणल का आभास खड़ा होता है, जैसे ही मेरी सत्ता के आघात से यह संसार रूपी अनेकता या उँस दिखाई देता है । जो वस्तुतः नहीं है वह भ्रमणल वही दिखता है, पास में गये तो कुछ नहीं है । जैसे इस संसार से यदि

पदार्थ का 'अर्थ' देखने जाओगे, वस्तु का तत्त्व देखने जाओगे तो पाओगे कि मेरे सिवा और कुछ भी है नहीं—

'देह मां देव तू सेव मां तत्त्व तू ।

'दुःखमां शब्द धर्म वेव मांसे ।

अखिल ब्रह्माण्ड मां एक तू श्रीहरि !' (नरसी)

[जब भी अर्जुन के चेहरे पर बात समझने का सन्तोष न देखकर कहते हैं] अर्जुन ! दूसरी तरह से देख ! सूर्य और प्रभा अलग हैं ? सारे जगत् में सूर्य का प्रकाश फैला हुआ है; पर सूर्य तो अपनी जगह है। पृथ्वी से लाखों योजन दूर है। लेकिन जैसे सूर्य और उसकी रश्मियाँ अलग नहीं हैं, वैसे ही यह विश्व मुझसे अलग नहीं है। तू मुझे विश्व से बाहर खोजने के लिये निकलना ! सूर्य के रश्मि में सूर्य का सर्व है या नहीं ? एक रश्मि (के spectrum) में सात रंग (इन्द्रधनुष वाले) दिखाई देते हैं। (सूर्य के सात थोड़े कहलाते हैं, उन का सात दिनों से सम्बन्ध भी है।)

रश्मियाँ और सूर्य जैसे भिन्न वस्तु नहीं हैं, वैसे यह विश्व मुझ से भिन्न नहीं है। सूर्य-रश्मि में सात रंग दिखते हैं, वैसे मुझ से प्रसृत जगत् में तुझे अनन्त रूप-रंग दिखेंगे। रश्मियाँ की स्वतन्त्र सत्ता नहीं है।

[आज तो लोग ब्यवहार की ही सत्य मानते हैं, अभ्यास एवं तत्त्वज्ञान को अनुमान का विषय मानते हैं, बुद्धि से शब्दों का बेरु मानते हैं। ब्यवहार में जाँच न आये उतना ही अभ्यास जीवन में लाने में कुशलता समझते हैं।

भारतीय तत्त्वज्ञान में तो ब्यवहार की स्वतन्त्र सत्ता ही नहीं मानी गई। परमाण्व- (परम अर्थ) की प्रकट करने के लिये सम्बन्ध है।...पर यह सब भूलकर हमने ब्यवहार को ही सत्य मान लिया है, ब्यवहार चलाने के नाम पर जीवनमूल्यों की भीमत्स उपेक्षा है। इसीलिये तो संघर्ष-द्वेष-हिंसा का बोलबाला है।...

मनुष्य का भ्रम है कि दो स्वतन्त्र सत्तायें हैं। परमात्मा यदि एक है और वह 'घट-घट वासी' है तो कैसे हम एक-दूसरे से द्वेष रख सकते हैं ? हिंसा कैसे कर सकते हैं ? कैसे एक दूसरे को ठगना, झूठ बोलना, अन्याय व शोषण कर सकते हैं ? 'अव्यवहार' के नाम पर ऐसे 'सात खून माफ़' कैसे किये जा सकते हैं ? अरे, परिवार में 'घर चलाने' के नाम पर पति-पत्नी परस्पर एवं बच्चों से झूठ बोलते हैं, नौकर व पड़ोसियों से झूठ बोलते हैं। झूठ पर ही संसार चलाते हैं। एक-दूसरे के शोषण पर सारे मानसिक सम्बन्ध लखे हैं, और हम कहते हैं कि भक्ति करते हैं। भक्ति ऐसे नहीं होती माई ! वह तो पीनी पकती है।

"हरि का मार्ग तो शूरों का है

कायर का यहाँ काम नहीं।"

क्योंकि एक परमात्मा की ही सत्ता का अनुसन्धान रखते हुए समस्त ब्यवहार करना है। झूठ सम्बन्ध ब्यवहार ही आत्मसाधना का कर्म है भी ! भक्ति टुकड़ों में नहीं की जा सकती, कि मन्दिर-घट में जा कर सात विन पूरे गुड़ बने रहे—'साधना-सप्ताह' मनाया और घर में आने पर वही पुराना रबैया चलाया-झूठ, बोधे-बाधी, क्रोध-द्वेष-स्पर्धा-शोषण आदि का !

ज्ञानेश्वर महाराज की पहली व अन्तिम बात हम हमेशा ध्यान में रखें कि जीवन में जो अलग सत्तायें नहीं। यही गांधीजी पूरे देश के जीवन में लाना चाहते थे। अपने जीवन में तो वे इस एक-सत्यता को भी गये, सत्ता के द्वैत को उड़ा दिया था। उनके सिवा सभी नेताओं ने द्वैत की सत्ता को स्वीकार करते हुए द्वैत के ही आधार पर राजनैतिक-सामाजिक-आर्थिक जीवन के ढर्रे-ढाँचे लखे किये थे। और बापू ने यहाँ तक कह दिया कि-'धैरों में यदि अस्पृश्यता का समर्थन है, विद्यान है, तो मुझे देव नहीं चाहियें ! मनुष्य मात्र पवित्र है।'—इसीलिये गोलियाँ खानी पड़ीं। सत्य बोलने व पीने की यही सजा हुई !]

(बल्लो ५ बोवी ७४-८०)

(क्रमशः)

["गाँधियों ने की यह मुक्ति । कल्पा बन्ध और मानी मुक्ति ।" —ब्रह्मा भगत]  
बन्धन का अटोप सड़ा कर के लोगों को डरा दिया और फिर मुक्ति का बर्णन करके उसके अनेक रास्ते बता कर सब को अपने अंगूठे तले दबा रखा ।

पुरोहित-वर्ग के उस चंगुल में से मानव-चेतना को निकालने वाले विद्रोही क्रांतिकारी बालसंगत ज्ञानेश्वर उद्योग करते हैं कि किसी भी (साधकता-निरपेक्षता) अन्तर या स्तरवाली दो सत्तायें हैं ही नहीं । सत्ता एक ही है । उसके साथ सजत अनुभवान रखते हुए जीने का कर्म ही भक्ति है ।... अगर व्यवहार के लिये द्रव्य एवं मूठ का सहान लेना ही पड़ता है तो छोड़ो वह व्यवहार ! यदि वेदान्त को जीना चाहते हो तो ! विभागों में जीवन को बँटकर साधना नहीं हो सकती । साधना तो सम्पूर्ण जीवन का समग्र कर्म है । (It is total action in the totality of life ) ]

मेरा यह जो ऐश्वर्ययोग तुझे बता रहा हूँ इसे तूने देखा ? (बुद्धि की बाँध से देखकर समझ लिया ?) अनेकता और एकता के योग का कैसा ऐश्वर्य है—यह तूने अच्छी तरह देखा ? अब बता कि यहाँ भूतों (सचराचर सृष्टि) में कोई भेदभाव हो सकता है क्या ? इसलिये भूतमात्र भुक्त से अलग नहीं हैं, और इन्हें छोड़ कर अलग कोई स्थान नहीं जहाँ तू मुझे खोजने जा सके ! इस सब को बन्धन समझकर कहीं दूर विजन-प्राप्त में आयेगा तो उचित नहीं, व्यर्थ है,—यह बात तेरी समझ में आयी ?

गगन जितना बड़ा है, जैसा है, उस गगन

[ मैं ज्ञानेश्वरी लेकर आपके पास बैठती हूँ ताकि आप गांधीजी एवं विनोबाजी की बात समझ सकें । मनुष्यमात्र में ध्रुवा रखते हुए उस के प्राणों में छिपी हुई 'सत्यं त्वं सुन्दरम्' की ध्यास पर विश्वास रखते हुए ही सत्य-ब्रह्म को समझा-पकड़ा जा सकता है । बस्तुमात्र में परमात्मा की सत्ता है—बहु नहीं समझेंगे तो प्रतिफल अहिंसा का आचरण नहीं हो सकता । केवल बौद्धिक निष्ठा से अहिंसा की साधना नहीं हो सकती । इसलिये सत्य यानी एकता की आराधना और अहिंसा का आचरण यह महान् (विश्वव्यापी-मानव-व्यापी) सन्देश अपने जीवन द्वारा गांधी-विनोबा ने दिया ।

उनके सामने (राष्ट्रसीमायें नहीं थीं) मानवमात्र खड़ा था । इसीलिये 'जय भ्राम जय जगत्' यह सूत्र दिया । जहाँ हम प्रत्यक्ष रहते हैं वहाँ भ्राम है, और त्रिषु धरती पर सम्पूर्ण मानव-समुदाय रहता है वह जगत् है । इन दोनों के बीच के सब व्यवधान हटा दिये—सत्ता, राजनीति, मर्त्यनीति, समाज, धर्म-सम्प्रदाय, जाति-भाषा-क्षेत्र के भेद सभी कुछ हटा दिया ।

में उतने ही विस्तार वाला पवन है । दोनों ही दिखते नहीं हैं किन्तु उसमें गति है, हसी से वह गगन से भिन्न प्रतीत होता है । वैसे ही भूतमात्र तुम्हें भुक्त से अलग दिखते हैं । पंखा हिलाने से पवन पहचाना जाता है, पंखा बन्द करें तो वह पवन जहाँ का तहाँ समा जाता है, कहीं अन्यत्र भाग नहीं जाता । वैसे ही अब कल्पना के पंख हूय हिलते नहीं तब समस्त ईत अर्थात् वे ही समाया रहता है । कल्पना करोगे तो भेदभाव दिखेगा, निष्कल्प रहोगे तो मैं ही जगत् हूँ, जगत् भुक्त में समाया हुआ है । (हरिरेव जगद् जगदेव हरिः हरितो जगतो नहि भिन्नतनुः) ।

नये युग का नया बुलन्द धर्म—अध्यात्म हमारे सामने खड़ा है। इस में श्री—जे कृष्णमूर्तिजी का श्री विशेष योगदान है। ये तीनों विभूतियाँ नवयुग के नवधर्म के प्रवर्तक हैं। विभिन्न पहलुओं में जो एकता की बात इन विभूतियों में मानवजाति के सामने रखी, उसे ही श्री ज्ञानेश्वर महाराज की वाणी द्वारा आगे के सामने रखती हूँ, ताकि हमें इसकी गम्भीरता का भान आवे।]

तू मेरा यह ऐश्वर्ययोग देख ले, समझ ले। यह इतना विराट्-विशाल है कि यदि तू इसमें अपने उपयोग के लिये कल्पना द्वारा अनेकता पैदा कर लेगा, और उसका उपयोग करेगा तो उसमें कोई हानि नहीं, आपत्ति नहीं, किन्तु यह समझ रखना कि वह अनेकता तूने अपनी सुविधा के लिये (मेरे आधार से) पैदा कर ली है। (Variety is related to the motivations of the individual, and Unity of life is capable of producing infinite varieties.)

अनेकता को छोड़कर एकता के पीछे नहीं बीड़ना है, दोनों को साथ रखो। दोनों का समन्वय होना चाहिए—यह आशय है।

अनेकता को 'है' कहेगा तो तेरे मन के सापेक्ष वह 'है', और 'नहीं' कहेगा तो परम-तत्त्व की निरपेक्ष-अबाधित एकता-सत्यता की दृष्टि से 'अनेकता नहीं है'—यह भी सही है। तू अहाँ खड़ा है उस ब्रह्ममूर्ति पर तुझे अनेकता दिखेगी। [इस तरह विविधता का स्वीकार हो, एकता अधिष्ठान रहे। अद्वैत के अधिष्ठान पर द्वैत का स्वीकार—यह है मधुराद्वैत की मूल बात।]

ऐसे 'प्रतीति के बोधसागर' में एक लहर बनकर तू क्यों नहीं खेलता है अर्जुन ! [‘प्रतीति’ को भुलक नहीं बनाया है। ‘वेदान्ताभ्यासब्रह्ममति’ ‘विषयभ्यासकौतूहल’ ऐसी मति का कौतुक नहीं है यहाँ।] तेरा सारा बोध लिये हुए तू सागर पर लहरों के नर्तन की तरह नाचता रह भाई ! तब तेरे सभी सम्बन्ध हीला बन जायेंगे।

[श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण जीवन एक लीला ही था न ! वे भोगी थे या त्यागी ? एकान्त में रहे या लोकान्त में ? राजा थे या सेवक ? क्या कहेंगे उन्हें ? ऐसी कोई चीखट या ढाँचा नहीं जिस में बाबुदेव को बैठाया जा सके। सभी संज्ञा-परि-

भाषाओं से अतीत रहे वे। (He defies all definitions, all frameworks & categorisations) ऐसे सर्वानीत व्यक्ति थे श्रीकृष्ण। उनकी वाणी में वही जीवन की अद्भुतता आ गयी है।] (कहते हैं—) अर्जुन ! प्रतीति के बोधसागर में एक कल्लोल बनकर तू जीता चला जा। तेरे सामने जो श्री कर्तव्य आये उसे तू निभाता चला जा। तब चर—अचर समस्त सृष्टि में तुझे तेरा ही स्वरूप दिखेगा, सब तेरे ही प्रतिबिम्ब दिखेंगे।

[जितने रसिक हैं उतने कठोर परीक्षक भी हैं। कहते हैं कि] यह ऐश्वर्ययोग तेरी समझ में आया ? प्रतीति आयी क्या ? जो द्वैत का स्वप्न था कि अनेकता व एकता की दो सत्तायें अलग हैं, इन में अलग ही व्यवहार होगा—यह तेरा स्वप्न गया या नहीं ? स्वप्न में जो राजा बना था नींद खुलने पर वह अपना सिंहासन तो नहीं खोजता है न ! वह द्वैत-स्वप्न मिटा या नहीं ?

अर्जुन ! तुम कहोगे कि “यह बात अभी तो समझ में आ गयी है, किन्तु फिर से यह त्रय पैदा नहीं होगा ऐसा आश्वासन मैं आपको नहीं दे सकता। हो सकता है फिर से वह भेदबुद्धि जाग उठे, संका—तर्क—कुतर्क उठने लगें, कल्पना सक्रिय हो जाये !” किन्तु बुद्धि को ऐसी नींद न आये, कल्पना के साँके न आने लगे, नींद की बाधाछूटा ही न रहे—ऐसा एक रहस्य है, युजित है, यह मैं तुझे बताता हूँ।

(अर्जुन को साक लड़ाते हुए कहते हैं—) हे धनुर्धर तू भूतिमान् धर्म है, अभी धनञ्जय ! भलीभाँति अवधान देना। मैं ऐसी बात तुझे बताते जा रहा हूँ जो द्वैत-स्वप्न, कल्पना—पवन उपजाये वाली भाषा का सवा के लिये हुरण कर ले।

महाराज बता रहे हैं कि गुरुमुख से सम्पू्क भवण करते समय उस स्वयम्भू ज्ञान का धीरे-धीरे उदय होता है, और साक्ष समझता है कि गुरुदेव मुझे ज्ञान दे रहे हैं। लेकिन वह ज्ञान आराम में स्वर्य निहित है; ज्ञान आपका का स्वभाव ही है। वह कहीं से प्राप्त नहीं करना पड़ता। गुरुमुख से सुनी अनुग्रहमयी वाणी को निमित्त बनाकर वह हृदयस्थ कमल खिलता जाता है।

परब्रह्म का साक्षात्कार जब होगा तब तो मनुष्य पूर्णकाम, आप्तकाम बन ही जायेगा, किन्तु शब्दों में भी उसका वर्णन सुनते ही चित्त एक अनुपम सुख से भर जाता है। जाना है उस पार; लेकिन इस पार लड़े हुए भी शब्दों द्वारा उस पार की जो शांती झलकती है उसी से चित्त तन्मय होकर आनन्द से भर उठता है। परब्रह्म का लक्षक-निरूपण सुना-जीवन का परम सत्य तत्त्व सद्-चिद्-आनन्द-स्वरूप है, प्रेममय है। यह सुनते-सुनते ही हृदय में एक ऐसा भाव पैदा होता है जो किसी भी इन्द्रिय-सुख से उपरान्त नहीं हो सकता।

[आत्मसाक्षात्कार की अपूर्वता का वर्णन कर रहे हैं कि] इन्द्रिय-विषय संयोग से जो सुख उपभन् होता है वह षष्ठीभर भी ठहरता नहीं। वह विषय-सापेक्ष, काल-सापेक्ष, परिस्थिति-सापेक्ष है तथा क्षणिक है। फिर उसके पीछे बार-बार चित्त दौड़ता है, उसे प्राप्त करने के लिये भ्रम करता रहता है। ऐसे सापेक्ष व क्षणिक सुखों के पीछे दौड़ते रहना-यही संसार है।

परब्रह्म-साक्षात्कार का आनन्द सर्वथा देश-कालादि से निरपेक्ष है। और उसके विषय में भवणमात्र से आरमोत्साह होता है। जब प्राप्त हो जाव तब वह शाश्वत बना ही रहता है। वह षष्ठी भर में छुट हो जाने वाला सुख नहीं।

(राजयोग के परिणाम का वर्णन कर रहे हैं कि) संसार में सत्य क्या है असत्य क्या है? सार क्या है असार क्या? शाश्वत क्या और नश्वर क्या? इसकी पहचान के किन्तु पर लखें हो जाओ! वहाँ लखें हो कर जीने लगे तो वह आनन्द कभी

निवृत्त नहीं होता। विषय-सुख निवृत्त हो जाता है, उसके बारम्बार पुनरावर्तन की इच्छा होती है। सुख के पुनरावर्तन की इच्छा संसार की जननी है।

एक बार यह आनन्द चित्त में आया कि फिर कभी घटता नहीं, मिटता नहीं। इस के लिये बारम्बार प्रयत्न नहीं करना पड़ता। और मनुष्य कभी उससे ऊबता नहीं। [इस बाल्यवन्त में मानस शास्त्र की मति कितनी अद्भुत है। परमानन्द की अपूर्वता में कहते हैं कि इस में Diminishing utility नहीं है। अनुभव आने पर महत्त्व घटता जायेगा ऐसा नहीं। इन्द्रिय-सुखों में प्रथम अनुभव के क्षण से क्रमशः आगे-आगे सुख की गुणवत्ता घटती जाती है। और एक हृदय बार-बार उस सुख से विरुग्णा या ऊब भी पैदा होती है कि उस अच नही चाहिये। विषयों में सुख देने की एक मर्यादा होती है। परमानन्द में वह सीमा नहीं है। वह अबाधित, अमर्याद, अक्षय्य है।]

वृ बुद्धिशाली तार्किक है। तैरे चित्त में यह शङ्का अवश्य उठेगी कि जब यह ऐसा अप्रतिम आनन्द है, तो लोग इसे लेते क्यों नहीं? क्यों उसके बिना दुःख भोगते रहते हैं और विषयों के तुच्छ सुखों के पीछे दौड़ने का भ्रम करते हैं। अपने ही भीतर निरर्थ-निरतिशय आनन्द का खोत समाया हुआ है उस आनन्द का आत्स्वाद क्यों नहीं लेते जो बिना भ्रम के ही सुलभ है। यह इतना पवित्र है; रम्य है, चमत् है, सुखद उपाय से गम्य (प्राप्त करने योग्य) है, और अपने आप अपना रहस्य खोलने वाला है; तो क्यों लोग इस की ओर नहीं आते? —यह शङ्का उठाना अतीव स्वाभाविक है।

फिर भी अर्जुन वृ जानता है न, कि दूध गाय के धान में है, दूध अनीब मधुर एवं पोषक है, सुलभ भी है, किन्तु दूध को दुग्धन न जानते हैं, दूध पीने की युक्ति व कला न जानते हैं तो दूध मिलता नहीं। गाय के धान पर चिपटी हुई भी ओक या चिचड़ा अष्टुद्ध रक्त ही पीते हैं, उसी स्वचा के परदे के पीछे स्थित दूध का स्वाद भी वे नहीं चखते।



[दोहन-प्राशन की मुक्ति द्वारा शक्ति कर रहे हैं—हठयोग-मन्त्रयोग-तन्त्र की शारीरिक-मानसिक-बौद्धिक प्रक्रियाओं की ओर। गाय के शरीर में दूध की तरह संसार में सर्वत्र आत्मतत्त्व समाया हुआ है। उसे उपलब्ध करना पड़ता है उक्त प्रक्रियाओं द्वारा अथवा ज्ञानमार्ग से; वह दोहन है, और प्राशन करना भक्तिमार्ग है। एक तर्क की नजर होती है एक प्रेम की, भ्रष्टा की। जिन में भ्रष्टा-प्रेम नहीं है उन्हें दोहन की प्रक्रियायें करने दो, मैं तुझे सरल उपाय बताता हूँ—प्रेम से सीधे प्राशन करने का।

ब्रह्म के पदों के पीछे शाश्वत अमृत का सागर परमात्मा है जैसे गाय के घास में स्वचा के पीछे दूध है। उसे या तो दोहन करके पा लो, या सीधे प्राशन कर लो। [इस प्राशन की कला मैं तुझे सिखाऊँगा यह संकेत है। महाराज की एक-एक उपमा घटशास्त्रों से अनुबन्धित है; विविध-विभिन्न मार्गों की मुद्रियों व अपूर्णताओं के प्रच्छन्न संकेत हैं, निषेध या लक्षण के लिये नहीं, पूर्णता की प्वास बढ़ाने के लिये! निषेध करों तो हठीला चित्त उसी की ओर दौड़ता है। इसीलिये 'अद्वैतामृतवर्षिणी' गीताजी की श्याख्या जो 'पञ्चम-पुरुषार्थ-प्रयोगिनी शानेदकरी' में हुई है, उस में बड़े मीठे एवं अमृते रास्ते से पूर्णता पाने का निरूपण हुआ है। लक्षण-निषेध नहीं, अपूर्णता व मर्यादाओं का सूचन मात्र है।]

त्वचा के पदों के पीछे वर्तमान-दूध का प्राशन न कर पाने वाले जीव-जन्तु अशुचि रक्त ही चूसते हैं। और देखो, तालाब में कमल खिले हैं, उसी तालाब में मंडक भी रहते हैं। वे खाते हैं कीचड़ और कीड़े मकोड़े। उसी तालाब में खिले कमलों के परिमल से लिये हुए भ्रमर दूर-दूर से वहाँ आते हैं। परगण को भी झकका न लगे ऐसी सुकोमल रीति से वे कमल पर बैठते हैं, परिमल का सेवन करते चले जाते हैं।

इसी प्रकार संसार में रहते हुए अधिकतर जीव (जोक-मक्खी व मंडक आदि के दूध व वीरभ खेड़ कर रक्त व कीचड़ खाने की तरह) विषय-

सुख के पीछे भ्रम करते रहते हैं। मति व बलि है अपनी-अपनी।

किसी अभागों के घर में दबा है स्वर्णमुद्राओं का भण्डार। वह जानता नहीं, और दर-दर मील माँग कर जूटा अनन्य ला कर उसी घरती पर बैठ कर खाता है, कमी भूखा रहता है।

[यह वर्णन ज्ञानेश्वर महाराज ने आठ सौ वर्ष पहले किया; लेकिन मनुष्य ने जो संस्कृति बनायी है—पदार्थ-परायण, उपभोग-परायण, उसमें यही तो हो रहा है। इस देश में जन्मी-पली थी आत्मपरायण जीवनरक्षिक संस्कृति, शिक्षण-शैली एवं विचारधरणी। उसे भूल कर यहाँ का भी जनजीवन व्यस्त-प्रस्त है पदार्थों के पीछे दौड़ने में, बीभ्रस उपभोगालसा में। उसी के लिये आक्रमण-शीलता, हिंसा, हठ, तरह का दुर्गचार-योग्य-असत्य-कपट, स्वर्धा आदि मानो आज की जीवन शैली ही बन गये हैं।

यस अनुकूल जोड़ती हूँ क्योंकि हमें यह ग्रन्थ केवल मन-बुद्धि के रत्न के लिये नहीं पढ़ना है। युगधर्म माँग रहा है पलायनवाद में से निकाल कर जीवनाभिमुख बनानेवाला अप्याय! नया मनुष्य बनाना है। वह भ्रष्ट कैसा होगा? उसका धील क्या होगा?—यह शानेश्वरी जैसे ग्रन्थों में से सीखने को मिल सकता है। वह सीखने के लिये पढ़ना है।

इसी सन्दर्भ में कह रही थी कि घर में ही पढ़ी हुई निधि की उपेक्षा-अवहेलना करके भील माँगने भटकते या भूले परते दुर्भाग के समान हम लोग अपने ही भीतर बैठे भ्रान्दभ्रद की ओर न देखकर विषयों की ओर दौड़ रहे हैं सुख की लालसा में।]

वही कह रहे हैं वासुदेव-कि-हृदय में उसी प्रकार मैं रमण करने वाला-समस्त सुख का आभय-धाम-बैठा हूँ [यहाँ 'राम' दशरथपुत्र अर्थ नहीं देना, वासुदेव भी केवल वासुदेवपुत्र-तनु को नहीं समझना। हृदय में रमण करनेवाला-'सच्चिदानन्द'-रूप आत्म-तत्त्व ही अभिप्रेत है। जो परमहंसों की गति है सत्य-असत्य की पहचान जिसके आभयण से होती है। जाग्रति-स्वप्न-सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से अतीत जो इन सप्त अवस्थाओं में चलने वाली मन-बुद्धि

को वृत्तियों, क्रियाओं एवं चेतना का साथी रहता है । वह निष्कल परब्रह्म ही आत्मतत्त्व है, वही 'मैं हूँ'—ऐसे जीवन के दुँकार का आचार है, केवल पंचमहाभूतों की समिलित इति (emulgamation) जीवन नहीं है । अन्वय ही बहुदेवसुत श्रीकृष्ण का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस परमतत्त्व की सुविरोध अभिव्यक्ति था; 'दान' ही जिन की मुद्रा थी और वे विरोध पावन थे ही । किन्तु अब वे कहते हैं— "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।" तब केवल धारण के श्रीकृष्ण विमह की ही शरण लेने का आशय नहीं है ।]

तत्त्व रूप से कह रहे हैं कि सब सुख जहाँ जाकर विश्राम पाते हैं वह मैं मीतर बैठे हुए हुआ हूँ तो बाहर भटककर भ्रान्त-क्लान्त-भ्रान्त क्यों होते हो । [मनुष्य को भ्रम होता है कि विषय सुख देते हैं । लेकिन देखिये—शव में सब इन्द्रियाँ अपनी जगह हैं, चारों ओर सब विषय भी हैं, फिर क्यों नहीं सुख देते ? निश्चित तथ्य है कि विषय सुख के निर्माता नहीं हैं सुख की अनुभूति या संवेदन लेने वाला तत्त्व कुछ और ही है ।]

अर्जुन ! तू पूछ रहा है कि इना सुलभ—सहज एवं कमी निश्चय न होनेवाला परम सुख छोड़कर लोग क्यों विषयों की ओर जाते हैं ? उसका उत्तर यही है कि वे भ्रमित होते हैं । [आतपास जो विषय दिखते हैं उनमें सुखाभास होने से वे उन की ओर दौड़ते हैं—मृगजल की ओर दौड़ने वाले मृग की तरह । पलभर रुक कर विचार करें तो उस सुख की आभासरूपता समझ में आ गी जाय, कि सुख देने की शक्ति किसमें है ?—इन विषयों में ? या इन का संवेदन—ग्रहण करने वाली इन्द्रियों में ? इन दोनों का संयोग कराने वाले मन में ? या मन से मी परे कोई चेतना है ? ऐसे रुक कर विचार करें कौन ? विषयों की अपरिमित विविधता—विविधता—विविधगता देखकर चित्त भ्रमित—झुंझ हो जाता है कि 'यह सुख देगा, वह सुख देगा ।' इनलिये मनुष्य के हृदय में ही जो आनन्द का स्रोत विद्यमान है—उस स्रोत को देखने की मुक्ति उसे नहीं होती; इसीलिये उस आनन्द को चख नहीं पाता । परिधि पर घूमता रहता है

केन्द्र तक पहुँचता नहीं । विषयों—व्यक्तियों—स्थानों को बदलता चलता है । या तो अनुकूल संवेदनों (सुखों) को कैद कर रखने की कोशिश करता है ।.. ]

जिसे विपरीतज्ञान होता है उसे भ्रान्त कहते हैं । दूसरी—निरापद उपमा ले लें—आम मीठा है, नींबू खट्टा है, करेला कड़वा है, मिर्च तीखी है... यह सब देखा । फिर कहा कि 'आम ही अच्छा लगता है, हर समय नस बढ़ी चाहिये । और कुछ नहीं ।' ऐसे एक के प्रति प्रियता के साथ-साथ औरों के प्रति अभिप्राय पैदा करली । उन वस्तुओं के गुण-धर्म उपयोगिता नहीं देखी ।

विचार करें तो सभी रस धरती—जल एवं सूर्यकिरणों में, चन्द्रमा की अपोलना में, पवन में, पड़े हुए हैं, धरती में गढ़े बीज, अद्भुतरित होकर अपनी-अपनी संरचना के अनुसार रस इन सब में से खींच लेते हैं । पंच महाभूतों में से बने सब फल—धान्य आदि में विविध गुण-धर्म हैं । जब जिस की आवश्यकता पञ्चभौतिक शरीर को हुई—तब उस का उपयोग किया । इन में प्रियता—अप्रियता के पाश क्यों पैदा करना ? जो पदार्थों—विषयों—व्यक्तियों के बारे में प्रियता—अप्रियता के पाश पैदा कर लेता है उसे ही भ्रान्त कहते हैं ।

अमान्त्रममशरं नास्ति, नास्ति धनस्पतिरोषधिं विना ।  
अथोप्यो पुरुषो नास्ति, योज्यस्तत्र दुर्लभः ॥  
योग्य समय में योग्य वस्तु की योजना हम करें; किसी रस में अनुकूलसंवेदन हुआ तो उसकी आवश्यकता के समय उसका आनन्द भी ले लें, किन्तु फिर उस प्रियता—अप्रियता को संस्कार रूप में बचा क्यों रखें ? उन संस्कारों से फिर प्रस्थि मन्ती है । ऐसे सुष्टि में से 'संस्कार' बनाते रहते हैं हम । कड़वा कड़वा लगेगा, मीठा मीठा लगेगा, उन्हें मिथ्या नहीं कहना है, नस प्रियता—अप्रियता नहीं लानी है ।

यह निरापद दृष्टान्त लिया, इसे व्यक्तियों के प्रति मनोभावों एवं सम्बन्धों में टपकाकर देखो ! तब—तब के स्वभाव मिलेंगे व्यक्तियों में जब जिस के साथ जो व्यवहार उचित हो वह अवश्य करो, लेकिन उसमें पक्षपात (prejudice—preference)

क्यों लगना ! प्रियता-अप्रियता ही पाश है, वही मन्थि बनना है, उसमें बँधा चित्त संसार का द्वन्द्व-पलाश छड़ा करता है—बन्ध न हो तो सृष्टि में कन्धन नाम की कोई वस्तु है ही नहीं ।

जो यथार्थ को पढ़ानेगा और यथार्थ के साथ योग्य व्यञ्जहार करेगा उसको कन्धन कहाँ ! कन्धनों का लोचनाना मिथता-अप्रियता द्वारा हम ही बुनते हैं न ! किसी में आसक्त होते हैं, किसी से दूर भागने की कोशिश करते हैं—व्यर्थ का स्रटाटोप-परिश्रम करते रहते हैं । फिर थक कर बैठ जाते हैं 'हरा दिया इस संसार ने'—कह कर । अपने ही आसपास घूमता हुआ मनुष्य थक जाता है, फिर कहता है—“आध्यात्मिक-आधिदैविक-आध्यात्मिक- (शारीरिक) तारों से सन्नत हूँ । कोई उडार करे !” नदी के किनारे खड़ा हुआ व्यक्ति पानी में अपना प्रतिबिम्ब देखकर चिल्लाता है “मैं हूँ बंधा ! बचाओ कोई !!” अरे भाई, तू डूब गया है तो चिल्ला कौन रहा है ?

ऐसे पाश हम स्वयं उत्पन्न करते हैं, काटने के लिये किसी और की अपेक्षा रखते हैं । कोई आ कर दो-चार बार पाश काट भी दे तो बढ़ी सिफत (कुशलता) है हम में रोज नये पाश बनाकर उनमें खुद बँध जाने की ! अब रोज कौन आ कर दिनरात हमारे पास बैठेगा हर समय बनते पाश काटने के लिये ।

चित्त भ्रान्त होता है—(१) विपरीत-ज्ञान से (२) अनुकूल-संवेदन छूट न जाय — इस भय से (३) ईर्ष्या के कारण (४) क्रोध के कारण, इत्यादि । कन्धन निर्माण एवं परिणाम का क्रम द्वितीय अध्याय के अन्त में कहा ही गया है ।—

मनुष्य चल रहा है मधुमूमे में । अमृत का घूँट लिये हुए । मध्याह्न के समय दूर सामने लहराता हुआ मृगजल दिला । तब मन में आया कि “वहाँ इतना सुन्दर सरोवर है, अब मुँह का पानी बूक दूँ” । वासुदेव कहते हैं ऐसे अमृत बूक कर मृगजल की ओर लपकने वाले की जैसी ही गति है मनुष्य की ! उसके हृदय में 'मैं' बँधा हुआ है । पर मेरी अपेक्षा कर के बह बाहर विषयों की ओर दौड़ता है ।

अमित करने वाले दो पाश हैं—“मैं हूँ” और “मैं इस विश्व से अलग हूँ; इसमें इतना-इतना अंश मेरा है । मैं स्वतन्त्र हूँ, विश्व मेरे लिये बना है, मैं इसका उपयोग करूँगा । दूसरों को नहीं करने दूँगा !” १-“मैं हूँ”, २-“मैं इस विश्व से अलग हूँ ।” ३-“विश्व मेरा भोग्य है, मैं भोक्तृ हूँ ।” ४-“मैं इसका मालिक हूँ ।”—[यह सब आज की उपभोग-परायण संस्कृति का ही वर्णन है ।]

कन्धन के दो कारण हैं—“मैं” और “मेरा” । [अरे भाई जिस समय जो मिला उसका आनन्द लूटें जी भर ! यह तो ठीक है । लेकिन आनन्द देने वाली उस सामग्री को बुझा कर अपने परिग्रह में रखने की इच्छा रहे (ताकि वह दूसरों को न मिले) तो यहाँ कन्धन का जन्म होता है । 'मेरा' में से परिग्रह और 'मैं' में से पृथक्त्ववाद (Alianation) पैदा होता है ।

सृष्टि में अपने सामने वृक्ष-वनस्पति सागर हैं, वे जैसे वैदिक जीवन में से कुछ उन्मेष व अभिव्यक्तियाँ हैं जैसे ही मनुष्यजाति भी है । लेकिन मनुष्य ने स्वयं को श्रेष्ठ मान लिया है, नाभी सच कुछ को अपना भोग्य बना लिया है । यहाँ भूल की बड़ है ।

अपने आप को सृष्टि से पृथक् एक स्वतन्त्र सत्ता मान लेना ही संसार की जड़ है ।

बच्चे को क्रम से ही कुछ नाम दिया; सिल्लाते रहे उसे कि 'तू 'राम' 'गोविन्द' 'करीम' 'जान' है । हमने नाम दिया उन शरीरों को, लेकिन साथ ही चेतना को उस शरीर के साथ दृढ़ बाँध दिया । बच्चे के शरीर के अन्दर जो जीवन है वह कच्चा या पुत्र नहीं है । फिर यह भी सिल्लाया कि “तू कावा है”, “तू गौरा है”, “तू सुन्दर है” “तू क्रूर है”—“तू लम्बा है”, “तू नाटा है”, “तू मन्दबुद्धि है”, “तू चतुर है”, बुद्धि-शाली है”—इस तरह शरीर-मन के गुणधर्मों को उस चेतना व जीवन के साथ बाँधते चले गये । उसका आहंभाव साधे तीन-हाथ वेह में कैद हो जाता है । आत्मा का संकोच करते-करते हम अहङ्कार का विकास करते हैं ।

आत्मा के सङ्कोच में से अहङ्कार का जन्म है। हम बच्चे को सिखाते हैं 'तू ऐसा है, तू वैसा है!' 'तू ब्राह्मण है, जैन है, मराठी है, पंजाबी है.....' देह के उपाधि उसकी चेतना पर धोपते चले जाते हैं। बच्चे का उसका सच्चा स्वरूप सिखाने के लिये क्या 'मदायता' ही चाहिये कि 'तू इस देह में रहने वाला देही है।' यह क्यों नहीं मातायें सिखा सकती हैं? क्यों नहीं विद्यालय सिखा सकते हैं? देह और देही का विवेक यदि बचपन से लेकर महाविद्यालय आने तक सिखाया जाय तो यह 'अहं-मम' का विकास और उसके कारण होने वाले सब विनाशकारी हेतु पैदा नहीं होंगे।

उपाधियों-तदारमताओं-विविध भूमिकाओं की तहों पर तहें (परतें) जमाते चलते हैं हम देह के आचार कीते हुए देही (जीवन) पर। नाटक में जैसे तीन घण्टों के लिये कोई राजा-सिपाही-रानी-आदि बने, उसे मालूम है कि यथार्थ में मैं अमुक व्यक्ति हूँ; राजा आदि नहीं। यह उलझने जैसे मालूम है, जैसे संसार में जीते समय-पुत्र-भाई-पत्नी-पति-माँ-पिता बना; किसी समाज का घटक बना; किसी देश का वासी नागरिक बना—ये सब वास्तव में देह-माध्यम के कारण आयी हुईं उपाधियाँ व भूमिकायें हैं; इनमें रहने वाला मूल जीवनतत्त्व मैं निष्ठाधिक-स्वतन्त्र सत्ता हूँ—यह क्यों नहीं याद रहता है? जीवन में कोई लिङ्ग-जाति-वर्ण-धर्म-देशीयता आदि नहीं। यह समझते हुए वेहगत-मनोगत भूमिकाओं से ट्यक् आने मूल सत्त्व तत्त्व की बहचान के अनुरूप जीवन जीना अध्यात्म हैं—दैनिक व्यवहार में आचरित होने लगे ऐसे नवीन युगधर्म की स्थापना की वेला है अब। देखा मानव-धर्म जो सम्प्रदायों की दुष्टता संकीर्णता को हटा कर रहेगा। आज के सभी सम्प्रदाय (हिन्दू—सिख—जैन—बौद्ध—मुस्लिम—ईसाई आदि) धर्मविहीन हो गये हैं। ये धर्मविहीन सम्प्रदाय और जीवन के हर क्षेत्र को अपनी दाढ़ में लेने वाली राजनीति व सरकारें—इन दोनों के बीच आज जनता कुचली जा रही है।

इस लिये आज नये धर्म की आवश्यकता है जहाँ धर्मों में मातापिता एवं विद्यालयों में शिक्षक नई पंढी को सिखायेंगे देह-देही का विवेक। मानवधर्म सिखायेंगे।

'अहं' और 'मम' का धर्म समझ कर जीने लगे तो जीवन में जब जो जितना आवश्यक हो वह वस्तु, पदार्थ लाया जायेगा, जीवन में उपयुगी उपभोग भी आनन्द से किया जायेगा, लेकिन अति-परिमह नहीं होगा। पदार्थों की विविधता बढ़ाते चलने में सब उपयोग-बच्चे परस्पर आगे रहने की कोशिश किया करते हैं, इससे उपजे बेशुमार पदार्थों के आार बैबिच्य-की चक्काचौक में वेसने वालों की (पहले से प्रमित) मति और भ्रान्त-उमत्त हो कर पागल की तरह चाह बढ़ती चलती है; उद्यम जुड़ती है तुलना व स्पर्धा! परिणाम वध परिग्रह-लालसा की अन्धी दौड़ का कहीं अन्त नहीं। उपभोग्य पदार्थ बढ़ाते रहना श्वापारियों का धन्धा, उन की विक्री या वितरण के लिये बाजार बढ़ाना सरकारों का धन्धा, और इन दोनों से प्रस्त मन की लालसा एवं परिग्रह बढ़ाते रहना समाज का धन्धा। इस जाल में फँसा उपभोग परायण चित्त हमेशा क्षीण होता जाता है। वह सुखी परायण एवं भीरु (कायर) बनता है। उसीमें से भ्रष्टाचार पैदा होता है।

इस सब की जड़—अहन्ता व ममता पैदा ही क्यों हो यदि बच्चों को शैशव से ही सिखाया जाय कि जैसे पुरे आकाश व वायुमण्डल में ध्याप्त बिजली को काम में लेने के लिये बिजलीघर काम करते हैं, विज्ञान की युक्त द्वारा एक स्विच दवाने से बिजली उपकरणों को चलने लगती है। ऐसे ही सर्वव्यापक जीवन या आत्मतत्त्व के व्यवहार के लिये स्विच जैसे हैं ये देह-मन। तो. मेरा धारी है, इसे भूल लगी, अनुकूल भोजन खिलाओ, यहाँ तक ठीक है। लेकिन इसके आसपास ये प्रियता-अप्रियता के पादा मत पैदा करो; जाति-सम्प्रदाय-क्षेत्र आदि के धेरों की कैद न खड़ी करो। अवस्थेय तदारमताओं की परतों-पर परतें न बढाते जाओ देही-चेतना-जीवन पर।

यह नहीं करते हैं इसीलिये नई-नई वास्तवों पैदा होती जाती हैं और जन्म-मरण का चक्र छूटता नहीं। माँ के पेट में नौ महीने रहकर बाहर आना-इतना स्थूल अर्थ न लें 'जन्म' का। चित्त में एक श्रुति या वासना पैदा हुई तो मान लेना कि एक जन्म का सामान जुड़ा लिया आप ने। क्योंकि आज जो वासना मुख्यावस्था में है वह कभी न कभी वैद घाण्ट करके उपभोग द्वारा टूट हुए बिना नहीं छूटेगी। श्रुति का पैदा होना ही जन्म है। इसीलिये चित्त को अबेक से अधिक निर्विकार-निर्विचार अवस्था में रखने की बात अध्यात्म में कही जाती है। निर्विकार-निर्विचार-निर्वातन अवस्था में चित्त रहे वह सच्ची नग्नता है।

इसी का शिक्षण देना व देना है कि चित्त में वासना उठे ही नहीं। शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करनी है वह अवश्य अच्छे ढंग से करें। उसके अभाववा अपने लिये कोई संकल्प-विकल्प और राम-द्वेष का पसावा जुटाना नहीं है। भौतिक पसावा तो बाधक नहीं ज्ञेया। संकल्प-विकल्प व राग द्वेष का पसावा बहुत हानि पहुँचाता है। किसी के प्रति आसक्ति या द्वेष पैदा हुआ हो तो, और इस जन्म में उसे जीकर पूरा करने का मीका न मिला हो तो दूसरा जन्म लेकर उसे जीना ही पड़ेगा। यह मनुष्य का शरीर-मन ही कल्पतरु या चिन्तामणि है कि यहाँ जो भी विचार उठे वह कभी न कभी पूरा भोगना ही पड़ता है।]

वासुदेव कह रहे हैं कि अहन्ता-ममता की श्रुतियों से लोगों की चेतना मलिन रहती है इसीलिये ये अपने भीतर विद्यमान मुझे देख नहीं पाते। मैं तो विराज रहा हूँ सूर्य जैसा। सूर्य किसी एक घर या व्यक्ति के लिये प्रकाशमान नहीं। राजा के लिये सूर्य है रक्त के लिये नहीं--ऐसा नहीं। [विरवाकार होकर विराजमान है विरवाधार।] मैं (परमतत्व, साञ्चिदानन्द-स्वरूप जीवनतत्त्व) सर्वत्र सर्वदा हूँ ही। फिर भी लोग मुझे देख नहीं पाते तो उन्हें वह ओनन्द मिले कैसे? वे तो अपने छोटे-छोटे परीदे (मनोराज्य) बनाने में पड़े हैं। चित्त के कारागार लक्ष्मण कर के, मुझे अतिशय सहकुचित कर लेते हैं, उस कारागार की ही सजाने में व्यस्त रहते हैं किन्दीगी

भर। ऐसे 'अहं-मम'-श्रुतियों की साँपों में बैठे जन्म-मृत्यु की हूलखला का सामान जुटाते चले जाते हैं, इसीलिये—अन्के ही भीतर बैठे हुआ हूँ मैं जो उनकी आँखों से साक्षात् हूँ, उनकी स्वभाव में से स्पर्श करता हूँ, कानों से सुनता हूँ—फिर भी ये मुझे नहीं देखते। मेरी सत्ता केवल शान्दिक नहीं है; यथायै ही मैं सर्वत्र सर्वकाल में सर्वदा विराजमान हूँ, सुख के प्रति भावु जैसा सुलभ हूँ। [दिखने की दृष्टि हो, व्यक्त का पदां जराया हटाकर यथायै को देखने की उद्युक्तता हो तो दर्शन हो सकते हैं।] घूँघट प्रभु पर नहीं है, हमारी आँखों के सामने घूँघट है, इसी पदों को हटालें तो दर्शन सुलभ है।]

वैदिक दर्शनो के अनुसार आत्मसत्ता में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु-आकाश ये सब समाये हुए हैं। ये जब प्रकट होते हैं तो पहले आकाश प्रकट होता है, उसमें से वायु, वायु से अग्नि, उससे जल और जल में से पृथ्वी प्रकट होते हैं। अर्थात् आरमतत्व में से ये सब पंच महाभूत पहले तन्मात्रा-रूप में उपस्थित होते हैं। आरमतत्व में स्वसंवेद्यता (self awareness) अपने आप को जानने की सहज शक्ति है। बुद्धि से हम जानने की क्रिया करते हैं, उस जानने की क्रिया का जो परिणाम है उसको हम ज्ञान कहते हैं। लेकिन आरमतत्व में जानना कोई क्रिया नहीं है, जानने के लिये कोई गति नहीं करनी पड़ती; वहाँ ज्ञान स्वयम्भू है, सहज है। इसीको 'संविद्' कहा जाता है।

देहनिष्ठ भाषा में कहें तो पञ्चमहाभूत एवं मन-बुद्धि आरमतत्व में समाये हुए हैं जिन्हें प्रभु की भयथा प्रकृति कहा गया है। हम अपनी आँखों से जब मिट्टी के कण को देखते हैं तो उग्रमें जा ऊर्जा है, वह हमें नहीं दीखती। हमें दिखता है पदार्थ का कण; जिस में आकार-रंग-रूप-बजन है। कोई वैज्ञानिक हो तो वह उस कण का विश्लेषण कर के उसके सभी घटकों को, परमाणु के स्वरूप को जानना चाहता है। आशिर वेद उपनिषद्, गीता किस लिये हैं? जीवन का जो परमतत्व है, परम सत्य है वह क्या है—यह जानने समझने के लिये ही तो हैं! (कमधः)

[ वैज्ञानिक अपने यन्त्रों-उपकरणों से मिट्टी के कण को देखकर कहेगा कि यह अणु जो ऊपर से देखने में ठोस (solid) घन दिखता है। वह वस्तुतः बैसा नहीं है। यह तो ऊर्जा (Quantum of energy) है, इसका स्वरूप स्पन्दनात्मक (Vibrational) है। यह ऊर्जा सत्य है। हम कण को देख कर कहेंगे कि यह तथ्य है, आँसू-सापेक्ष सत्य है, पारम्परिक दृष्टि से सत्य नहीं है। हमको दिखता है कण, उसकी घनता दिखती है, वह दूसरे कणों से अलग है यह दिखता है। और पदार्थ विज्ञान-वेत्ता कहेगा कि यह तो ऊर्जा का सागर (ocean of energy) है। वैज्ञानिक समस्त जीवन के बाह्य विस्तार का निष्कर्ष निकालते (reduce करते) हुए ऊर्जा तक ले जाता है।

यहाँ महाराज जो कहना चाहते हैं—उनकी बात कुछ पकड़ में आये इसके लिये यह विज्ञान का सन्दर्भ दे रही हैं। वे कहते हैं अणु-परमाणु में भी ऊर्जा का सागर है। जैसे बोज में दृष्य समाया है, वैसे ही घनद्रव्य में भी ऊर्जा समायी हुई है। वह ऊर्जा ही कण का रूप धारण करती है। वह कहीं चोटो बनती है कहीं हाथी, कहीं घास का तिनका तो कहीं विराट् बटवृक्ष, कहीं सागर कहीं पर्वत इत्यादि। किन्तु वस्तुतः वह है ऊर्जा। यहाँ तक आज का पदार्थ-विज्ञान गया है। उसे पूछें कि “इस ऊर्जा को कौन धारण करता है? (गार्गी ने पूछा था याज्ञवल्क्य को कि ‘इस आकाश को कौन धारण करता है? कहाँ स्थित है यह ऊर्जा?’) वैज्ञानिक उत्तर देते हैं कि अवकाश (space) में ही ऊर्जाओं की झोड़ा चल रही है।

भारतीय तत्त्वविज्ञान कहता है कि आत्मा के स्वरूप में है चितिशक्ति, वह स्वसंवेद्यता के रूप

में व्यक्त होती है। जिसे आनन्द या अकारण उत्प्लास अथवा प्रेम कहते हैं। आनन्द को प्रेम से अलग नहीं किया जा सकता। (उपभोगों में मुख है, आनन्द नहीं।) ये सत्-चित्-आनन्द आत्मा में समाये हुए हैं। ये हमको नहीं दिखते, हमें तो पदार्थों के रूप दिखते हैं।]

यहाँ (नवम अध्याय में) वासुदेव कहने वाले हैं कि “ये आकार मैं नहीं हूँ, इनमें जो तत्त्व है, वह मैं हूँ। तू जिनको प्राणी कहता है उनके असंख्य रंग-रूपादि हैं, वह मैं नहीं हूँ। घड़े का गोल आकार कुम्हार ने पैदा किया। मिट्टी गोल नहीं थी। इस गोलाकार में मैं नहीं हूँ, मिट्टी में हूँ। आपने जो नाम दिये हैं और जिन रूपों को इन्द्रियाँ छूती हैं—उन नाम-रूपों में मैं नहीं हूँ। लेकिन इन नाम-रूपों का जो आधार है एवं इनकी कार्यशक्ति है, वह मैं हूँ। जल की शीतलता व विजली मैं हूँ। पञ्चमहाभूतों का तत्त्व मैं हूँ। भक्त कहते हैं—अखिल ब्रह्माण्ड में ये नाम-रूप-आकार-रंग-रस-गन्ध जिसके कारण पैदा हुए—वह एक-मात्र तत्त्व तुम हो, ये सब तरङ्ग जिस जल पर किल्लोल करते हैं वह जल तुम हो, जल में जो प्यास बुझाने की शक्ति है, प्रखालन करने की शक्ति, विद्युत् बनाने वाला वेग है, वह तुम हो।

[हमारी दृष्टि स्थूल पर अटक जाती है। हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद को पूछा था न! कि “इस लम्बे में हे तेरा भगवान्!” जिसको केवल पत्थर दिखता है वह उसे पत्थर ही मानता है, जिसे उसमें ऊर्जा-मण्डार दिखाई देता है वह उसका स्फोट भी कर सकता है।]

हे अर्जुन मैंने तुझे पहले (समम अध्याय में) अपनी द्विविध प्रकृति के विषय में बताया है। एक है जीव रूप से व्यक्त होने वाली प्रकृति,

दूसरी है पंच महाभूत तथा मन-बुद्धि-अहङ्कार—ऐसे आठ रूपों में प्रकट होने वाली अष्टधा प्रकृति वह आशय (content) है। उपादान नहीं। जब इस अष्टधा प्रकृति में साम्यावस्था रहती है, किसी प्रकार का वैषम्य नहीं होता, तब जीव रूप प्रकृति प्रकट नहीं होती; जब इन आठों में जरा भी क्षोभ या वैषम्य आता है तब दूसरी प्रकृति जीव रूप धारण कर लेती है।

प्रसङ्ग चल रहा था कि बुद्धि को फिर से कल्पना की नींव न आये, ऐसा रहस्य बताऊँगा। (उसी सन्दर्भ में आगे कहते हैं) यह जो भेरी प्रकृति है वह महाप्रलय के अन्त में भ्रमण में ही लीन हो जाती है। जैसे प्रखर प्रीण्य श्चतु के अतिरस में बीज-सहित तृण (घास व शस्य) भूमि में लीन हो जाता है। [शानेश्वर महाराज की वाणी की सुकामलता देखिये कि प्रीण्य की प्रखरता को भी 'रस' कहा है। वह बड़ा सार्थक है। किसान का पूछ देखिये। वह कहेगा कि गर्मी अच्छी न तपे, गरमी का प्रखर ताप धरती के कण-कण में रस (रच) न जाये तो फिर फसल अच्छी नहीं आती है, गरमी जितनी प्रखर हो चुकी हो उतनी ही धरती की बर्षा पाने की शक्ति बढ़ती है।] प्रीण्य के रस का अतिरेक होने पर बीज सहित घास वापस भूमि में सुलीन (भली-भरति लीन) हो जाते हैं।—[कविदृष्टि ने कैसे रसिकता से संवेदना ली होगी कि वैशाख-ज्येष्ठ की आष बरसती गरमी में धरती को रच-रग ज्वि जैसी तप गयी है उस पर उगते रहने वाले घास अपने बीज सहित सर्वथा सूखकर वापस धरती माँ में ही पूरी तरह समा गये हैं। हम जिसे संकट या अप्रियाप मान सकते हैं, वहाँ कवि को क्रान्तदर्शी दृष्टि कुछ न कुछ तत्त्व पकड़ लेती है। वह दुःख में, मृत्यु में, विषमि में भी तत्त्व देखती है, सभी जगह अपने परमात्मा का सत्त्व खोजती रहती है।]—बेने ही कल्प के अन्त में सभी भूत (सृष्ट-वदायं व प्राणी) भ्रमण में लीन हो जाते हैं।

[घास के सूख जाने को भी नष्ट होना नहीं कहा। क्योंकि वैदिक संस्कृति में किसी भी पदार्थ का सर्वथा विनाश (समाप्त हो जाना) माना ही नहीं गया है। मृत्यु भी रूपान्तर है। Destruction के लिये वैदिक भाषा में गुंजाइश नहीं Devil (शैतान) की भी सत्ता नहीं है। संहार और विनाश में अन्तर देखती है यह संस्कृति। क्योंकि सत्य का कभी आत्यन्तिक अभाव नहीं हो सकता और जो नहीं है उसमें सत्ता (भावरूपता) नहीं आ सकती।

“नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।”  
 “नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ॥”

शरीर जलता है, पानी में डूबता है, शस्त्रास्त्रों से कटता-छिन्न-भिन्न होता है, बीधा जाता है, किन्तु इसके भीतर जो तत्त्व है उसे काटने-डुबाने-जलाने की ताकत पदा ही नहीं हुई है।]

(दूसरी उपमा ले लो)—वर्षा श्चतु पूरी हो चुकी है, शरद् उतर रही है। आकाश निरभ्र हो गया, कोई बादल नहीं रहे। वर्षा के चार महीनों में आकाश सर्वदा बादलों से घिरा रहता था, काले, सफेद, धूरे कितने ही रंगों व आकृतियों में नित नई दृश्य योजना आकाश-रंघ मंच पर चलती रहती थी, शरद् श्चतु आयी तो वह सारी लीला नट-मण्डली सहित कहाँ लोप हो गयी? सब बादल भाग गये कहीं? नहीं, वे इसी आकाश में लीन हो गये हैं। वर्षा श्चतु में अपना काम किया, सब भूमिकार्य निभा दी, फिर आकाश में समा गये। [कहा है स्वयं महाराज ने कि 'कवि तो सन्दृष्टि के ईश्वर है।' और 'बाजी लगाकर अमृत को भी जीत लें अपने माधुर्य से, ऐसे शब्द रत्न गीतार्थ में सजाऊँगा।' भी गुह पर अन्दा की महिमा, अष्ट आत्मविश्वास, बाल-कलाकार के मोठे नखरे—सब पुल-मिल कर उतरे हैं इनकी वाणी में। ... शरद् श्चतु आयी—यह सोचें कैसे कहें? ]

शरद् ऋतु, ने मुद्दु कोमल भाव से, धीमे से अपना धँसट हटा लिया है। गरजने-कड़कने-चका-चौंध मचाने और समाप्तम वरसने वाली, तो कभी न बरस कर ही उम्मास द्वारा सबके जी को आकुल-व्याकुल करने वाली, चटाओं के कारामार में बेचैन बनाने वाली चटकीली गर्बोली बहुबोली, कभी अतिचञ्चल, तो कभी बोझिल मायाविनी वर्षा ऋतु बीत गयी तो शरद् को लगा कि अब कुछ समय तक मेरा साम्राज्य छा सकता है।

अपना प्रशान्त, प्रासादिक, नवमुग्धा नायिका का सुकोमल लावण्य प्रकट करने के लिए शरद् ने धीरे से धँसट सरका लिया कि न जाने कैसे सभी मेघ अपने दल-बल सहित गगन में समा गये। वैसे ही कल्प के अन्त में (कल्पना सिमट जाने पर) यह समस्त व्यक्त-सृष्टि भ्रष्ट अत्यक्त-अनन्त में लीन हो जाती है, समा जाती है।

आकाश की गुफा में जाकर पवन सोया रहता है; आप हिलायें तो जागवा-हिलता-डोलता है, नहीं तो आकाश की रिक्तता में चैन से सो जाता है। वैसे भ्रूतमात्र भ्रूममें सो जाते हैं। [पवन को हिला कर देखना, फिर हिलाना छोड़ देने से वह कैसा सो जाता है यह भी देखना! तब यह अर्थ समझ में आयेगा। जो निसर्ग का अवलोकन नहीं करता है ज्ञानेश्वरी एवं गीता का आशय पकड़ नहीं पायेगा। यह निसर्ग के प्रेमियों की वाणी है। बहु ग्रन्थों में से आधा हुआ (ग्रन्थिल-गाठ भरा-जटिल-उलझा) ज्ञान नहीं है, यह तो जीवन के सीधे सम्पर्क में से सम्बन्ध में से, निसर्ग के साथ प्यार जीने से उमड़ आया है।

ऐसी वाणी का अध्ययन करना होतो निसर्ग को प्यार से निरखने, उसमें जीने का शिष्य लेना चाहिये। यह जो सी बर्ष का जीवन चिला है वह शिष्य के लिये ही तो है? अन्तिम स्वास तक जो सीख सकता है वह जिन्दा रहता है, और जिस का सीखना समाप्त हो गया हो वह जीते जी मर गया मानो।

तरङ्ग जैसे जल में समा जाते हैं वैसे यह सचराचर जगद् भ्रूममें समा जाता है। [बाह्य निसर्ग के वाद मनुष्य-जीवन में से उपमा देते हैं।] नींद में आपने स्वप्न देखा। तरह-तरह के दृश्य-व्यक्ति-स्वान पदार्थ देखे। आप सोये हुए हैं बिस्तर पर और देख रहे हैं किना कुछ! तभी किसी ने हिला कर जगाया आप को। उठ बैठे तो वे सब दृश्य व व्यक्ति आदि कहाँ गये? कहाँ थे वे अब तक? (नयोंकि आप सोये, वहाँ तो कुछ नहीं था।) और नींद खुलते ही तुरन्त सब कुछ कहाँ चला गया? वे सब दृश्यादि मन में थे, मन ने ही लीन हो गये। मन का ही विस्तार था वह समस्त अनेकता। मन की दशा बदलते ही वह अनेकता एक (व्यक्ति) में समा गयी। वैसे ही बहु सृष्टि-रूपी स्वप्न कल्प के अन्त में भेरे स्वरूप में समा जाता है।

[अर्जुन की मुद्रा पर से प्रश्न भाँप लेते हैं—]  
 "लेकिन नये कल्प के आरम्भ में आप ही फिर से उस सब को उत्पन्न कर देते हैं न!" इसके बारे में किंवदन्ती है कि नये कल्प में मैं ही सृष्टि को पुनः उत्पन्न करता हूँ। इसकी उपपत्ति (युक्तिपूर्ण स्पष्टीकरण) मुन ले।

हे किरीटी, यह जो अष्टधा प्रकृति है, यह भेरे स्वरूप में समायी हुई है अतः यह भेरी है 'स्वकीया' है। इतना मैं कहता हूँ। [जैसे हम कहते हैं 'मेरा हाथ है' 'मेरा सिर या पाँव है' 'मेरा कपड़ा है।' कपड़ा उतार कर रख दो तो वह 'किसी का' नहीं कपड़ा हो है। शरीर के अवयवादि भी 'भेरे' या 'किसी के' नहीं रहते जब शरीर से अलग पड़ जायें. शरीर भी 'किसी का' नहीं रहता जब उसमें से प्रायः प्रयाण कर जाते हैं। 'मेरा' कहने का आशय यही होता है कि उसें 'मैं' ने अङ्गीकार कर लिया है। ऐसे ही ] अष्टधा प्रकृति 'भेरी' है इसका अर्थ यही है कि मैंने उसे अपना लिया है; 'भेरी है' इतना कहना मात्र ही प्रकृति से मेरा सम्बन्ध है। यह अपना सहजकाय



(सृजन) करती है। सृजन मैं नहीं करता, मेरे आश्रय से प्रकृति का धर्म सृजन होता रहता है।

‘स्वकीय का अङ्गीकार’ शब्द बड़े महत्त्व का है। सांख्य में पुरुष को द्रष्टा-साक्षी-अकर्ता कहा गया है और प्रकृति है जगन्माता-माहेश्वरी इत्यादि। ‘शिव’ के साथ ‘शक्ति’ है, वैसे आत्मा के साथ यह प्रकृति है। यह प्रकट व्यक्त होती रहती है, इसी से अनेकता दिखाई देती है। देखना (चिति, संवित्, अवलोकन) मेरा स्वरूप है। बस इतना ही प्रकृति का व मेरा सम्बन्ध है कि वह मुझमें रहती है।

और देखो ! वस्त्र है। उसमें तन्तु हैं आड़े-खड़े-टेंड़े मूँचे हुए। इन तन्तुओं के रखने-मूँचने की विविधता-विविधता में से ही तरह-तरह की नुनावटें मनुष्य ने बना लीं। इन तन्तुओं की ही किरा वस्त्र कहा जाता है। तन्तु सत्त्व है, कारण है, वस्त्र उनके विशिष्ट रीति से एकत्र रखे जाने का परिणाम है। वैसे ही सृष्टि में जो अपार विविधता दिखती है वह पंचमहाभूतों तथा मन-बुद्धि अहङ्कार के आड़े-खड़े-टेंड़े दौड़ने का ही परिणाम है।

यह इस का स्वभाव है; मैं सृजन नहीं करता। अष्टधा प्रकृति में प्रत्येक में प्रत्येक के अपने-अपने (एवं ऊपर से देखने में परस्पर विलक्षण ही नहीं-विरोधी तक)—स्वभाव हैं; इन्हीं के अनेकों प्रकार संयोग-वियोग से वह अनन्त-वैविध्यमयी सृष्टि बनी है, इतमें मेरा कर्तृत्व नहीं। केवल आधार हैं सब का; किसी का भी कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ।

दीवार पर चित्र बनाया गया। उसके—पेड़-पौधे, नदी-पर्वत, आकाश, बादल, नक्षत्र, सूर्य-चन्द्र की छटायें वद्यु-पत्नी, मनुष्य-जूड़े-बच्चे-रिनयापुष्प, उनके परस्पर विविध व्यवहार सङ्कट—मगुल कुछ दिखाया गया। वह सब कुछ दीवार पर है; पर दीवार का उससे कुछ भी सम्बन्ध—लेना-देना

नहीं। दीवार ने स्वयं चित्र बनाया भी नहीं। किसी की कल्पना रंघों व रेखाओं द्वारा मानो पूर्त हो उठी है। वहाँ अपने ऊपर यह सब होने देना—बस इतना ही सम्बन्ध है दीवार का उस चित्र में चित्रित पदार्थों से। ऐसे ही मेरा (परम तत्त्व का) सम्बन्ध सृष्टि का आधार होने भर का है। इस सृष्टि के पदार्थों की सुख-दुःख जादि अनुभूतियों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।

जैसे जल आधार है तरङ्गों का, कपास आधार है वस्त्रों का, भित्ति या पट आधार है चित्र का वैसे ही मेरी सत्ता चिति व आनन्द आधार है सम्पूर्ण जगत् का।

[ दूध में जरा सा जामुन डाल दो तो वह थोड़े समय में जम जाता है, दही बनता है। यह जमकर दही बनने का गुण यदि दूध की प्रकृति में न होता तो दही न बनता। जैसे कि पानी में जामन डालने से दही नहीं बनता। वैसे प्रकृति के सभी घटकों के स्वभाव में है दौड़ भाग करना (गतिशीलता) एक दूसरे में मिल कर हटकर कुछ नया रूप धारण करना, इसको भक्तों की भाषा में महारास कहते हैं; जीवन ही वृन्दावन है और अनन्त ऊर्जाओं का प्रभूसत्ता (नन्दनन्दन) के साथ महारास चल रहा है। विज्ञान ने तो प्रत्येक अणु में एक स्थिर बिन्दु और उसके चारों ओर असंख्य अति चञ्चल बिन्दुओं का सतत नर्तन प्रत्यक्ष देखा व वर्णित किया है। भक्तों की भाषा ने वेद से लेकर सन्तवाणी तक विविध रूपों से वङ् सत्य-तथ्य वर्णित किया है। उन शब्दों में हम उलझें नहीं। ]

किसी दूध का बीज बोया घरती में। उस पर पानी सौंचते रहे। इससे उसकी शाशोपशास्त्रा विकसित होती गयी। उन पत्तों व शाखाओं के साथ जल का क्या सम्बन्ध है? जल का सम्बन्ध है बीज के साथ। बीज में यदि प्रफुल्लित होने की और खिल उठने की शक्ति नहीं होती या बीज मृना सिका हुआ होता तो कितना भी पानी डालें,

वह अङ्कुरित ही नहीं होगा। ऐसे ही अष्टधा प्रकृति में अनन्त रूप से प्रकट होने की सम्भावना भरी पड़ी है, भेरी केवल सङ्कति है; इस साभिप्य के कारण वह सम्भावना प्रकट होनी चली जाती है। जैसे कि वृक्ष का कर्ता जल नहीं, केवल रीज भी नहीं; बीज और जल की संगति में से वह सब शाखा (पत्ते फूल-फलदि) उत्पन्न होता है।

लोग कहते हैं राजा ने नगर बसाया। क्या राजा ने उसके लिये कोई श्रम किया? नहीं, उसकी इच्छा हुई कि यहाँ नगर बने, बस उस इच्छा को अनुगामी सेवकों एवं जनता के लोगों ने मिल कर भूकान-बाजार-किला आदि सभी कुछ बनाया और अनेकों लोभ आ कर वहाँ बस गये। कहलाता है राजा ने नगर बसाया। राजा की इच्छा वहाँ हेतु एवं निमित्त-मात्र है; इसके सिवा राजा का कोई पुत्रवर्षा नहीं नगर बसाने में। इसी प्रकार मुख पर आरोप है कि मैंने जगत् बनाया, मैं ही इसका पालन करता हूँ इत्यादि, वह आरोप ही है, मैं सृजन-आदि कुछ नहीं करता, भेरा होनेपना (सत्ता) ही निमित्त बनता है प्रकृति द्वारा यह सब उत्पत्ति-आदि होने में। अथवा उस सत्ता में इतनी विलक्षण संभावना भरी पड़ी है कि अपने आप यह सब प्रकृति-परिणाम होते चलते हैं।

यह सब कहने का अभिप्राय इतना ही है कि ये जो अनन्त प्रकार के नाम-रूपादि दिखते हैं, इन प्रकारों का कर्ता मैं नहीं हूँ। भोक्ता भी मैं नहीं हूँ। भेरी सत्ता के आश्रय पर ये अपने आप बनते-पलते चले जाते हैं फिर अपने आप आ कर भेरी सत्ता में विलीन हो जाते हैं। जैसे मनुष्य का स्वप्न निद्रा में से जागृति में आने पर उसके मन में ही समा जाता है। [अष्टधा प्रकृति एवं आत्मा की स्वसंवेद्यता की सङ्कति में से ही समस्त जगत् उत्पन्न होता है, संगति न रहे तब विलीन हो जाता है। जो साधक हों वे अपने मन में चिन्तन करें कि जहाँ आत्मा की स्वसंवेद्यता एवं अष्टधा प्रकृति इन का सङ्ग न हाता हो ऐसी कोई निःसङ्ग असङ्ग

अवस्था है कि नहीं? स्वसंवेद्यता में ही परमात्मा की सत्ता निःशेष हो जाती है या आपे भी कुछ रहता है? वहाँ तो वे यही समझा रहे हैं कि जैसे जल पर तरङ्ग पैदा होते हैं, पर जल उनका कर्ता नहीं है वैसे ही निखिल सृष्टि के साथ परम सत्ता का सम्बन्ध है।

यहाँ साधक के चित्त में प्रश्न उठेगा—(जिसका जबाब आज तक किसी ने दिया नहीं है, और न ही कोई दे सकता है) कि धन-बुद्धि-अहङ्कार सत्ता पञ्चमहाभूत मिल कर सत्-चित् आनन्द स्वरूप सत्ता के अधिष्ठान पर सृष्टि बनती है, क्यों?—स्वभाव है; वह स्वभाव कैसे? प्रकृति का स्वभाव और आत्मा का स्वभाव—वे अलग क्यों हुए? कैसे व किस रस्ता पर आ कर अलग हुए? प्रकृति की एक एक चाल और आत्मा की दूधरी—ऐसे दो स्वभाव क्यों हुए? पूछने लायक सवाल है।

यहाँ तो महाराज इतना समझा कर आपे चलते हैं कि मैं कर्ता-धर्ता भोक्ता नहीं हूँ; तत्त्व-मात्र से आधार हूँ, आकारों को उत्पत्ति-स्थिति-प्रकृति का धन्दा है, उस से भेरा कोई सरोकार नहीं।

इसीलिये साधुसन्तों को गेहूँ की रोटी बना कर दे दो या हलवा-पूरी बना दो—उन्हें कोई फुके नहीं पड़ता; संसारी व्यक्ति को अलग-अलग आकारों में रचि रहती है, इसीलिये अनेकता में रस है; उस में फिर प्रियता-अप्रियता का खेल रचा जाता है, वहीं बन्धन पैदा होता है। आकार-प्रकार कुछ भी हो, जूरुत पूरी करने वाला तत्त्व-सत्त्व मिला नहीं?—इस पर यदि मनुष्य की नजर टिकी रहे, तो जीवन बहुत सारा व सरल हो जाय। यह बात उपयोग की प्रत्येक वस्तु पर लागू होती है। अनेकता एवं परिवर्तन में दिल उलझ जाता है। जिन्दगी का समय नष्ट होता है। धार्मिक बरवाद होती है।... अनेकता के पीछे दौड़ना इसी का नाम संसार है। अनेकता अपने आप में कोई अन्धन नहीं है।

इतना पकड़ में आ जाय फिर अनेकता से अपने को परेशानी क्यों हो ? “अमुक आदमी स्वार्थी है, दूसरा उद्दण्ड है, तीसरा क्रोधी है, चौथा जब देखो तब अपमान करता है ...” भले हों तब-तब के स्वभाव वाले लोग ! तुम्हें क्या ? तुम्हारा जब जिसके साथ सम्बन्ध आये तब परिस्थिति एवं मानवता के अनुरूप जो व्यवहार उचित लगे वह करो और अपना जीवन जीते चलो ! उसके बारे में राय बनाना, ग्रन्थियाँ बनाना फिर उनके आघार पर एक-दूसरे के साथ तीसरे की चर्चा करना, फिर गुटबन्दी और पक्षपात भरा व्यवहार—ऐसा जटिल घन्या चलता है सांसारिक जीवन के नाम पर !

अपने को श्री आनेश्वरी में से इतना ही सीखना है कि चाहे जैसे प्रसङ्ग आयें, सबके पीछे एक प्रभु की सत्ता है। उस सत्ता के कारण ही सब हो रहा है, हम इस अनेकता के मोह में पड़ कर भ्रमित न हों, दोड़े नहीं किसी को ओर या किसी से दूर ! श्राव्य-श्राव्य, परिस्थिति-श्राव्य जो कर्तव्य हो वह करें, चित्त में राग-द्वेष का कोष न आने दें। इतनी बात यदि पकड़ लें तो आनेश्वरी सुनना सार्थक होगा।

[ वही राजा वाली उपमा आगे बढ़ा रहे हैं ] राजा है—इतना ही प्रजा का अधिकार है। राजा है—यह घान लिये हुए ही प्रजा अपने-अपने काम करती चली जाती है, इसी प्रकार मैं कुछ नहीं करता।

[ इसे एक और दृष्टान्त से समझें। आज जहाँ हम बैठे हैं वह मकान जब नहीं बना था तब यहाँ क्या था ?—ऊबड़-खाबड़ जमीन और खुला आकाश ! अब यह मकान बन गया तो वह आकाश कहीं चला गया क्या ? या वह बँध गया ? अवकाश का ऐवबर्ध नहीं रहा ? नहीं, उस आकाश-अवकाश की रिक्तता-शून्यता पूरी तरह वहीं है जहाँ वह पहले थी, अर्थात् यहाँ का आकाश यहाँ ही है।

उसमें कोई फर्क नहीं पड़ा है। आकाश चौकोर था आयत नहीं हो गया है। उसमें कोई माप भी नहीं आया। वह बाहर के आकाश-अवकाश से अलग नहीं पड़ा है। कल यह मकान गिर जाय और कोई भोलाकार मकान बना दे तो आकाश की ओर से कोई प्रतिवाद या अडचन नहीं होगी।

यह निराकार आकाश जैसे सभी आकारों को अवकाश देता है, स्थूल भाषा में कहें तो सभी आकारों को धारण करता है—वैसे ही परमात्म-सत्ता प्रकृति के अनन्त व्यापार को सहन-बहन करती है। उससे सत्ता में कोई फर्क नहीं पड़ता है। आकाश ने मकान नहीं बनाया, हाँ उसकी निराकारता-अवकाशरूपता ने अपने में मकान बनाने दिया हमें। रिक्त-स्थान व अवकाश न होता ही मकान बनता कैसे ? वैसे ही आत्मसत्ता अष्टधा प्रकृति को अपनी स्वसंबंधता के साथ मिल कर अथत् रूपी लीला करने देती है। ]

राजा जैसे अपने स्थान पर बैठा हुआ ही प्रजा को अपने-अपने सब काम करने देता है, बैसा ही मेरा और प्रकृति का सम्बन्ध है।

पूनम की रात में सागर ऊँचे-ऊँचे उछलता रहता है चन्द्रमा से मिलने के लिये मानो अपनी भुजायें पसारता है उसकी ओर ! प्यार सधाता नहीं उस रात सागर के हृदय में। तो सागर के इस व्यवहार से चन्द्रमा को कोई कष्ट होती है ? चन्द्र की उस विशेष उपस्थिति में सागर उछलता है, चन्द्र उसे उछालता नहीं, पर हाँ चन्द्र न दिसता हो तब वह अभागा उछलता भी नहीं ! सागर के इस प्रेम की बहुरा का चन्द न करता है, न भोक्ता है, वह केवल स्थिर है अपनी सत्ता में। वैसे मैं अपनी सत्ता में स्थिर हूँ, फिर भी यह प्रकृति मुझे देख-देख कर इतना उपद्रव करती है तो मैं क्या करूँ ?

[ यह उपमा बहुत दूर की लगे शायद, अतः समीप की दृष्टान्त देते हैं— ] लोहे का टुकड़ा है और लोह चुम्बक (मैग्नेट) आग्नेय-सामने रखे ही।

लोहे का टुकड़ा खिचाँ चला जाता है चुम्बक से चिपक जाता है। तो क्या चुम्बक को क्षय पड़ता है लोहे को खींचने में क्या रस्सा कमी जाता और लगाना पड़ता है? लोग कहते हैं कि लोह चुम्बक ने खींच लिया। खिचा जाता है खुद लोहे का टुकड़ा। चुम्बक अपनी जगह पड़ा है; चुम्बकता (लोहे को खींचना) उसकी प्रकृति (स्वभाव यत् शक्ति) है। उसी के कारण लोहा खिंच जाता है। उसी प्रकार केवल मेरी सत्ता के कारण यह प्रकृति इतना उत्पात करती रहती है, अन्यथा मेरा उस उत्पत्ति-क्रिया-कलाप से कोई सम्बन्ध नहीं।

अर्जुन ! मैंने एक ही भूल कर दो कि इसे 'मेरी' कह दिया—अङ्गीकार कर लिया। वस इतने निमित्त से इसने इतने उपद्रव शुरू कर दिये, जिनके कर्तृत्व-भोक्तृत्व का आरोप मुझ पर आता है।

भूमि में बीज बोया, वह अङ्कुरित होकर बढ़कर लता बनी। वह पत्ते-फलियाँ-फूल फल आदि वैभव से लद गयी। ऐसे मुझमें जो बीज रूप से प्रकृति हैं उसमें यह सब शक्ति-संभावना पड़ी है।

मेरा और प्रकृति का सम्बन्ध कहना ही हो तो वह नौद और स्वप्न सृष्टि जैसा सम्बन्ध है। निद्रा जैसे स्वप्न का कारण है वैसे हे नरेन्द्र ! प्रकृति ही समस्त सर्जन की स्वामिनी है।

[ निद्रा त्वत्प उपजाती नहीं है ( वस्तुतः निःस्वप्न निद्रा ही स्वयं व पूर्ण निद्रा है ) स्वप्न तो मन में समाये हैं ? लेकिन निद्रा के कारण वेदना की जो भूढ़ प्रशान्त दशा होती है उसमें मन को अक्सर मिलता है अपनी दबी डकी वासनायें पूरी करने का । ]

स्वावर-अंगम, स्थूल-सूक्ष्म समस्त सृष्टि का उत्पत्ति-स्थिति-संहार सभी कुछ का मूल कारण एवं प्रयोजिका यह प्रकृति है। इसलिये समस्त जगत् के जन्म प्रतिपालन एवं संहार आदि घटनाओं

का मुझसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

[ बड़ा रहस्य समझा रहे हैं कि मेरी सत्ता पर, मेरी ही शक्ति द्वारा यह सारा विस्तार व्यक्त होता है, फिर भी मैं इसका कर्ता नहीं हूँ।

पानी जैसे लहरें बनाता नहीं, चन्द्र जैसे समुद्र को उछालता नहीं, चुम्बक प्रयत्नपूर्वक लोहे को खींचता नहीं, वैसे मैं किसी भी क्रिया-कलाप का कर्ता नहीं ! सर्व मैं श्रोत-श्रोत हूँ, सर्वमें व्याप्त हूँ। फिर भी सब व्यापारों से अलिप्त हूँ।

कोई जलाशय है, निस्तन्ध रात्रि है, शुक्लपक्ष की अष्टमी तिथि है। जलाशय में आकाश के नक्षत्र-तारे-चन्द्र प्रतिबिम्बित है। मन्द-मन्द पवन की हिलोरों से जलाशय में प्रतिबिम्बित चन्द्र-तारा-नक्षत्रों की मानो वेलि (लता) बन गयी है। फिर जल में तो सब अलग-अलग थे, जल हिलने से इन प्रतिबिम्बों के दूर-पास होने के कारण मानों कोई रेखायें बन गयी हैं, आकृतियाँ बन गई हैं। जल में चाँदीनी सहित चन्द्र-तारक प्रतिबिम्बित हुए हैं फिर लहरियों की हलचल से मानों वे आपस में गुँथ कर बेल या माला आदि आकृतियों में सब गये हैं। इसमें भला जल, चन्द्रिका व नक्षत्रों ने क्या किया ? फिर भी आकृतियाँ दिखाई देती हैं। ऐसे ही यह जो विविध सृष्टि दिखाती है इसके कर्ता-धर्ता मैं नहीं।

समुद्र में ज्वार (भरती) आ रहा है, बड़े वेग से धरती की ओर दौड़ रहा है। किसी ने सोचा कि इसे रोकने के लिये नमक की दोषार सड़ी कर के बाँध बना दें। तरङ्ग के एक ही शोक में वह पूरा बाँध सागर में समा गया। क्योंकि सागरजल से ही तो नमक बना था, घुलना उसका स्वभाव था। वैसे ही प्रकृति सतत कर्म करती रहती है, पति-शोला ही उसका स्वभाव है, कोई सोचे कि त्याग-बैराग्य का बाँध बना कर प्रकृति की गति रोक देगे तो वह ही नहीं पायेगा। तुम्हारे भोग-त्याग-वैराग्य आदि सभी कर्म अन्ततः मुझ में समा जाने वाले हैं क्योंकि वे सभी गतियाँ हैं जो प्रकृति से ही

उत्पन्न हैं। प्रकृति मुझ में समायी है अतः उसके सब कार्य-कलाप भी मुझ में परिसमाप्त होते हैं। फिर मैं किसी भी कर्म या क्रिया का कर्ता नहीं।

आकाश में बड़ा वेग से पवन चला। उस के वेग से धरती के सब नीचे खड़े पदार्थ दृष्ट-लतायें सब अन्य मानव निर्मित रचनायें जोर-जोर से डोलने लगीं, झक-झोरी जाने लगीं। तब लोगों ने सोचा कि पवन के इस वेग को रोकने के लिये घुएँ का बाँध बाँध दें; इसने ऊँचे आकाश में पवन के विस्तार तक पहुँचने वाली और तो कोई वस्तु हो नहीं सकती, अतः प्रचण्ड घुँओं का पर्वत पवन की ओर भेजा गया। घूमरजकणों की राशि कितनी भी विशाल हो वायु के समाने उसकी क्या बिसात ! क्षणांश से ही वह घुएँ का बाँध वायु-वेग में बिलौन हो ही जायेगा। वैसे मनुष्य प्रकृति के विरोध में कितने भी प्रबल त्याग-वैराग्य के बाँध खड़े करने चाहे, प्रकृति अपने वेग से सब उड़ा ले जाती है। मैं देखता रहता हूँ कि यह सारा व्यापार मेरी सत्ता पर होता है।

किसी ने कहा कि यह सूर्यबिम्ब बड़ा प्रखर है, सहन नहीं होता है, तो जरा अन्धकार का एक चन्दोवा खड़ा कर दें, तयकी दीवार बना दें बीच में। वह जैसे सम्भव नहीं वैसे किसी भी आवसंबाद ध्येय या सिद्धान्त के नाम से प्रकृति के कर्म-व्यापार को रोकने वाला कोई बाह्य कृत्रिम उपाय हो नहीं सकता।

“कुर्वन् एव इह कर्मणि जिजीविषेत् वात्समाः ।  
एवं त्वयि न अन्यथा इतः अस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

मुझमें होने वाले इतने व्यापारों का कोई भी रूप मुझ पर नहीं लगता है। वैसे ही तुम कर्म करते रहो अर्जुन ! यह कर्म तुम्हें बाँध नहीं सकेगा। चरह अन्दर से असक्त रहते हुए कहीं भी क्लिप्त न होते हुए तुम्हें यह अशेष (समस्त) कर्म (मुद्द तक) करने होंगे।

और देखो ! पर्वत पर पर्जन्य (मेघ) की झड़ी लगी है, जोर-शोर से गरज-तरज कर मूसलाघार

वर्षा द्वारा मानो पर्वत की पिटाई हो रही है। फिर भी पर्वत के पेट में जो ओषधि व सजिज भण्डार समाया हुआ है उसे जरा भी हानि नहीं पहुँचती। वल्कि वर्षा की झड़ियाँ पी-पी कर पर्वत और समृद्ध हो जाता है। वैसे मेरी सत्ता पर प्रकृति के कर्मव्यापार की मारा-मारी चलती रहती है लेकिन जैसे वर्षा की मार से पर्वत के उदर में कोई विकृति नहीं आती वैसे मेरी सत्ता में प्रकृति के कर्म-व्यापार से कोई विकृति नहीं आती।

[अद्भुत है शैली और गम्भीर विषय में अनायास ही श्रोताओं को गहरे-गहरे ले जाने की शाने-शवर सद्गुरु की सुकोमल रीति भी अद्भुत है।

इस प्रकरण में से हम इसना सोख लें कि—  
प्रकृतिस्त्वां नियोष्यति—

अपनी प्रकृति पहचान लेना ? उस में जो-ओ गुण, शक्ति एवं सम्भावनायें निहित हैं उनको सम्पक् रीति से व्यक्त होने अवसर खोल देना। लेकिन वे जो गुण हैं उनके कारण, अपने संस्कारों के कारण जो कर्म, होता चला जाता है उसको “मैं कर रहा हूँ”—कह कर अहङ्कार में फँसना नहीं।

मैं कहे ! मैं कहे ! यही अज्ञानता।  
घाकट का धार जैसे श्वान ताने ।”

अपने कर्त्तृभाव का तनाव नहीं पैदा होने देना है। वह तनाव ही बन्धन बनता है, वह पैदा हो न होने पाये मही मुक्ति की साधना है।

‘मिटे कर्त्ता तो छूटे कर्म।

अशा कहे यहि धर्म का धर्म !  
कर्त्तृभाव छूटना चाहिये, कर्म छोड़ने की जरूरत नहीं। [ और हम तो कर्म छोड़ते हैं फिर छोड़ने के भी कर्त्ता बनकर मुमान में रहते हैं। ]

प्रकृति पहचान कर उसके अनुसार कर्म के द्वार खुले रखो, लेकिन ये कर्म प्रकृति के कारण हो रहे है यह न भूलें; तो मनुष्य आसक्ति या विरक्ति दोनों में से किसी भी अति में अटकना नहीं।

[ जीवन जीने के कर्म को ही योग की साधना बनाने का आदेश और उपदेश गीता देती है। छठे अध्याय आत्मसंयम योग में कहे गये—'तस्माद् योगी भव अर्जुन !' इस वाक्य में अठारहों अध्यायों का सार है।

'एष आदेशः एष उपदेशः एषा वेदोपनिषद्' मनुष्य की योगावस्था सिद्ध करते हुए जीवन के सभी व्यापारों-व्यवहारों में साहसपूर्वक एवं प्रेमपूर्वक जीना योग है। जीवन जीने की कला और विज्ञान योग है। उसका रहस्य छठे अध्याय में कहा गया कि चित्त का समत्व उलटा नहीं। मानवीय सम्बन्धों में सुख-दुःख, हर्ष-शोक, मान-अमान, गरीबी और अमीरी जो भी परिस्थिति सामने आये उसमें चित्त की समता च्युत नहीं होती अंशबोल-चलित नहीं होती।

बाहर संयम के सूत्र में हृदियों को पिरोये हुए है और बाहर समता का आसन लगा हुआ है—ऐसे मनुष्य की छाँकी भगवान् वासुदेव ने अपने जीवन में करायी। मैं समझतो हूँ कि वैदिक संस्कृति का ध्येय है, मनुष्यजाति के लिए कि प्रत्येक व्यक्ति योगी बन सकता है। मानवजीवन का लक्ष्य या उद्दिष्ट है कि व्यक्तिप्राप्त योगारूढ़ हो जाय। ऐसे योगारूढ़ व्यक्तियों का समाज बनेगा तब सच्चिदानन्द-स्वरूप परमात्मा के सत्-चित्त-आनन्द सीनों लक्षण व्यक्त होंगे। विज्ञान के युग में मनुष्य के योगी बनने की सम्भावना बहुत बढ़ गयी है क्योंकि पदार्थविज्ञान ने पदार्थों का रचनागत-रहस्य हमारे सामने रख दिया है। पदार्थों में भीतर ऊर्जाओं की क्रीडा कैसे चलती है—यह भी बतला दिया है।

गीता-ज्ञानेश्वरी सुनते-पढ़ते हुए इस लक्ष्य को हम भूलें नहीं! परमात्मा की जो सार्वभौम सत्ता है उसके साथ बुद्धि का अनुत्थान हा और उस सत्ता पर अविच्छिन्न जो व्यक्त सृष्टि है उसके साथ नम्रता से व्यवहार हो। प्रेम मनुष्य की नम्र बनता है। धार्मिक एवं बुद्धिगत ज्ञान बहुधा अहङ्कार बनाता है। जैसे-जैसे प्रेम परिपक्व होता है, जैसे-जैसे मनुष्य का चित्त मृदु-मधुर-कोमल बनता है। व्यवहार में ऋतु कोमल चित्त है, बुद्धि में सार्व-भौम प्रभुसत्ता का भान है—ऐसे मनुष्यों के समाज का स्वप्न है। जब भी हो सके, पर यह स्वप्न साकार होकर रहेगा ऐसी हमारी अज्ञा है।]

( अपना प्रसङ्ग चल रहा था कि ) मेरी सार्व-भौम सत्ता के आधार पर विश्व खड़ा है। सागर पर उलाल तरङ्गों का कभी टाण्डव कभी लास्य चलता है। जब ध्यान में आयेगा कि जैसे स्वयं बल ही तरङ्गाकार होकर विविध नतन करता है, वैसे परमात्मसत्ता ही—जगदाधार ही—जगदाकार बनें हैं—तब जगत् के साथ का व्यवहार आमु-लाह्व बदलेगा।

चिन्ता है भगवान् वासुदेव को कि अर्जुन के चित्त में से विषाद एवं आसक्ति निकल जाय, और मैं मारने वाला हूँ—वह अहङ्कार निकल जाय। जिस प्रकार का अयम-अप्राय-शोषण-भरा व्यवहार कोरवों ने किया था उस सब कलुष का परिणाम उनकी मृत्यु में होने ही वाला था, वह अटल था (The moral law at the core of the Universe.)। विश्व की बुनियाद में जो नीति का

कानून है उसके अनुसार कोरवों को मरना ही था, लेकिन अर्जुन को अहङ्कार था कि मैं पाऊँगा। अवश्य ही उसके हाथों मनुष्य से बना निकलने वाले थे, लेकिन दुर्बोधन-दुःशासन, साकुनि, कर्ण आदि को जो मृत्यु थी वह उन्होंने के कर्मों का विपक था। "अर्थस्य पुरुषोदासः" कहकर न्याय भी जब अर्थ का दास बन जाता है—पुरुषार्थी व धर्मत बुद्धिशील मनुष्य भी जब 'अर्थ' के नाम पर न्यायाव अर्थ के दास बन जाते हैं तब संहार के रूप में उतरना पड़ता है प्रभुसत्ता को। इस प्रकार संहार में—मृत्यु में, जहूर के प्याले में भी प्रभुसत्ता को देखने की बीरता अब आयेगी, जब वह साहस आयेगा, तब मनुष्य भक्ति कर सकेगा। भक्ति कोई क्रिया-काण्ड नहीं, वह तो जीवन जीने का धारण है। इन पञ्चमपुरुषार्थ प्रेम ( मधुराद्रेत ) के प्रवक्ता के मुख से हम सुन रहे हैं। '.....आओ आये बढ़े।

घर में दीपक रखा है। उसके प्रकाश में पर के लोग विविध व्यवहार कर रहे हैं, कोई अच्छे कार्य कर रहे हैं कोई बुरे भी। दीपक का प्रकाश एक ही है उसी को भय से कोई चोरी करता है, कोई धर्मग्रन्थ पढ़ता है, कोई रसोई बनाता है। इन सब कार्यों-कलापों से दीपक का क्या सम्बन्ध है? यह निश्चित है कि दीपक का प्रकाश न हो तो बहुत से कार्य नहीं होंगे। लेकिन दीपक का या प्रकाश का इन कर्मों से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह दीपक जैसा साक्षी है सबका, वैसे ही मैं भी अपनी सत्ता पर होने वाले समस्त व्यवहार का साक्षी हूँ। स्वयं ज्ञानस्वरूप होने के कारण मुझे दिखाता है सब कुछ, मेरी सत्ता के कारण ही सब कार्य चलते हैं यह सत्य है, मैं जठरान्त्रि बन कर मनुष्यों के शरीर में न बैठूँ तो वे खा-पी नहीं सकेंगे। उनकी आँखों में रोशनी बन कर न बैठूँ, सभी इन्द्रियों में उन-उन की शक्ति बन कर न बैठूँ तो जीने के सब व्यापार-व्यवहार एक जायेंगे। यह होते हुए भी मैं इस सब का केवल साक्षी हूँ, किसी का भी कर्ता या भोक्ता नहीं हूँ। दीपक सब कार्यकलापों का (प्रकाशक होने के नाते) हेतु अवश्य है पर कारक नहीं, वैसे ही मैं ज्ञान-स्वरूप होने के नाते सब जीवों के कर्मों का दृष्टा साक्षी अवश्य हूँ। कर्म होने का निमित्त भी हूँ, लेकिन कर्ता किसी का नहीं। मृतमात्र (जीवों) के कर्मों को अनासक्त भाव से देखता हुआ मैं वहाँ बसता हूँ।

[इसका अनुभव हुए सब का है। जब किसी भय या लज्जारूप अहंकार के कारण कुछ झूठ बोलते हैं—कुछ गलत किया ही और कहते हैं—“मैंने नहीं किया” कुछ कार्य करना भूल गये हों, और पूछे जाने पर कह दें—“कर दिया” तब भीतर से कान में कोई कहता है कि “झूठ बोला जा रहा है, जो कहा जा रहा है—उत्थ वंसा नहीं है।” लेकिन उस आवाज को मनुष्य बना रोता है। वे भीतर बैठे परमात्मा आवाज दे देते हैं कि यह तेरा अहंकार है, यह तेरा भय है, क्रोध है, असत्य है। उसे आप माने नहीं तो आपका बोध है। परमात्मा

तो बड़े प्यार से सत्य दिखा ही देते हैं, जैसे दीपक साम्राज्य प्रकाश दिया ही करता है। बुरे से बुरे कार्य करने वालों को भी भीतर से आत्मा को आवाज माती ही है। उसे बारम्बार दबाते ही चले जायें तो क्रोधः मन-बुद्धि की संवेदन-शक्ति ही बधिर-कुण्ठित हो जाती है इसलिए भीतर की आवाज फिर मानो सुनायी ही नहीं देती।

मैं ज्ञापक हूँ, कारक नहीं हूँ। यह बात अब तक अनेकों प्रकार से तुझे समझाई है। इसलिये इतनी बात मेरी अवश्य ध्यान में रखना।

(दीपक के दृष्टान्त में सीमितता तथा किसी भी दीपक जलाया होगा ऐसी अभ्यासि की शंका बरते इसलिये व्यापक दृष्टान्त देते हैं—) अर्जुन ! प्राणीमात्र की सभी भेषायां (हलन-चलन) सूर्योदय होते ही प्रारम्भ हो जाती है, इसीलिए सविता-प्रेरक कहलाते हैं, सूर्य के आलोक में प्राणियों की सभी क्रियायें—गतियां चलती रहती हैं, किन्तु सूर्य उन गतियों का न कारक है न प्रेरक। संसार के कर्म-व्यापार में सूर्य का जो स्थान है, वही मेरा स्थान है अगत् को उत्पत्ति आदि दयाओं में, एष स्थिति के अवधि में, समस्त प्राणियों के एष सृष्टि के क्रिया-कलाप चलने के प्रति।

‘प्रकृति मेरी है’ इतना मेरे कहनेमात्र से प्रकृति से यह समस्त चराचर उत्पन्न किया है। इसलिये अगत् का हेतु मैं हूँ, पर सर्वक नहीं। इतनी बात यहि तेरे चित्त में पैठ गयी हो, इसका बोध तुझे हो गया होगा कि इन सभी निरय नवीन सतत-परिवर्तनशील अनन्त अभिव्यक्तियों के नीचे (अधिष्ठान) या भीतर (माला में धागे की तरह) मेरी अपरि-वर्तनशील सत्ता विराजमान है। मेरी निष्पन्ध-निष्कम्प सत्तास्वी सागर पर उजने वाले तरङ्ग हैं यह चराचर सृष्टि। यह मेरा ऐश्वर्य है। मेरी सत्ता पर यह होता है, किन्तु मैं इनका कर्ता-भोक्ता कुछ भी नहीं। इतना यहि समझ में पैठ गया हो तो अब आगे की बात पकड़ पायेगा।

पदापं व्यक्त है, पदापों के गुण और शक्तियाँ (ऊर्जा) अव्यक्त है। इनके नीचे, इनके नीचे,

इनके भीतर मैं पड़ा हूँ। यानी सम्पूर्ण गति मेरी स्थिति पर चल रही है। मैं ऐसी अव्युत् सत्ता हूँ कि मेरे बल पर अद्विराम चलती हुई गतिवाँ मुझे कम्पित स्पन्दित नहीं करती; मैं चैतन्य का अतल महासागर हूँ, मेरे बल पर जो व्यक्त सृष्टि है वह अव्यक्त की तुलना में बहुत ही छोटी है। और जो अव्यक्त है वह अनन्त की तुलना में और भी छोटा है। (Dynamic continuum of the isness of life.)

उस निस्पन्द अवस्था में कोई नाम रूप नहीं है। प्रथम मेरे कारण तरङ्ग पैदा हुए, लेकिन मैं तरङ्ग-आकार नहीं हुआ हूँ। मेरे कारण मूलभाव उत्पन्न होने पर भी मेरी सत्ता में विशिष्ट मूल नहीं है। व्यष्टिकरण मेरी सत्ता में नहीं है। (The Totality of my isness is not disturbed by the emanations of various forms which spark of from my divinity.)

मेरी सत्ता पर उठने वाले वे तुषार हैं—नाम-रूप-क्रिया आदि, लेकिन इनके कारण मेरी सत्ता में कोई विकार नहीं पैदा होता। असंख्य गतिवाँ का यह अद्विराम नर्तन मुझे छूता भी नहीं।

[समुद्र में तैरने वाले व्यक्ति जानते हैं कि ऊपरी सतह से ८-१० फुट नीचे जाते हैं तो वहाँ गति का अनुभव नहीं होता, जब कि ऊपर उद्दाम तरङ्ग-ताण्डव चल रहा होता है। समुद्र के विषय में वैज्ञानिकों के जो प्रयोग चल रहे हैं उस प्रसङ्ग में उनके साथ वातलाप हुआ और सात-आठ सौ फीट नीचे समुद्र में (पनडुब्बी द्वारा) जाकर देखना भी हुआ। वहाँ तो कल्पना भी नहीं आती कि कहीं कोई गति है। ऊपर सूफान चल रहा है, पर्वताकार तरङ्गों के आघात-प्रत्याघातों का मानो संघाम मचा हुआ है, और नीचे कुछ भी नहीं। वैसे—]

यह जो मेरे बल पर व्यक्त सृष्टि की अनेकता, ऊर्जाओं की भ्रम-दौड़, और असंख्यविध गतिवाँ का घमासान दिखाई देता है—यह तो मेरी सत्ता का एक नगम्य-सा अंश है।

[बिन्दु बन-जीवन (solidified life) कहा जाता

है, जो पदाधारका बना हुआ व्यक्त है, वह अव्यक्त का शांतांश भी नहीं है। पदार्थ-वैज्ञानिक कहते भी हैं कि पदार्थ पूरी सृष्टि (cosmos) का एक प्रतिशत १% है।]

गति अर्थात् जगत्—उसके व्यवहार उसके नामान्तर, रूपान्तर आदि, और स्थिति याने मैं। मेरी सत्ता और स्थिति का यह ऐश्वर्य देख लें। मेरी वाणी—भुवनभनमोहिनी वाग्बिलासिनी धारदा का भाण्डार देख ले। दुन्य में से शब्द उत्पन्न होता है, तु दोनों को देख ले। [जिसको प्रभु की सत्ता का स्पर्श पाना है उसे शब्द व नाद का भी किनारा छोड़ कर शून्य में जाना पड़ेगा। गतिवाँ में से स्थिति-स्थिरता में जाना पड़ेगा।]

अजून तू ठीक-ठीक समझ ले कि—दिखने वाले आकारों-गतिवाँ में मैं नहीं, इनके तत्त्व-सत्त्व में मैं हूँ।

यह जो मेरा सर्वस्व तुझे बता रहा है वह मेरा निगूढ़ रहस्य है। (The movement & the motionlessness together, silence & speech together, the relationships & aloneness together—constitute the life.) गति और स्थिति, वाणी और मौन, सम्बन्ध और एकान्त—दोनों मिलकर जीवन है, दोनों के बिना जीवन नहीं बनता। मनुष्य को कोई एक प्रिय लगता है। व्यक्त को काल-देश-सापेक्ष समझ लिया तो अव्यक्त को ही पकड़ बैठे। अनेकता की भाषा में उलझे तो एकता को भूल बैठे।

भगवान् कहते हैं कि मेरा यह ऐश्वर्ययोग देख ले कि मैं दोनों में एक साथ हूँ। गति में, दुःख में भी मेरा ही दर्शन करना। [जहर के प्याले को चरणामृत कह कर जो जाने वाली मीरा पागल थी या सयानी थी? ...किसी प्रियजन का वियोग (मृत्यु) होवे पर दुःख होगा, भाँसू जाना स्वाभाविक है लेकिन इतनी जल्दी मृत्यु क्यों आया? हमारे ही जीवन में क्यों आया? ऐसी विधाकथं व लक्ष्मण का हस बात का सूचक है कि मृत्यु-सत्य का स्वीकार नहीं।

...भगवान् वह रहे हैं कि जो भी सम्बन्ध आयेगे उन सब में मेरा ही मुखड़ा देख लूँ!... मुखड़ा देखे बिना चैन नहीं है न गतिवाँ को। उसके बिना अर्थात् खारा लगता है। किन्तु जब वह दुःख



का-अपमान का-नकाब पहन कर आये तब ? अब क्यों नहीं घुस्फुरा सकते कि अच्छा अब यह रूप धारण करके आ गये ? यह भाँक का शास्त्र है, सब ब्रह्मों में चित्त की समता कायम रखने की युक्ति है यह ।]

वह रहस्य तुझे खोल कर बता दिया । अब यह बोध कहीं तेरी इशानियों के द्वारों में से बाहर न निकल जाय, इसलिये इन किबाड़ों को बन्द करके हृदय में इस परमधन का भोग कर । प्रथम से पाये इस बोध को पुनः-पुनः चिन्तन-मनन-निदिध्यासन द्वारा भीतर रचा ले, सिखा ले !—बोध की उरकटता में सर्वाङ्ग के अणु-रेणु को मींगने दो ! उत्तेजना में इसे बह न जाने दो ।

[बहुधा हम यह बोल करते हैं कि जरा-सा बात समझ में आयी नहीं कि बौद्ध हुए इस लोगों की बताते फिरेंगे—योंकि सबका उच्चार करना है न ! अपना हो या न हो !...बाणी द्वारा समन करते रहें तो बोध की उरकटता चली जाती है । अनुभूति का नूर जल लेते हैं शब्द ! इसीलिये कहा जाता था कि बोलना नहीं । “श्रुतं मे गोपाय” हृदय में उसका उपभोग करें ।]

मैंने तुझे जो सत्तात्मक स्वरूप समझाया है, यह बुद्धि के अतीत है, इसका उपभोग हृदय में कर । शान्ति से बैठकर, गति को लींच कर, सम्बन्ध को लींच कर चला जा हृदय में । इन्द्रियों के दरवाजे बन्द करके हृदय की गुफा में प्रवेश कर । वहाँ मैं तेरी राह देख रहा हूँ, वहाँ तुझे मेरी सत्ता का स्पर्श होगा, उपभोग मिलेगा ।

[हृदय-प्रवेश में ही सत्ता में प्रवेश होगा—यह यह विशेष संकेत है नाथसम्प्रदाय का, कि बाणी ब बुद्धि उस मिलन का स्थान नहीं ।

रथा गजब की बात है । रथ खड़ा है पुद्ब-सेन में दो सेनाओं के बीच । और ये रहस्य खोल रहे हैं योगावस्था के ।]

यह दंश (रहस्य, युक्ति)—हृदयदेश में प्रवेश करके प्रभुसत्ता का संस्पर्श पाने की युक्ति—साकार को सगुण को लींच जाना, मौन-धरण करके हृदय में बैठना—यह जब तक हाथ नहीं लगाता तब तक मेरी जो सत्यता है वह पकड़ में नहीं आती । अर्जुन !

यह अनुभवगम्य विषय है, सर्कगम्य नहीं । जैसा मैं तुझे बता रहा हूँ वैसे जब तक तू इन्द्रियद्वारों को बन्द करके हृदय में मेरी सत्ता का संस्पर्श नहीं पाता है । तब तक मैं तेरे हृदय में हूँ—नित्यन्दन-निष्कल्प सत्ता के रूप में—इसकी प्रतीति तुझे नहीं होगी । मौन के द्वारा विचार-विकार-भुक्त शून्य-मुहूर्त में प्रवेश करके ही मेरी सत्ता का संस्पर्श पाया जाता है ।

इस रहस्य को यदि तू समझोगा नहीं तो मेरी सत्ता की सत्यता पकड़ पाने का दूसरा कोई भी मार्ग नहीं है । जैसे भूसे (तुष) को पटकने से पाप्य (चावल, गेहूँ) नहीं मिल सकता वैसे केवल शब्दिक ज्ञान से मेरी सत्ता कभी भी मिलने वाली नहीं । मेरी सत्ता का स्पर्श एकान्त (= हृदय के मौन) में ही पाया जा सकता है, जहाँ विचारों का कोलाहल न हो ।

[उस हृदयगुहा में प्रवेश करके मनुष्य स्वायी निवास भी कर सकता है । वह देवा बाहरी लोकान्त एकान्त से निरपेक्ष है । वह योगावस्था के रहस्यों का उपदेश ही रहा है समराङ्गण में । इसे हम भूलें नहीं ।]

(शब्दज्ञान को भूसा कृद दिया । मनुष्य शब्द सुन कर, उसका वैखरी अर्थ जान कर ही कह देता है कि समझ में आ गया । वास्तविक अर्थ तक वह नहीं पहुँच पाता । तर्क-अनुमान से यह सत्य को पा लूँगा ऐसा वह मानता है; किन्तु अर्जुन ! मृगजल से स्नान करने की इच्छा कभी भी पूरी होने वाली नहीं है । वैसे केवल शब्दज्ञान, तर्क-अनुमान से मेरा बोध किसी को नहीं हो सकता । मृगजल केवल दूर से आँखों को दिखता है, वह कभी बगोचा सोचने, स्नान करने या प्यास बुझाने के काम में नहीं आ सकता । वैसे शब्दज्ञान की शकाचोच, बुद्धि में चमक, भाषा में रीतक—सब दिक्षायोग, लेकिन जीवन में कोई प्रतिकूल परिस्थिति आने पर, समस्या खड़ी होने पर वह धारा ज्ञान काफूर (लुप्त) हो जाता है—

पुस्तक-तथा तु वा विद्या, परहस्तागतं वनम् ।

कायंकाले समुत्पन्ने, न सा विद्या ब तद् वनम् ॥  
जीवन में कसौटी आने पर धार्मिक ज्ञान काम नहीं देता ।

अरे, मृगजल से क्या श्वेत सींचा जाता है ?

वैसे जीवन की तुष्टि-पुष्टि क्या केवल शब्दज्ञान-सर्वादि से होगी ? [ज्ञानेश्वर महाराज अपने नायक-पत्न्य की साधना के रहस्य का उल्लेख पण्डित सभाज के सामने कर रहे हैं।] यह जो साधना का रहस्य है यह हाथ न आये तब तक प्रभुसत्ता का स्पर्श नहीं पाया जा सकता।

अरे अर्जुन किसी मछुं ने रात में नदी में डाल डाला। उसने देखा कि जाल के बीचों-बीच बन्दूभा (प्रतिबिम्ब) है। उसने सोचा आज तो चाँद मेरे जाल में आ गया, अब मछलियाँ क्यों पकड़ूँ ? लुघो-लुघी उसने जाल बाहर निकाल लिया। उसे शटपने पर कुछ नहीं मिला।

ऐसे बौद्धिक-शाब्दिक ज्ञान के जाल में तत्त्व-वस्तु पकड़ी नहीं जाती। शाब्दिक बोध प्रतिबिम्ब का ही होता है। जीवन-व्यवहार के चिन्तार पर आकर शब्दजाल को शटकते हैं तो बिम्ब (वस्तु बोध) हाथ नहीं आता।

वैसे बाणी के बल से लोगों के मन में भ्रम पैदा करते हैं कि यह आत्मज्ञानो है लेकिन उनके अपने जीवन में उस ज्ञान का अनुभव नहीं होता, बल्कि विपरीत ही तथ्य दिखते हैं।

हठीलिये पायं ! तुझे रहस्य बताता हूँ कि तू धानों का किनारा छोड़ दे, क्रिया-प्रतिक्रिया का मोह छोड़ दे, तू आगे चल ! तेरे ही हृदय में जो नीरव, निष्कम्प-निस्तम्ब धीन-गुफा है, उसमें तू प्रवेश कर। फिर तेरी-मेरी मूलाकात न हो तो कहना !

अर्जुन ! ( पहले-दूसरे अव्याय में— ) तुने मेरे पास बहुत प्रशावाद लीटा था, बड़ा ज्ञान मुझे सुनाया था ! पर मैं तुझे सच कहता हूँ कि यदि तुझे पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु, कर्म-अकर्म आदि का भ्रम लगता है, इन सब में से तू सचमुच मुक्त होगा चाहता है, सच्ची चिन्ता छपटाहट न परवाह (The real genuine concern for freedom) है तुझे, तेरे चित्त में इस सबसे मुक्त होने की प्राणाणिकता व उत्कण्ठ कामना है—तो मैंने तुझे जो रहस्य बताया उसका जतन कर ले ! इसे सन्मूल ले !

किसी को पीलिया हो गया हो तो वह जो देखेगा सब पीला ही पीला दिखेगा। वैसे जिसको कार्य-कारण-सम्बन्ध ने पछाड़ लिया है—हर बात में

हेतु-प्रयोजन-कारण सोचने में ही जो ज्ञान की सार्थकता मानता है, परम सत्ता तक पहुँच पाना उसके बस की बात नहीं। कार्य-कारण-सम्बन्ध की यथार्थता एवं क्षेत्र संसार तक ही है। उसके आधार पर विज्ञान भी सड़ा है। लेकिन अर्थक-अनन्त के क्षेत्र में ये नीतियाँ, नियम, सिद्धान्त, प्रक्रियायें चल नहीं सकती।

तो जैसे पीलिया के रोगी को सफेद वस्तु पीली दिखती है वैसे मेरे निर्मल स्वरूप में दोष देखती है शाब्दिक ज्ञान से ऐसी हुई दृष्टि। संसारो व्यक्ति को वही वैषम्य-नैर्घुण्य (अलगा-अलग अलगमान व्यवहार, किसी पर कृपा किसी पर निर्दयता) दोष दिखाई देता है। हेतुओं का तथा प्रियता-अप्रियता का आक्षेप भ्रमपर किया जाता है क्योंकि आँख पर चपमा चढ़ा है। कार्य-कारण-सम्बन्ध के अभिनिवेश का। उसकी भयति में मेरी अमर्शय सत्ता की बाँधना चाहते हैं संसारो एवं कोरे शब्दज्ञानो व्यक्ति।

अथवा, ज्वर से भूँह का स्वाद बिगड़ गया हो, तो उसे मीठा दूध भी विष जैसा कड़वा लगता है। उसी तरह मुझ अमानुष को वं मनुष्य ही मानते हैं। यह बसुदेव-पुत्र का जो देह तुम देख रहे हो इसमें वह सर्व-उत्तल प्रकट हुआ है जिसका निरूपण यहाँ तेरे प्रति किया जा रहा है। जो सत्य व परमसत्ता के प्रतिपादन द्वारा अपना स्वरूप तुझे बता रहा है वह केवल देवकी-बसुदेव का पुत्र नहीं बोल रहा है। मुझे केवल मनुष्य मत समझना।

“अबजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम्।”  
मनुष्य के तनु का जीवन की परमसत्ता ने आश्रय लिया तो वह मनुष्य दिखने लगा। वास्तव में वह न मनुष्य है न यक्ष-विज्रर या देव-गन्धर्व है।

मुझ मनुष्य देहधारी को लोम केवल मनुष्य ही मानते हैं और मनुष्योचित गुण-दोषों का आरोप मुझ पर करते हैं यही मेरी अवज्ञा है।

[ विनोबा जी बारम्बार कहा करते थे—  
“मुणों का चिन्तन मत करो, दोषों का चिन्तन मत करो, अपने भी नहीं, दूसरों के भी नहीं। गुण और दोष देह के साथ हैं, आत्मा सब में समान रूप से पवित्र है।” वे यही समझना चाहते थे कि गुण-दोष सब देह के हैं, उसका अवास्तव (स्थय का) कौतुक या निन्दा करने में बर्षों समय गष्ट करते ही ?

मनुष्यता के पीछे छिपी जो भ्रष्टता-दिग्घटा है, उसे देखने का साहस व पुण्यार्थ करो। भक्ति की ओर (नजर) अलग है न ! “दिव्यं ददाति ते चक्षुः” वह कर वही दृष्टि हो होगी व वसुदेव ने अर्जुन को !]

अर्जुन ! मेरा देह देखकर तुम मुझे मनुष्य कहोगे, इसके माध्यम से व्यक्त हुआ अमानुष तत्व भूल जाओगे तो वह मेरी अवज्ञा होगी।

हे धनञ्जय ! कोई स्वप्न में अमृत पी गया हो तो आगुति में आने पर वह अमर नहीं हो जाता; अमर होने के लिए आगुति में अमृत पीना पड़ता है ? वह यही है जो कुछ मैं तुझे बता रहा हूँ, समझा रहा हूँ। मेरा धरौरी वसुदेव देवकी का पुत्र है, फिर वह गोकुल में नन्द-यशोदा का नन्दन बना, म्वाल-बालों के साथ खेला, गाँव चराई, गोपियों से खेला, रास रचाई, बीच-बीच में अशुरों को मारना भी खेल ही खेल में होता रहा। फिर मयुरा आया, कंस को मारा, और भी अनेकों दुष्टों को मारा, फिर जरासन्ध के १३ आक्रमणों के समय मयुरा-राज्य की सहायता करके मयुरा को जिताय। इसके बाद द्वारिका बसाई, तुम सब संबन्धियों से सम्पर्क बढ़ा। इस सबको याद से यदि तुम मानोगे कि वह तुम्हारा भाई ही तुमको यह सब कह रहा है !—तो तुम भूल करोगे।

(The impersonal factor contained in the person is speaking.) अपना जो वैयक्तिक स्वरूप है सार्वभौम आत्मा की जो सत्ता है उसका बोध करवा रहे हैं ! योगविष्ट कर्म करना है ! परमसत्ता का अनुसन्धान-अधिष्ठान न ही तो योगविष्ट कर्म कैसे होगा ? इसलिये पार्थ को समझा रहे हैं—] यह न समझना कि तेरा भाई जो वसुदेव है वह बात कर रहा है। इस 'वसुदेव' नाम के व्यक्तिक के अन्दर जो आत्मतत्त्व है वह बोल रहा है।

[समझोगे इसे ! गुण कोई व्यक्ति नहीं। 'गुण' एक पद है चेतना का, जो किसी व्यक्ति द्वारा प्रकट होता है। अब कहते हैं 'मायिके शरणं ब्रज !' तब उसका अर्थ है कि मेरे देह में परमत्व का जो अमृत क्षार रहा है उसको तू ले ले ! यह आशय है कहने का। यहाँ मयुर भाषा में कहते हैं—]

स्थूल दृष्टि से मुझे देखोगे तो मैं देवकीपुत्र वसुदेव तेरे सामने बँटा हूँ। यह देखना वास्तव में न देखने के समान है। स्वप्न में पिये अमृत से जैसे

कोई आगुति में अमर नहीं होता है, वैसे स्थूल दृष्टि से जो मुझे देखा वह वस्तुतः तुमने मुझे नहीं देखा।

[ श्री जे० कृष्णमूर्ति को एक घटना अनेक बार याद आती है। १९६६ की बात है। उन दिनों रोम में थे, मैं भी तब रोम में थी। कृष्णमूर्ति जी का शौक था दूर-दूर घूमने जाना। एक बार मोटर लेकर रोम नगर से बहुत दूर गये। पैदल घूम रहे थे। वहाँ उनके साथ दो मित्र थे। सामने से एक किसान-दम्पति आ रहे थे। उन्होंने देखा, कृष्णमूर्तिजी के पास आकर हाथ मिलाया, पूछा 'हम ५ मिनट आपके साथ चल सकते हैं ?' कृष्णजी ने 'हाँ' कहा। दोनों ने दोनों ओर से कृष्णजी के हाथ घाय लिये, थोड़ी देर चुपचाप साथ चलते रहे। फिर बोले 'आपको देखा कि हमारा जीवन कृतार्थ हो गया ?' बस, नमस्कार किया और अपने रास्ते चले गये।

श्रृं कृष्णजी के साथ वाले मित्रों ने पूछा— 'इतने से शायों में इन्हें क्या मिला कि इनका जीवन सार्थक हो गया ? हम इतने समय से ४०-५० वर्षों से आपके साथ रहते हैं, हमें जीवन सफल होने का अनुभव नहीं हुआ। इन किसान-दम्पती ने क्या देखा ?' तब कृष्णजी हँस और बोले— 'यह ठीक है कि आप लोग मुझे ५० वर्षों से देखते आ रहे हो। लेकिन आपने मेरी एक प्रतिमा गढ़ी है कि वह जो लड़का—श्री लेडबोटर ने बूँद निकाला डॉ० एनोवेलेन्ट ने उसे बढ़ा किया, वह पिया-साँफिकल सोसाइटी में 'जगद्गुरु' बना, फिर वह सब छोड़ कर निकल गया।' उसे, अपनी प्रतिमा को ही घुम देखते हो मुझ में !'

वे हमारे बहुत प्यारे वज्रुय हैं केवल इसलिए यह नहीं सुना रहा है। लेकिन वह उदाहरण यहाँ बिल्कुल ठीक बँटा है !—'उन्होंने कहा—'तुम मुझे कहीं देखते हो ?' 'क्या तुमने कभी मैं मुझे उस नगर से देखा है जैसे इन लोगों ने देख लिया ?' आँसों में आँसु वे उनके ! वह घटना कभी झूल नहीं सकती मैं। 'तुम तो स्थूल दृष्टि से देखते हो मुझे ! स्थूल दृष्टि से ही मेरा पुस्तक पढ़-पढ़ कर आ प्रतिमा अपने मनमें गढ़ो है उसे ही भूढ़ने-पावे आये हो मुझ में !—'इन लोगों ने वस्तुतः मुझे देखा जोर पा गया !']

स्वूल दृष्टि से मुझे देखते हो तो वह देखना—न देखना एक ही बात है। [यहाँ जो बात कही जा रही है इसमें एवं श्रीकृष्णमूर्तिजी की उक्त बात में बहुत साम्य है इसीलिये वे याद आये] मुझे जो केवल स्वूल दृष्टि से देखते हैं वे मूढ़ हैं। दृष्टि स्वूल पर ही रुकती है इसलिये मति मूढ़ हो जाती है। [कृष्णमूर्ति जी का रहन-सहन, चाल-ढाल, भोजन, पहनावा, केशविन्यास आदि देखा, उधो पर मुग्ध होकर नकल करने लगे—इसे मूढ़ मति न कहें तो क्या कहा जाये ? नजर घूमती रही स्वूल में ही।] “इस स्वूल अभिव्यक्ति को ही पकड़कर लोग नकल करने में पड़ जाते हैं। विनोबाजी जैसे घोटी पहनने या बाढ़ी रखने से तो कोई ‘विनोबा’ नहीं बन जायेगा।” स्वूल में अटकी मति मूढ़ हो जाती है।]

स्वूल दृष्टि से देखने वाले मुझे बल्लू (अच्छो तरह) पहचानते हैं कि ‘करावास में जन्म हुआ था, बसुदेव मध्यरात्रि में ही यमुना पार कर दूधे यशोदा के पास रख आये थे। फिर इसने शैशव में ही पुतना-शकटाशुर-तृणावर्त को मारा, भालाजालों और शोषियों के साथ खेला, बाल्य एवं किशोर अवस्था में किसने ही राक्षसों को मारा, फिर कंसादि को भी मारा इत्यादि, सारा इतिहास जानते हैं मेरा। बड़े अजन गाते हैं। पर उनका यह सब जानना ही वस्तुतः मुझे पहचानने में अन्तराय बन जाता है। मैं केवल परिधि पर घूमते हैं, केन्द्र को कभी छूते नहीं। उनका जानना ही उन्हें मेरे मूलस्वरूप तक मेरी सत्ता तक पहुँचने नहीं देता।

ये इतनी सारी क्रियायें जिस सत्ता के कारण हुईं, वह सत्ता मैं हूँ अर्जुन ! उस केन्द्र में मुझे पकड़ रे !

[ प्रभु को परिधि पर नहीं पकड़ा जा सकता। ब्रह्माण्ड उनका परिधि है और निस्पन्द-निष्कम्प सार्वभौम वैश्विक सत्ता उनका केन्द्र है। वहाँ ही उन्हें पकड़ना है। यहाँ उन्होंने बड़े स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि तुम्हारा (स्वूल दृष्टि से या मन-बुद्धि के चरम से) जानना ही मुझे सचमुच जानने में प्रतिबन्धक बनता है, आड़े आता है। ]

[ “Your knowledge is the bondage which prevents occurring of the understanding.”—J. K. कहते थे—“The verbal knowledge and the verbal understanding is the obstacle in the way of real understanding”—तुम्हारा शब्दज्ञान ही सच्चे ज्ञान के आड़े आता है। ]

हंस गया किसी जलाशय के पास। रात थी। नलन-ठारागण जलाशय में प्रतिबिम्बित हो रहे थे। हंस को लगा कि जल में रत्न ब मुक्ता ही पड़े हैं। वह भीतर उतरा चोंच मारने लगा पानी में, जो टकराती गई पत्थरों से। रत्न न मिले, चोंच बायल हो गई। (ऐसे ही जो बुद्धि के पीछे दीड़ते हुए शब्दों की चोंच मारते रहते हैं, वेद-वेदाङ्ग-दर्शन-सूत्र-भाष्य-टीका वृत्ति आदि का जाल लेकर बँटते हैं और ताक लगाये रहते हैं कि अब आया हाथ में ! उन्हें तत्त्वार्थ मिल नहीं पाता बोधनभर। ) रत्नबुद्धि की आशा में चोंच मारते-मारते बेचारा हंस मर गया।

किसी को रात के बूले प्रकाश में ‘थोड़ी दूर पर एक चमकती हुई नीली सी लम्बी वस्तु दिखाई; ‘अरे यह तो नीलमणि की माला है !’ समझ लयक कर गये और उठा लिया उसे। वह था काला विषधर नाग। मरेगा ही वह लालचो व्यर्थिक।

ऐसे ही अतीन्द्रिय शक्तियों-अनुभूतियों की चका-चौंक पर ललचाकर जो लोग उन्हें कमाने निकलते हैं, वे अटवने में ही बिज्जणी गुजार देते हैं, तत्त्व हाथ नहीं आता। अतः अर्जुन इन्द्रियों ब मन का अनुगामा होकर अगर तू स्वूलदृष्टि में ही रमा रहेगा। तो मैंरो सत्ता तक कभी पहुँच नहीं पायेगा। योग की भूमिका पर आरुढ़ नहीं हो सकेगा। जीवन व्यर्थ बला जायेगा।

स्वूल दृष्टि ही लिये रहने से केवल लालसा नहीं, अहङ्कार भी पर बढाता है। सिद्ध गया कूप के पास; भीतर झाँक तो अपना प्रतिबिम्ब दिखा; उसे लगा दूधरा सिंह वहाँ बैठा है। जोर से गर्जना की तो अन्दर से प्रतिध्वनि आयी। तब क्रोध से भरकर कूब पड़ा कूप में।

वैसे मनुष्य यदि अहङ्कार से प्रेरित होकर उसरोहा प्रपञ्च में कि "मैं तन्त्र से, मन्त्र से, शक्तिपात से कुण्डलिनो जागकर चक्रों का भेदन करूँगा, तप करूँगा—सब प्रयत्न करके वा लूंगा तत्त्व को ! तो ऐसे अहङ्कार-सहित शासन करते-करते लाखों जन्म बीत जायेंगे, तत्त्व उसे मिल नहीं पायेगा; इसलिये हे अर्जुन मैंने तुझे जो अपना रहस्य बताया है उसे सर्वथा ध्यान में रखना । वही मुझे पाने की वास्तविक मुक्ति है ।

स्यूल एवं आकारधारी जो नाशवान् पदार्थ हैं, जो समय के किसी एक क्षण में पैदा हुए हैं और किसी एक क्षण में लुप्त हो जायेंगे, जो जन्म-मृत्यु से ग्रस्त हैं ऐसे शरीरों में लोग मुझे बूढ़ने चलते हैं, लोगों के मन में आकार पर बड़ा भरोसा है, ( अके हो वह नाशवान हो ) और परमात्मा का साक्षात्कार भी वे किसी न किसी आकार में, किसी गुण में चाहते हैं । मैं जो निराकार, निर्गुण हूँ, आकाश से भी सूक्ष्म हूँ, उस मुखको, ( यतना सब जानने के बावजूब ) किसी न किसी आकार-गुण-ब्रह्म-पदार्थ में देखना, पाना चाहते हैं यह उनका भ्रम है । भ्रम से रंभी दृष्टि से साक्षात्कार कैसे हा ? ऐसा (अधूरा) जानना ही बस्तुतः जानने में अन्तराव बन जाता है ।

परमात्मा का तत्त्व तो जान लिया, पर हम चाहते हैं स्यूल आकार में उन्हें देखना और स्यूल ( वैखरी ) बाणी से ही उनसे बात करना ? प्रकट रूप से हमें सुख द, दुःख मिटा दे, हमारे दोषों को टाल दे, हमारे गुणों को तारीफ करे । हम चाहते हैं कि वे अजन्मा—अविनाशी सर्वव्यापी परमात्मा मनुष्य के रूप में हमारे सामने जायें, हमसे मनुष्योचित प्रेम-सम्बन्ध रखें, मनुष्यवत् सब व्यवहार करें ।

'अवजानन्ति मां भुवाः मानुषीं तनुमाश्रितम्' का अर्थ गम्भीरता से समझ लेना चाहिये । परमात्मा का साक्षात्कार इस चमड़ी की आँख से ( स्यूल पाँच भौतिक रूप में ही ) नहीं होता ।

उपासना के लिये हमने प्रभुविग्रह-मन्त्रि बनाने, उपासना की आवश्यकता पड़ी क्योंकि मन दुर्बल है, चञ्चल है, स्थिर नहीं रह पाता और सर्वव्यापिणी सत्ता

को बुद्धि से पकड़ कर व्यवहार नहीं कर सकता । इसलिये पूर्वजों ने उपासना का शास्त्र बनाया, कि बुद्धि से उन सर्वमय-सर्वव्यापी-सर्वज्ञ-निर्गुण-निराकार-अनाम-अरूप-अकाल को पकड़ नहीं पाते, उनका तत्त्वानुसन्धान बुद्धि नहीं रख पाती है तो षलो उनको मन्त्रों द्वारा किसी प्रतीक में बुला लो । आवाहन करके प्रतिष्ठित करो । प्रतिमा-मूर्ति को ऐसी प्राण-प्रतिष्ठा द्वारा 'श्रीविग्रह' बना लो ! सर्वव्यापिणी सत्ता के प्रतिनिधि बना कर उन्हें अपने अभीष्ट नाम से पुकारो ! पूजा करो । यह उपासना चञ्चल चित्त को स्थिर करने के लिए है; इसमें अभ्यास (आरोप) करना पड़ता है नन्ही-सी श्रोगुति पर सर्वव्यापी-सर्वान्तर्यामी सच्चिदानन्दवस्तु होने का ।

अभ्यास (suggestion auto suggestion) का उपयोग मनोविज्ञान में चिकित्सा के लिए किया जाता है । वैसे उपासना में भी श्रीविग्रह में प्रभु परमात्मा का अभ्यास करके मन-बुद्धि को एक विषय पर स्थिर होने का अभ्यास कराया जाता है । आरोपण भावना द्वारा होता है इसलिए उपासना का सम्बन्ध भावना एवं हृदय से है । भावचक्षु से परमात्मा का दर्शन करते-करते उन्हें हृदय में बसा हुआ अनुभव करने लगते हैं, तब अपना शरीर कहीं भी रहे वे इष्टदेव चित्तराज अपने साथ हैं ऐसी प्रतीति होने लगती है ।

इस प्रकार गहरे मानस-शासन के आधार पर उपासना का विज्ञान व शास्त्र हमारे पूर्वजों ने रचा । वह इतना समर्थ-सक्षम विज्ञान था कि पूरी गहराई से अन्तःस्तर से उसका आचरण होबे पर यह शीपान निश्चित ही लक्ष्य में पहुँचा सकता था । यह सिद्ध हुआ है भक्तों के जीवन से; इसके सुपरिचित उदाहरण हैं नरसी भगत एवं ठाकुर रामकृष्ण परमहंस । सध्वद्वार में पड़े हूँ गायनाथ के शिबलिङ्ग से लिपटे रहे साठ दिन, उसी में उन्हें नृनाशन के दर्शन हुए, महाराज में संथा मिली और उठने पर मुख से अभि-व्यक्ति हुनि लगा प्रशंसा की—

'मखिल ब्रह्माण्ड में तू ही एक श्रीहरि !'

बचपन में विदर्भ के सन्त तुकड़ों की महाराज मुझे बताते कि चमड़ी की आँख से परमात्मा को नहीं

देखा जाता है रे ! ऐसे मण्डला के योगिराज भी सीतारामदास भी भी नहीं कहते । इन हृन्दिमों से आकार को देखा—छुआ—सूँघा जा सकता है । आकाश को स्पष्ट कैसे करोगे ? क्योंकि वहाँ 'कोई' (any 'body') तो है नहीं । आकाश केवल अवकाश है, वह सर्वत्र है, उसे कोई पृथक् संज्ञा नहीं दी जा सकती । इसी प्रकार परमात्मा सर्वत्र है—

“अहाँ जायें वहाँ ही तू है मेरा साथी !”

इसी का निरूपण श्रीज्ञानेश्वर महाराज बासुदेव-मुख से कर रहे हैं। स्थूल व नाशवान् आकारों में जो मुझे खोजने जाते हैं वे शलत जगह खोज कर रहे हैं । मुझे ढूँढ़ने को जरूरत नहीं, मैं तो सर्वदा सर्वत्र विद्यमान हूँ ही । सत्ता रूप में मैं सर्वत्र विराज रहा हूँ । मुझे आकार में ढूँढ़ने का आग्रह व व्यर्थ धम न करो, मोह मत रखो, नहीं ही तुम व्यक्ति को पकड़ बैठोगे । बासुदेव जिस उत्त्व के कारण बासुदेव बना हैं उसे देखो । बसुदेव-देवकी का पुत्र इतना महान् कैसे हुआ कि सबसे उसे भगवान् के पूर्णावतार-रूप में पहचाना, इसका कारण यही है कि वह परमशक्ता रूप अधिष्ठान से पल भर भी पृथक् नहीं हुआ ।

उपासना के लिए भले उनके विग्रह बनाओ, अपनी सब भावनायें उँडेल कर प्राणपण से पूजा करो, नाम जपो, नवविधा भक्तिस्थापना द्वारा अन्तःकरण एवं क्राया को पूर्ण शुद्ध करके प्रभु के समर्पित कर दो—यह सब उपयोगी है, पर तत्त्व को न भूलें उसी उपासना वस्तुतः फलेगी । अन्तिम सत्य निर्गुण निराकार सर्वव्यापी उत्त्व है, उसके प्रतिनिधिमार्ग है ये उपास्य इष्टदेव । यह समझ रखना । प्रतिमा [शिला, मिट्टी, धातु या रेखाङ्कन-चित्र] में भी मैं हूँ अवश्य; किन्तु प्रतिमा ही मैं हूँ—यह भ्रम न पालो । मुझ बिभु को सीमित न मान लो ।

लोगों को चित्त में भरौसा स्थूल का, व्यक्त का है, अव्यक्त का नहीं है । स्थूल में भरौसा बाँध कर मुझे देखने जाते हैं, इसीलिये मैं विज्ञता नहीं ।

शिला में गुप्तस्वार्कण मेरा स्वरूप है, और वह तो सभी शिलाओं में है । [नर्मदा के कंकर सब शङ्कर ही शङ्कर] जीवन सम्पूर्ण पवित्र है, और जीवन में जो कुछ अभिव्यक्त है उसमें प्रभु का निवास है । 'सर्वभूतनिवासोऽसि बासुदेव नमोऽस्तु ते !'—यह भक्ति का अर्थ है । [सम्प्रदाय बनाना भक्ति नहीं । व्यक्तिप्राप्त्याप्य, ग्रन्थप्राप्त्याप्य, आकारप्राप्त्याप्य भक्ति नहीं । यह ज्ञानेश्वर महाराज ८०० वर्ष पूर्व सिखा रहे हैं कि आकार में मत फँसो !... पर लोग मानते ही नहीं; कबीर का भी सम्प्रदाय बना दिया, श्रीमद्-राजचन्द्र का भी सम्प्रदाय बना डाला, अरे स्वयं श्री कृष्णमूर्तिभी का भी कहाँ छोड़ा ?... जिस-जिसने यथापंथा समझावे का अपराध किया उसी को पकड़ा !.....

अरे कोई परिचय समुद्र के तट पर परिचय की तरफ मुँह करके खड़ा है, और कहता है “इसी विद्या में चलकर पूर्ण में जाने का रास्ता बताओ !” कोई भी कहेगा हृषर पूर्ण का रास्ता नहीं है । [ कोई हमारे जैसा जबरदस्त मिलेगा तो उसका मुँह मुझ देगा, कि भाई तुझे कहीं रास्ता ढूँढ़ने जाने की जरूरत नहीं बस मुँह मोड़कर हृषर से उधर कर ले और चल सोये ! तेरे पीठ की तरफ पूर्ण है । ] अर्जुन ! बरिचय की ओर मुँह रख कर क्या पूर्ण-विद्या में जाया जा सकता है ?

या कोई मुझा कूटने-फटकने बैठे और चाहे कि इसमें अनाज मिले । अनाज निकल जाये पर तो मुझा बचा है, उसमें अनाज कैसे मिलेगा ?

तात्पर्य यही कि आकार में, नाशवान् पदाथों में मुझे मत खोजो । [यह मुद्दा भक्ति का मर्म है । आकार का प्राप्त्याप्य मत बनाओ, आकार में अटको नहीं, चिपको नहीं, वे आकार जिस सत्ता पर व्यक्त हुए हैं उस मूल सत्ता को पकड़ो !... और आज लड़ रहे हैं हम आपस में—धोर स्वधिकावादी, आकारवादी, ग्रन्थवादी बन कर । हमें उत्त्व-सत्त्व नहीं चाहिये, प्राण से बेपरवाह होकर धरीर को

पकड़े रहना चाहते हैं इसीलिये तन्त्रे धर्म-अध्यात्म तक पहुँच नहीं पाते। '... ज्ञानेश्वर अपनी अजूठी बौली से समझा रहे हैं—]

जल में फेन आया। आप कहेंगे कि जल से ही फेन बना है अतः फेन पीने से प्यास बुझनी चाहिए। वैसे ही सच्चिदानन्द धन परमात्मा से ही सृष्टि बनी है, सब आकार उसी से बने हैं, अतः आकारों में ही परमात्मा दिखने चाहिए। लेकिन माई! प्यास बुझानी हो तो फेन हटा कर जल पियो! ऐसे ही परमात्मा को देखना-पाना चाहो तो आकारों को अनेकता के अधिष्ठान को ओर देखो! जल से बना होने पर भी फेन एकाध बूँद का फुलाव मात्र है, उसमें प्यास बुझाने की समता नहीं; वैसे ही परम-सत्ता के ही उभेय होने पर भी केवल आकारों में बहु अमीश शक्ति नहीं जो अज्ञान-अव्यकार को मिटा सके। फिर 'आकारों की नश्वर नहीं होना चाहिए' यह आग्रह रखो तो व्यर्थ ही हटाया होना पड़ेगा। प्यास बुझाने के लिए फेन हटा कर जल पीने के समान आकारों के घेरे हटाओ तो उनके भीतर-बाहर एकरस विराजमान परमसत्ता का स्पर्श होगा।

[उपास्य-विग्रह का स्थूल आँसू व त्वचा से दधान-स्पर्श होगा, बुद्धि से गुणों का प्रहण व भान होगा, इनका दिनरात निदिध्यासन करें तो आँसू (सभी हृदिषा) बन्द होने पर भी अपने षष्ठी इष्टदेव दिखेंगे, उनके साथ का अनुभव होगा। किन्तु वह आपकी निदिध्यास-शक्ति का मधन परिणाम है।]

मेरा असली स्वरूप जानना चाहो तो मेरी लीलाओं के दर्शन-अवगण-स्मरण के बाह्य-ज्ञ से आगे बढ़ कर भीतर चलो, देखो कि शोकुल में म्वाल-बालों—गाय-चन्द्रों और गोपियों के प्रति जो प्यार बरसा, वही कुन्जा के प्रति, वही उदब के प्रति, वही विदुर के प्रति व्यक्त होता रहा है; और अव्याय के सामने खड़ा होता है, अपम का प्रतिकार करना है, तो मुझे कुछ मिले न मिले—सबकी लेख भी परब्राह्मण किये बिना, सर्वथा दूसरों के हित के लिए प्राणपण से जीवन लगाया गया—यह तो देखो। मेरा प्रत्येक

कर्म एवं सबके प्रति प्रेम सर्वदा निष्काम निरपेक्ष रहा है। ऐसे समूचे जीवन को देखो तो मुझे पाओगे!

[उन्हीं श्रीकृष्ण की भक्ति के नाम पर आज ओर सङ्कीर्णता का कीतुक है सम्प्रदायों में! "हमारे उपास्य तो नहीं लाया माखनचोर है, मयुरा वाले या शारिका वाले भी कृष्ण हमारे नहीं; गोतोपदेश देने वाले तो बहुत दूर की बात!" धुवरे कहते हैं कि "अर्जुन का सारथी बने वे श्रीकृष्ण ही उपास्य है, गोकुल-बृन्दावन वाले नटनागर हमें नहीं चाहिए!"...]

आकार का उपयोग उपासना के लिये है। निराकार का उपयोग सत्ता का स्पर्श पाने के लिये है। नाम-संकीर्तन का उपयोग चित्त शुद्ध करने के लिये है। मन को स्थिर बनाओ इष्ट-विग्रह के पास बैठकर। इन्द्रियों के सब दरवाजे बन्द कर दो। आकार का, शब्द का सङ्ग छोड़ दो, और हृदयस्वी गुफा में मेरी जो सत्ता है उसको पाओ।

निराकार का सब लाक्षण्य आकार में उतर आता है। उस आकार पर जिनके सब मनोवर्धन मोहित हो गये हैं, वे मान लेते हैं कि इन रङ्ग-रूप-शब्दादि में ही मैं हूँ। किन्तु अर्जुन मैं व्यक्त होता हूँ पर कैद नहीं होता, आकार में धारण करता हूँ पर मर्षाबिध नहीं होता। आकार की दहलीज पर आकर खड़ा अवश्य होता हूँ पर उसके कारागार में बन्दी नहीं बनता। जैसे मकान में आकाश है लेकिन दीवारों में गिरफ्तार नहीं। बाहर भी यह है, भीतर भी वही है। यहाँ भीतर का आकाश अलग ओर बाहर का अलग—ऐसे इसे टुकड़ों में बाँट नहीं सकते हैं। आकाश तो आकाश है। वैसे ही अनन्त आकारों में मैं जाता-जाता रहता हूँ, कहीं भी गिरफ्तार नहीं।

विशिष्ट-आकार को 'यही परमात्मा है'—कह कर लोग संप्रभित हो जाते हैं। फिर वे कहते हैं इस आकार में परमात्मा सब से अधिक अच्छा है, दूसरों में नहीं। इसी बात पर तथ्याकथित भक्त लोग आपस में लड़ते भागड़ते हैं। इस प्रकार विशिष्ट आकार को ही मेरा स्वरूप मानने वाले अपने लिये बन्धन पैदा करते हैं।

अर्जुन, मैं अपना भी हूँ, अलक्ष्य हूँ, लोगों से मुझे कहीं सरोवर, कहीं सरोवा, कहीं सागर नाम दिये । मैं अकर्ता हूँ, मुझ पर कर्मों का आरोप करते हैं ।

मैं विदेहो—देहातीत हूँ, मुझ पर देहों का आरोप करते हैं । 'भक्त' लोग कहते हैं न कि आज भगवान् यह भोग ( नैवेद्य ) माँग रहे हैं, अमुक प्रायुगात्र चाह रहे हैं—अरे भाई अपनी अन्तःप्रेरणा है वह करो ! पर उसे भगवान् पर आरोपित क्यों करते हो ? 'लाला' आज यही व्यञ्जन बनाने को कह रहा है...'' इत्यादि कहकर मनुष्योचित सम्बन्ध भगवान् के साथ बाँधने में भक्ति साधना का एक लालित्य है । जो नासनायें संसार में अपने लिये भोजन-वस्त्र-गहने बनाने में लगाये रहती थीं, वे अब भगवान् के लिये करने में लग जाती हैं, उसी में तुल्य-शक्ति होती है तो जीवन अवश्य मधुर बनता है, अहं का केन्द्र थदल जाता है । इसी में सन्तोष पाते हैं—संसारी भक्त ।

इसीलिये मुझ निराकार पर आकार का आरोप करते हैं, निष्प्रायिक के उपचार करते हैं, वैद्यों तथा अवैद्यों भक्ति के नाम पर ये सब मन के उदात्तीकरण की प्रक्रियायें हैं, यह अध्यात्म नहीं है, मनो-विज्ञान है ।

मैं वर्णहीन हूँ, मुझ पर वर्ण लाये हैं । राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर साधियकुल में अवतीर्ण हुए, किन्तु जिस तत्त्व में निरय-स्थिति के कारण वे 'भगवान्' कहलाये वह तत्त्व तो किसी कुल से विद्यो-पित नहीं हो सकता । सन्त बनने के बाद कुल के साथ क्या सम्बन्ध रहा ? वर्ण का अर्थ रंय भी ले सकते हैं, या वर्ण का अर्थ उनके नामों में प्रयुक्त असरों से भी ले सकते हैं ।

मैं गुणातीत हूँ, पर मेरे गुण वर्णन करते हैं; मेरे हाथ-पाँव नहीं, फिर भी मेरे हाथ-पाँवों का वर्णन किया जाता है । [जगन्नाथपुरी में श्रीविग्रह के हाथ-पाँव नहीं हैं अर्थात् सार्वभौम सत्ता में अवयव नहीं, वह निरवयव है, वहाँ कोई विधिष्ठीकरण, स्वकीकरण नहीं है ।]

मैं अवेद्य हूँ, पर लोग मेरा भाष-शौल निकालने चलते हैं । 'अक्षय' कहे तो भी रूप के नाते से मुझे मापना चाहा तब रूपातीत कहा । 'गुणातीत' कहे तो भी गुणों की सापेक्षता उस शब्द में आयी । मेरा नाप क्यों निकालते हो ? 'अनाम-अज्ञान्य'...'' इत्यादि शब्दों में 'अ' के साथ जिन-जिन गुणों का योग है सभी किसी न किसी सापेक्षता से मेरा नाप निकालने की चेष्टा के सूचक हैं ।

[शानेस्वर महाराज का प्रहार है वेदों द्वारा नेति-नेति क्रम से प्रथमतः का निरूपण व नाप कहने के प्रयत्न पर तथा बहुत कर्मकाण्ड-विचारद लोग वहाँ गीताव्याख्या सुनने बैठे होंगे उन्हें सुनाते हुए कह रहे हैं । मेरी निरवयव सत्ता का किसी भी अवयव या गुणवर्ण के साथ जोड़कर नाप नहीं निकाला जा सकता । Infinite कहे तो finite के साथ जुड़ा है, Eteral कहे तो Transitory के साथ सम्बन्ध आ गया । अर्थात् जैसे आकार में मुझे बाँध नहीं पाओगे वैसे किसी भी तरह वाष्पों में मेरा स्वरूप कहा नहीं जा सकता । इसीलिये एक २५ में समस्त भाषा को समेट कर मेरा प्रतीक बना दिया ।]

मैं सर्वत्र-सर्वगत हूँ, ये मेरा कोई स्थान नियत करने चलते हैं । मन्दिर और तीर्थ-क्षेत्र बनाते हैं । पर मेरे लिये कोई स्थान प्रतिकूल नहीं, कोई अनुकूल नहीं, कोई विशेष नहीं, कोई सामान्य नहीं ।

[बड़ी मधुरता से शानेस्वर महाराज सङ्केत कर रहे हैं कि जपसना के नाम से जो भक्ति के क्रिया-कलाप चलते हैं यह सब भक्ति का बहिरङ्ग है, अन्तरङ्ग नहीं है । बहिरङ्ग का भृङ्गार करो जो भर ! किन्तु केवल छिलके से धन्तुष्ट न रहो, तब तुमको पता चलेगा कि जिसको तुम राम-कृष्ण आदि कहते हो इन सब आकारों के भीतर जो निराकार है वही तुम्हारे प्रभु हैं । स्थूल पर हकी नहीं, आकार पर हकी नहीं । इसको भेदकर भीतर चले जाओ । वहाँ प्रभु की पात्रों में ।]

कोई शय्या में सोया है । ओर ( निद्रा में हो स्वप्न ) देखता है कि 'मैं घोर अरण्य में हूँ ।' ऐसी ही इन लोगों की हालत है कि मेरी निरवयव-



निराकार सत्ता में स्वयं देखते हैं विविध आकारादि के। अनेकता की माया के स्वयं देखते हैं। अर्थात् यह बाहर का समस्त प्रपञ्च भी मनोकल्पित ही है।

इस सकल (कलाओं सहित) सृष्टि का बाध कारण मैं हूँ (समस्त पदार्थ मेरी सृष्टि की कलायें हैं) — 'सोऽनामयत एकोऽन्तु बन्तु स्यात्' 'अनेकता के वर्णन में अपनी एकता को देखें' — ऐसी इच्छा से यह सृष्टि बनी। तो कोई कहते हैं परमात्मा में इच्छा कैसे उठी — वहाँ तो मन नहीं है।

[पदार्थविज्ञान कहता है—There is a continuum of energy. There is no movement in it. Some particle of that continuum activates itself for its own free will.

ऊर्जा का एक गतिशून्य सागर है, उसमें से किसी परमाणु का भी कणार्थ कभी स्वेच्छा से ही गति करने लगता है। उस 'स्वेच्छा' का उत्तर नहीं है विज्ञान के पास। यह गतिशील हुआ परमाणु-कण स्वयं वृद्धिशील (Self generating होता है, वह बढ़कर क्रमशः परमाणु-अणु-इयजुष्-नक्षत्रेणु (न्याय-शास्त्र की सृष्टि-प्रक्रिया जो अब पदार्थ-विज्ञान से भी प्रमाणित है) — ऐसे बढ़ते-बढ़ते बन पदार्थ का रूप बनाता है।]

यही तो वैदिक सृष्टि-प्रक्रिया है और भक्ति-शास्त्र ने कहा परमात्मा सर्वोत्पन्न-स्वोत्पन्न है अपनी इच्छा से उन्हींने यह अणु पैदा कर दिया। दोनों बातें एक ही हो जाती हैं।

ऐसा सत्य-तथ्य विज्ञानसिद्ध है तो भी कोई लोग मेरा भी कारण ढोखने चलते हैं — 'परमात्मा कहाँ से पैदा हुआ?' ऐसे मुझ प्रश्न उठाते हैं।

मुझ सहज-स्वयम्भू का (भूति रूप में) निर्माण करते हैं फिर मेरी प्राण-प्रतिष्ठा करते हैं बड़े समारोह से। मैं ही तो सबमें प्राण भरता हूँ, ये मुझमें प्राण लाते हैं। मेरा आवाहन करते हैं फिर विश्वंन भी करते हैं। [ये सब सांस्कृतिक क्रीडायें हैं, इसमें से मानसिक उत्थान हो सकता है; किन्तु इन रूपों

को ही परम-भरम सत्य मानोमे तो रास्ता भूल जाओगे।]

मैं स्वतः सिद्ध हूँ — ये लोग मुझमें बाल्य-सहस्य-प्रौढ़ता-बुद्धावस्था आदि आरोपित करते हैं। मैं एक रूप हूँ क्योंकि सबमें व्याप्य हूँ; तो मेरा क्या किसी से सम्बन्ध हो सकता है ?

[श्रीकृष्ण की सोलह हजार एक धो आठ रानियाँ बही जाती हैं, आठ पटरानियों के तो अलग-अलग मन्दिर भी द्वारिका में हैं। अब यह रूपक हो, पाहे द्वार में युगाचार के अनुसार यह तथ्य भी रहा हो, किन्तु यह तो सत्य है कि इतने विविध सम्बन्धों के बीच तथा राज्यों व दुष्ट राजाओं की क्षतपट से प्रायः पुद्ग में उतरना (इंसरों के लिये) — इत्यादि के बीच रहते बाले व्यक्ति-वासुदेव के भीतर इतना अमृत भरा था कि समराङ्गण में अर्जुन को गीतोपदेश दे सके। उद्भव को अलग गीता कह सके; अर्जुन के ही दुबारा पूछने पर उत्तरगीता कही। वे अपनी परमसत्ता से क्षणार्थ भी पृथक् न रहते हुए इतना विराट् लोक-कार्य, सामाजिक क्रांति आदि कर सके। इसे हम देखें। उस समय के देशाचार-कालाचार के अनुसार या अतीत (अपनी समझ में न आने वाली) श्रीकृष्णलीलाओं पर प्रश्न उठाने से अपने हाथ क्या आयेगा ?]

मुझ एकरूप में सम्बन्ध कैसे सम्भव होंगे क्योंकि सागर में सरिताओं की तरह समस्त अनेकरूपता मुझ में हो सगामी है, सर्वरूप होकर मैं ही विराजमान हूँ।

मैं नित्य हूँ, फिर भी मेरी मृत्यु का शोक करते हैं। [यहाँ 'मैं' से केवल वासुदेव को न लें, सभी शरीरों में स्थित आत्मतत्त्व यहाँ 'मैं' कहा गया है। आत्मा की तो मृत्यु नहीं होती, जन्म भी नहीं। जैसे घड़ा बनने से पहले भी वहाँ आकाश था, घड़ा बनने पर घड़े के भीतर आकाश रहा, घड़ा फूट जाने पर आकाश जहाँ था वहाँ रहा। आकाश के समान आत्मा में भी जन्म-मृत्यु नहीं।

और तो क्या ! मैं सर्वोत्पत्ति हूँ फिर भी मेरे कोई मित्र या शत्रु हो सकते हैं ऐसी कल्पना करते हैं।

में स्वामन्याभिराम (अपनी सत्ता में ही आगन्तु बनाने वाला) हैं। प्राकृत सब मनुष्यधर्मों को शुद्ध सत्यस्वरूप में आरोपित करते हैं, ऐसे विपरीत ज्ञान द्वारा मेरी अवज्ञा करते हैं। इन मनुष्यधर्मों को प्राकृत समझते हुए उनका आचरण करना, उन्हें सत्य नहीं मानना। इन्हें छोड़ना नहीं कि "मैं तो अजर-अमर आत्मा हूँ मेरा किसी से कोई सम्बन्ध नहीं।" फिर सम्बन्धों के बीच ऐसे रहना कि कोई शत्रु नहीं, कोई मित्र नहीं, कोई विशेष प्रिय या कोई अप्रिय नहीं; किसी से आसक्ति नहीं, किसी से द्वेष नहीं। इस ढंग से जीना है। [योगाधिष्ठित कर्म सिखा रहे हैं न!]-इस सब निरूपण से हमें यह सीखना है कि परमात्मा सर्वरूप-सर्वान्तर्धामी सर्वत्र है इसलिए हम किसी में आसक्त हों या किसी से विरक्त होकर भागें, उल्लिख हों—यह परमात्मसत्ता का अपमान है, यह न करें! कहीं प्रियता-अप्रियता पैदा न करें। "युष्मत्सु विगतज्वरः"—सम्बन्धों का विराट् समर क्षेत्र है यह मानव-जीवन, यहाँ तु रागद्वेष से रहित रहते हुए जूझता चला जा।

परमात्मा सर्वान्तर्धामी है तो 'युष्मत्सु' क्यों कन्हा? जैसे—करेला कड़वा है, मिर्च तीक्ष्ण है, नींबू खट्टा है, पर प्रत्येक के गुणधर्म शरीर के लिए पृथक्-पृथक् रीति से उपयोगी हैं, अतः अनुपान सहित सब का सेवन करना पड़ता है। जैसे कोई विकृत-अस्तिष्क वाला मनुष्य सामने आया, तो उसमें भी परमात्मा है—कहकर क्या उसकी विकृतियों का स्वीकार करोगे? किसी भी कारणवश सामने वाले व्यक्ति में क्रोध है, अहङ्कार प्रबल है, तो क्या उसके क्रोध या अहङ्कार को सहन कर लोगे? उसके साथ तो योग्य अनुपान वाला ही व्यवहार करना पड़ेगा।—"योगः कर्मसु कौशलम्!"

जो काम करना आवश्यक है उसकी हानि उस व्यक्ति के क्रोधादि के कारण न हो, इस ढंग से मिलकर अपने काम को करना पड़ेगा। उसके क्रोध को उपेक्षा करने पड़ेगे। उसके क्रोध या उग्रता को शीघ्र बनाने की शक्ति अपनावनी होगी। "योगः कर्मसु कौशलम्!" वह अन्याय करता हो

तो सहन नहीं कर लेना, बल्कि अलग प्रकार से दुःखता का व्यवहार करना पड़ेगा। कहीं शीघ्र, नम्र बनना होगा कहीं अरा स्वाभ से, बोझी सक्ती से बात करनी होगी। भीतर चित्त में समता होगी, बाहर जहाँ जैसा जो समायोजित व्यवहार हो वह करना पड़ेगा। आत्मा सर्वान्तर्धामी है, वह सत्ता अन्तिम है लेकिन अनेकरूपता से उन्की हुई है न! आज जैसे देहाध्यास के कारण विस्मृति की राक्षस में दब कर हम मूल गये हैं कि हम आत्मा हैं, देह नहीं है, निज पद मूल गये हैं।

"भासित देहाध्यास से आत्मा देह-समान।"

जैसे अन्य लोगों के व्यवहार में मो उनको निज सत्ता विस्मृत हो चुकी होने के कारण विचित्रता दिखाई दे सकती है: पर उसको सत्य न मानते हुए किसी के साथ राग न हो, द्वेष न हो।

"अजुन। समत्व चित्त का। यही सार है योग का!" सम्बन्धों में चित्त का समत्व-व्यवहार में इन्द्रियों का सन्तुलन—इतनी ही वस्तु सीखनी है मनुष्य को। यह गीता पढ़कर सीखो। भागवत पढ़ कर सीखो। कुछ न पढ़ कर सीधे सीखो। हँस कर सीखो। पाहें रो कर सीखो।—सीखना पड़ेगा। इसी के लिए मनुष्यदेह मिली है।

"आत्मा को पहचान लो, अवसर पाया आज।  
बिन पाये खाली आभोगे तो क्या रहेगी लाज।"

(अज्ञा मगत)

परमात्मा का रहस्य समझ कर, सम्बन्धों में उसे जीने के लिये यह मनुष्यदेह मिली है। मगवत्सत्ता को चिन्मता प्रगट करना हो इस देह का परम साध्य ब ध्येय है (केवल पेट ब कुटुम्ब पालना नहीं, वह तो प्राणीमात्र को करना ही पड़ता है।) वह ध्येय सिद्ध होगा परमात्मसत्ता के साथ नित्य अनुसन्धान जोड़ने से। वह भाव से जोड़ो, कर्म से जोड़ो, बुद्धि से जोड़ो! लेकिन उससे जुड़े रहते हुए इस सृष्टि में व्यवहार करो। यह नहीं कहेंगे कि मिर्च तीक्ष्ण है तो क्या है? उसमें भी परमात्मा को सत्ता है तो गुड़ को तरह मिर्च में खा लें।"

परमात्म का अर्थ है व्यवहार को सन्तुलित बनाना। नहीं तो अन्धमाला का लाभ क्या? हमारा जीवन सुखर बाप। जितने असन्तुलन हों, उतनी विकृति होती है, अधुद्धि होती है। सन्तुलन से इन्द्रिय-मन-बुद्धि का प्रबालन एवं शुद्धि होती है। ये दो शब्द एक-ही तो ज्ञानेश्वरी सुनना साधक होगा।

मेरा आकार बनाते हैं, पूजा करते हैं, उसके काम नहीं चला स्वाधं पूरा नहीं हुआ तो अलग रख देते हैं, फिर दूसरा आकार पकड़ते हैं। इस प्रकार मनुष्य मुझे आकारों में कैद करके समझते हैं कि यह भक्ति है परमात्मा से प्रेम है। अर्जुन! तुझे ऐसा नहीं करना है। आकार-गुणों के कारागार में परमात्मा को बाँधना चाहने वालों का जो ज्ञान है वह उन्हें और अज्ञानी बनाता है।

“अन्धं तमः प्रविशन्ति वेदविद्यामुपासते।  
ततो भूय इव ते तमो व च विद्यायां रताः ॥”

अविद्या को उपासना करने वाले तो बने अन्धकार में जाते ही हैं पर विद्या में रत हो जाने वाले और भी घोर अन्धकार में जाते हैं, क्योंकि जानने का अहङ्कार उनकी नजर को मूढ़ बना देता है। उनके हृदय को मोहित बना देता है। वे मानते सोचते हैं कि मैं जानता हूँ फिर भी मेरा जीवन-परिवर्तन क्यों नहीं हो रहा है? संकट पैदा कर लेते हैं।

आकार में ही मुझे देखने वाले, आकार को पूजने वाले, आकार में ही मेरी सम्पूर्ण सत्ता है—ऐसा सम्भ्रम रखने वाले लोगों का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान होने नहीं देता, वह ज्ञान ही अन्धकारमय बन जाता है।

ऐसा करने वालों का जन्म मोघ-व्ययं जाता है। जिस मेष में बर्षा करने की शक्ति नहीं है वे मेषाकृति होने पर भी जैसे व्ययं हैं, वैसे मनुष्यदेह में आए और मुझे तत्त्वतः जानते नहीं उनका जन्म व्ययं जाता है। वे भृगुजल की तरङ्गों जैसे व्ययं हैं क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के सम्पर्क में आओ, मनुष्योचित व्यवहार की आशा करो तो मनुष्यता का कहीं पता नहीं चलता,

दिल्ले की मनुष्य है। भृगुजल के तरङ्गों की घोभा दूर से ही है।

किसी के घर में बहुत सारे मिट्टी के चोड़े और उन पर मिट्टी के ही सिपाही सवार बैठे हैं। वह कहे कि मुझे किसी से कोई डर नहीं क्योंकि मेरे घर में इतने घुड़सवार तैयार खड़े हैं। वस्तुतः वे किसी काम के नहीं, दिखते हैं अवश्य! वैसे ही जो मनुष्य अपने स्वरूप को पहचानते नहीं उनके मनुष्यता की आशा रखी नहीं जा सकती।

जाह्नवर द्वारा (आकाश में से) उपजाये अलङ्कार देखने में सुन्दर एवं सुलभ प्रतीत होते हैं पर पहनने के काम नहीं आ सकते। गन्धर्वनगरी (सूर्यास्त से पहले आकाश में सूर्यकिरणों व बादलों के विविध पृथ्व, अनेकों आकार, जो वस्तुतः कुछ भी नहीं) के आकार जैसे किसी काम के नहीं, वैसे स्वरूप-साक्षात्कार के बिना मनुष्य किसी काम का नहीं।

सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी में इतना कठोर शब्द—‘मूर्ख’ और ‘भिकू’ कहीं नहीं मिलेगा। जो करना नहीं चाहिये वह करने वाले ये मूर्ख हैं। ऐसे मूर्खों का जीवन-मन-बुद्धि सब व्ययं है, जैसे बकरी के गले में लटकते स्तन जैसे आकार, या फल न देने वाले वृक्ष। (बल्कि अज्ञानी मनुष्य-जीवन इनसे भी गया-बीठा है क्योंकि मूख तो अपने अस्तित्व मात्र से विष (कार्बन) खाकर संजीवनी वायु (ऑक्सीजन) पैदा करते रहते हैं। मनुष्य जन्म का फल है—आत्मसाक्षात्कार, प्रभु-साक्षात्कार, याने परमसत्ता का स्वरूप जानना, उस जानने के आधार पर जीना। यह न हो तो मनुष्य मनु व्ययं है।

वे जीवन भर कर्म करते रहें—क्रियाओं का भारी आटोप-बिस्तार करें, पर उनके कर्मों की भी विषकार है। वह कर्मव्यापार कर्मयोग नहीं बनता है। यह धु समझ ले।

जो लोग जीवन जीने का कर्म आत्मा के अवधान व ज्ञान सहित नहीं करते हैं—उनका सारा पढ़ना (अभ्ययन) बन्दर के हाथ में नारियल आने के समान है। बन्दर नारियल का छिलका उतार कर, फोड़कर

उसका अमृतजल पीना और फल खाना नहीं जानते, ऐसे ही ये मूख अपने अवीथ ज्ञान का गर्म पकड़ना और उसे व्यवहार में जीना नहीं जानते। अतः इनका ज्ञान भी व्यर्थ है। बन्दर पेड़ पर चढ़ा और मारियल तोड़ लाया; श्रम उसने किया पर स्वयं फल नहीं पा सकता।

अथवा अन्धे के हाथ में मोती आ जाय, तो वह उसका मूल्य नहीं परख सकता, देखने का आनन्द भी नहीं ले सकता। ऐसे ही जिनकी बुद्धि में ध्वम्भज्ञान भरा हो पर उसे खोल कर उसके अर्थ-बोध का अनुभव न कर सकते हैं, न जीवन-व्यवहार में उस बोध को प्रकट कर सकते हैं—उनके जीवन को विषकार है।

मेरे भक्तों का प्रकाश सूर्य के समान सदा उज्ज्वल है; किन्तु सूर्यप्रकाश में एक दोष है। सूर्य के पास कोई जाये तो तेज का टाप उसे जला देगा। लेकिन मेरे भक्तों का तेज बाह्य नहीं, केवल पावक है। अतः भक्त सूर्य से श्रेष्ठ है।

शौचल प्रकाश के लिये चन्द्र की उपमा देने आये तो पूरी नहीं पड़ती, क्योंकि चन्द्र तो मास भर में एक बार पूर्ण दिखता है बाकी समय कलायें घटती-बढ़ती रहती हैं और मेरे भक्त तो सदा पूर्ण हैं—पूर्णकाम हैं, उनके चित्त में आनन्द का घटना-बढ़ना नहीं होता।

मेघ उदार है पर बरसने पर खाली हो जाता है; मेरे भक्त भी अणुत् पर उदार भाव से, खुले हाथों प्रेम व कृपा बरसाते हैं, पर वे कभी रिक्त नहीं होते, बल्कि जितना बरसाते हैं उतना ही प्रेम बढ़ता जाता है।

अवश्य ही वन में बनराज को मति, भक्त मनुष्यों में श्रेष्ठ मानवराज या मानवसिंह है, किन्तु यह उपमा भी दोषयुक्त है। बनराज सिंह के समीप कोई जा नहीं सकता, स्नेह-व्यवहार नहीं कर सकता। अब कि मेरे भक्त नरकेसरी होने पर भी इतने प्रियशील हैं कि उनके पास कोई भी, कभी भी निःशङ्काभाव से जा सकता है। [जिसका किसी को भय लगे वह शक्त नहीं, योगी नहीं, भक्त नहीं। केवल ज्ञानी या लपस्वी के पास जाने में भय लग सकता है।]

मेरे भक्त तो मानो पंखों वाले सिंह हैं। पक्षी जैसे अपने पावकों (नन्हें बच्चों) को अपनी पंख में ले लेते हैं—स्नेहलम्बा देते हैं, बड़े भक्त अपने समीप जाने वाले आर्त-मधुतापसत प्राणियों को अपने प्रेम व कृपा की पंखों में ले लेते हैं। मनुष्य बाति के बें स्नेहमय सिंह या पक्षी है।

“यस्मात्प्रोद्विजते लोको लोकाप्रोद्विजते च यः” जिससे किसी को (लोगों को) उद्वेग या मय नहीं होता, और जो लोगों से उद्विग्न नहीं होते (लोकात्त में धान्ति शीघ्र होती नहीं समझते।)

अरे, एक बार मेरा नाम लेते की इच्छा होने के लिये हृत्कारों जम्हों का पुष्प होना चाहिये।

“भाम्यघालो कहें उसको, पम्बरोराय को धारण गया जो !” वह मेरा नाम इनकी जिह्वा पर नाचता रहता है, अर्थात् मेरा नाम लेने के सिवा और कुछ भी उनकी जिह्वा करती नहीं।

जिह्वा तो क्या पूरी देह में हरिनाम समाया रहता है, यही घड़कन बन जाता है हृषय की।—यह तो मेरा स्वयं आँखों देखा सत्य-तथ्य है। हमारे नाना रामभक्त थे। (मेरा शैशव-बाल्यकाल उन्हीं के समीप बीठा है) दिन भर तो उनके मुख से रामनाम का जप चलता ही रहता, लेकिन वे प्राण्ड निद्रा में होते तब भी उनके द्वास-प्रवास में स्पष्ट ‘राम-राम’ ध्वनि आती थी। मैं उन्हीं के पास सोती थी, ४-५ वर्ष की हुई तब सात ध्यान आता था उनकी निद्रा के समय प्रतिस्वास में सुनाई देते ‘राम-राम’ की ओर ! जब भी नींद में थे मेरी आँख खुले बही सुनाई दे; फिर तो कई बार प्रयत्नपूर्वक जगें रहकर सहायभरी लवकें नजर से नानाजी की ओर देखती हुई वह राम-जप सुनती थी रात भर। अनेक बार परिवार के अन्य व्यक्तियों को साथ लेकर भी वह सुना। उनके शरीर में प्रत्येक नाड़ी से यह ‘राम-राम’ की घड़कन व ध्वनि देखी-सुनी जा सकती थी। अब भी, कोई भी उनके समीप बैठे तभी उनकी गात्र-बीणा में चलती ‘राम-राम’ की हंकार अनुप्राप्त होती थी।

जब उन्हें जाना (परमधाम) था उससे ६ मास पहले सबको बता दिया कि "रामजी ने छुट्टी मंजूर कर ली है, इस बार रामनवमी के दिन हम चल दंगे।" बड़ी किया। उस दिन महीत्यब किया, १०॥ बाह्यों को भोजन कराया, फिर आसन लगाकर बैठे, प्रभु की प्रसादी में से एक पास लिया, और चल दिये।

जब भक्तों का वर्णन पढ़ती हूँ तो नानाथी का विशेष स्मरण हो जाता है।

(बासुदेव कहते हैं—) मेरा नाम बड़े दुलार से भक्तों को बिह्वा पर चढ़ाकर नाचता-पिरकटा खटा है। इतने वे मुझे प्रिय हैं, इतना ही मेरा नाम उन्हें प्रिय है।

जब उन्हें उपमायें कहीं तक दूँ? कोई पूरी नहीं पड़ती। किन्तु पार्थ। हो सकता है कि मैं किसी समय वैकुण्ठ में न मिलूँ, योगियों के मन में भी न मिलूँ, अरे, किसी समय भानुमिन्ध (साक्षात् सूर्य) में भी न दिखूँ, लेकिन मेरे भक्त जहाँ मेरा नाम गाते हैं वहाँ मैं अवश्य ही हाथ जोड़े खड़ा मिलूँगा।

हे अर्जुन तुझे कभी लगे कि इतने बड़े ब्रह्माण्ड में भगवान् लगे गये हैं तो वहाँ कहीं सुन्दर रीति से, प्रेम से मेरा नाम-धोष संकीर्तन चल रहा ही वहाँ जाओ तो मैं अवश्य मिल जाऊँगा।

मेरे भक्त मेरे नामस्मरण-गुणवर्णन से हो तुम रहते है, उन्हें भोजन की भी आवश्यकता (शुधा) नहीं प्रतीत होती। नाम-गान से उनके पञ्चप्राण तृप्त रहते हैं। देवकाल का भी विस्मरण हुआ रहता है, स्वयं ही वे मानो मूर्तिमान कीर्तन-सुख बन गये हैं।

कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द। ऐसे नामों के ही विविध छन्द-प्रबन्ध वे गाते रहते हैं। कृष्ण। मेरे प्राणों को सदा अपनी ओर आकर्षित किए रहता है वह। विष्णु—जो सर्वव्यापी है। गोविन्द—हमारी सभी इन्द्रियों का पालन करने वाले, इन्द्रियों के स्वामी, शब्द-स्पर्श आदि सभी गुणों से अतीत होने पर भी भक्तों के लिए इन्द्रियप्राप्ति (गोचर) रूप धारण करने वाले। हरि—जीवित रहते समय मन

का हरण करने वाले, अन्त समय प्राणों का हरण कर के जीव को स्वरूप में मिला लेने वाले। इन नामों के अर्थबोध-सहित रस लेते हुए गायन करते रहते हैं। ऐसे मेरा नाम जहाँ निरन्तर प्रभूत प्रभुत्त मगना में गाया जाता हो, वहाँ मैं अवश्य मिलूँगा, सब जगह सीया हुआ होने पर भी वहाँ मुझे पकड़ पाओगे।

ये मेरे भक्त, नामगान करते हुए चराचर में नाम का अलम्ब जगाते हुए विचरण करते रहते हैं। अतः कहीं भी तुझे मिल हो जायेंगे। मैं लो जा सकता हूँ, मेरे भक्त नहीं लोते। इन्होंने नाम को मुझे पाने का मार्गदर्शक बनाया है। नाम के पीछे-पीछे रूप लिखा चला आया उनके पास।

(“तो क्या प्रभु! आप का नवन-स्मरण करने का यह एक ही प्रकार है?” “नहीं अर्जुन! और सुनो।) दूसरे लोगों ने अपने मन एवं पञ्चप्राणों को जतनपूर्वक स्वच्छ करके अवश्य मार्गदर्शक बना कर यात्रा प्रारम्भ की। [यह यात्रा कहीं बाहर की नहीं है; भीतर ही भीतर सब सीमायें लौघते चले जाता है। इसलिए पहला कवम उठाया कि—] धम-नियमों को कँटीली बाड़ अपने जीवन में चारों ओर खड़ी की। शरीर का किला बनाया बचासन का, उस पर ठीपें लगायीं—प्राणायाम की। “उल्हार शक्ति”—उलटपाल चलने वाली कुण्डलिनो की मशाल जलायी। उसके प्रकाश में मन व पवन को सहायता से ऊपर चढ़े, मस्तक में एक पनियारा है, अमृत सरोवर है। वहाँ मैं रहता हूँ। उस स्वान पर वे पहुँच गये। वहाँ जीवन की सचहर्षी कला पर कब्जा कर लिया।

मन के पास संयम-रूपां सरदार था, उसने इन्द्रियों के समस्त विकारों को उनकी स्मृति सहित समाप्त कर दिया, और समस्त इन्द्रियवृत्तियों को बाँध कर हृदय में ले गया।

जब धारणा के पुङ्खवार निकले; या धृति शक्ति धारणा पर सवार होकर चली। इन्द्रियों के समस्त विचयों—पञ्चमहाभूतों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) को पकड़ लाये, उनकी जो संकल्प-विकल्पानि

चतुरङ्ग सेना भी उसे परास्तर कर दिया। [योगी की बधा का वर्णन चल रहा है।] (ओवी २०१-१६)

इतना होने पर सारे शरीर में तो 'जय-जयकार' विजयध्वनि निकलने लगे, और मेरा वह भक्त ध्यान में पहुँच गया। ध्यानावस्था में पहुँचा अपारि तन्मय-तत्त्व के साथ एकरूप हो गये। तन्मयता का छत्र सिर पर झलक रहा है, ध्यान की अवस्था है, इन्द्रियाँ सभी तन्मय (मुख में समायी) हैं, संकल्प-विकल्प पराजित हैं, कुण्डलिनी की ब्रह्माल सतत जल रही है। प्राणायाम की तीर्थं कसी हुई है, और शरीर के चारों ओर यमनिपभों को दुँधें कटौली बाड़ है।

ध्यान का ढंका-निर्वाण बज रहा है। आत्मानुभव के साम्राज्य में समाधिनी के सिद्धासन पर उनका पट्टाभिषेक होता है। अब केवल उनकी देह मुखसे अलगा है, बाकी तो समग्र रूप से वे सर्वथा मुखसे एक हो गये हैं, समस्त हो गये हैं। उल्लोकता, समीपता, सत्पता-सायुज्य—ऐसी सायुज्य मुक्ति वे पा लेते हैं।

अर्जुन। यह योगमार्ग से होने वाला मेरा गहन भजन है। योग में यदि प्रेमलक्षणा भक्ति का साथ न हो तो योग व्यर्थ रहता है।

[ हमने मण्डला एवं अमरकण्ठक में स्वामी शीतारामदास महाराज को देखा है। योगमार्ग के

[ विवरण की धरतो में निपने सत्त तुकुड़ोजी महाराज की ही एक घटना का स्मरण ही आया इस प्रसङ्ग में। लोग उन्हें "देव बाबा" नाम से जानते थे।

एक बार चाँदा जिले में किसी भक्त के घर पर गये थे। योगानुयोग था कि मेरे मामा उन दिनों वहाँ थे। जिस दिन उन्हें मिलना था उस दिन वे भक्त (पटेल साहब) गाँव के बाहर कहीं गये हुए थे। केवल पटेल साहब की पत्नी घर पर थी। महाराज पहुँचे तो पत्नी ने बताया कि मालिक घर पर नहीं हैं। महाराज ने कहा "कोई बात नहीं, उन्होंने मुझे किसी काम से बुलाया था, अब आया हूँ तो रातभर रहूँगा, कल सुबह चला जाऊँगा।" उसी दिन महाराज के ही दर्शन के लिये और एक अमीर सज्जन वहाँ आने वाले थे, जिन्होंने पहले कभी उन्हें देखा नहीं था। अमीर महाराज पटेलपत्नी से बात करने के बाद बैठे ही थे कि ये अमीर सज्जन बैलगाड़ी (रथ) में वहाँ आ पहुँचे। (महाराज हमेशा की तरह घुटने तक की पोटी पहने हुए थे। जैसे बर्म्हर्न में घटों में काम करने वाले घाटी लोग पहनते हैं। उम्र सो छोटी थी महाराज की, युवावस्था थी।) उन सज्जन ने भीतर आकर देखा तो समझा कि पटेल साहब का कोई नौकर होगा।

आने वाले सज्जन ने पूछा—"क्यों रे! पटेल साहब घर पर हैं?" महाराज ने कहा—"नहीं हैं।" वे बोले "अच्छा कोई बात नहीं, मैं उन्हें मिलने आया था; अच्छा जाओ गाड़ी छोड़ दो।" महाराज ने आकर बैलों

ऐसे अधिकारी सिद्ध भक्त मेरे देखने में दूसरे कोई नहीं आये। वे हमेशा कहते कि प्रेमलक्षणा भक्ति के बिना योगसाधना व्यर्थ है, इतना ही नहीं अनर्थकारी है क्योंकि तब अहङ्कार फूलता है।]

[तीसरा है ज्ञानात्मक भजन। किसी वस्त्र के दो छोर पकड़ो—एक छोर से दूसरे छोर तक जाने तक वही एक ही तन्तु मिलेगा—ताने में भी एक तन्तु, बाने में भी एक तन्तु। ऐसे ही ब्रह्माण्ड-रूपी पट में एक छोर से दूसरे छोर तक तन्तुस्वामीय (तत्त्व) एक में ही है—यह जिन्होंने जान लिया—ऐसे मेरा ज्ञानात्मक भजन करने वाले भक्त हैं। मेरे सिवा चराचर जगत् में और—दूसरा कुछ भी नहीं, वस्त्र में ताना-बाना बने हुए तन्तु के समान समस्त सृष्टि की बुनावट बना हुआ तत्त्व एक मात्र में ही है—यह उनका प्रत्यक्ष प्रत्यय है। आदि ब्रह्मा से लेकर चौंटी तक जितना कुछ भी इस विश्व में है, वह मेरी ही सत्ता है, ऐसा वे जानते हैं। इसलिये उनके पास कोई बड़ा-छोटा, सज्जन और निज्जोब—यह भेद नहीं है। (ओवी २१७-२०)

और एक प्रकार के भक्त हैं मेरे—उन्हें बस व्यक्तिमात्र की नमन करना ही आता है। योग्य-अयोग्य का ये विचार नहीं करते हैं और अपनी श्रेष्ठता का स्थाल भी नहीं आता उन्हें।

को गाड़ी से खोलकर चारा-पानी दे दिया। उन सज्जन के लिये आसन ल्या दिया, बैठा कर खुद मोटर आये, पटेलानी से कहा—“कुछ भी बोलना नहीं, बताना नहीं कि मैं कौन हूँ; अपने घर की दृष्टत रखनी है, चुपचाप देखती रहना कि मैं क्या करता हूँ।” पानी का लोटा और गुड़ लेकर गये, पिलाया। वे कहने लगे “मैं बहुत थककर आया हूँ, जरा पाँव दबा दे।” महाराज बैठकर पाँव दबाते लगे। फिर हाथ जोड़कर पूछा “क्या आप भोजन करेंगे? मैं से कहकर बना लाता हूँ।” भोजन के आये, परोसा, खिलाया। रात को वे सज्जन सीने लगे तब बोले “मेरी बहुत बुरी आदत है कि शरीर दबवाये बिना नहीं सो सकता।” महाराज ने बहुत प्रेम से पूरा शरीर अच्छी तरह दबा दिया।”

दूसरे दिन सुबह चार बजे पटेल साहब और मेरे मामा बापिल गाँव पहुँच रहे थे, कि गाँव की सीमा पर ही महाराज जाते हुए मिले। उन्होंने प्रणाम करते पूछा “क्यों महाराज इतनी जल्दी में क्यों जा रहे हैं?” उत्तर दिया “कल यहाँ आ गया था, अब कुछ जरूरी काम से जा रहा हूँ”—तेजी से चले गये। पटेल साहब घर पहुँचे। मेहमान सोये हुए थे। वे सुबह उठते ही पुकारते लगे—“ए लड़के! ए लड़के! यहाँ आओ!” पटेल साहब चकराये, पूछा “किसको मुला रहे हैं? हमारे घर में तो कोई लड़का है नहीं।” मेहमान बोले—“अरे यही तुम्हारा नौकर। उसे बुलाओ।” पटेल साहब ने कहा—“मेरे यहाँ तो कोई नौकर नहीं है।” मेहमान बोले—“अरे कल से मैं आया हूँ तभी से बराबर सेवा कर रहा है। इतना बढ़िया बदन दबाता है, स्वादिष्ट भोजन बनाता है, मैं तो तुमसे कहने बाला था कि यह लड़का मुझे दे दो।”

ऐसे कितनी ही बार नाटक करते हमने महाराज को देखा है। कोई भी, कैसा भी काम हो, कभी पीछे हटते ही नहीं। हमें लगाता कि यह काम ये कैसे कर पायेंगे? पर सभी काम वे ऐसी कुशलता-पटुता से करते कि सब दंग रह जाते।”

अपने श्रेष्ठ का भान न होना—यह क्या चीज है यह दो व्यक्तियों में मैंने प्रत्यक्ष देखा—एक सन्त तुकड़ोजी महाराज में, दूसरे जयप्रकाश जी में! ऊपर तक घोंटी खोलकर जयप्रकाश बाबू मुसलमाना और शोचालय घिस-घिस कर साफ़ कर रहे हैं। किसी भी तरह का काम कर रहे है, कोई संकोच नहीं।

यहाँ कहा है कि उन्हें व्यक्तिमात्र को नमन करना ही आता है—उनके मन में “मैं कितना बड़ा हूँ—घनवान् हूँ, ज्ञानी हूँ—यह भाव आता नहीं।]

मर्द रूप होने के कारण उनका स्वभाव मेरे-जैसा ही हो जाता है। [स्वयं श्रोत्रुण्य ने क्या नहीं किया है? गायें चरायीं, भाल-बालों के साथ बराबरी से खेले, मयूरा में आकर कुत्ती में उतरे, युद्ध में आक्रमणकारी सेनाओं को हराया, पाण्डवों के कितने ही काम किए, दूत बने, यज्ञ में पूछी पतलें उठायीं, अतिथियों के पाँव धोये, सारथि बने, अस्वों की पूरी सारसंभाल और सेवा की।—सबसे ऊँची प्रेम सगाई’ के लिये क्या नहीं किया?

इसीलिये कहते हैं—हे अर्जुन! उन भकों का स्वभाव मेरे जैसा ही हो जाता है। उनके लिः कोई काम या व्यक्ति ऊँचा या नीचा, श्रेष्ठ-ननिष्ठ, नहीं है; सबके साथ प्यार का सम्बन्ध है, अतः ऊँचाई पर

से उदक (जल) डालने पर जैसे नीचे आता है वैसे मेरे भक्त ऊँचाई पर से नीचे उतर आते हैं—जहाँ भी उनकी जरूरत हो। “सबके नीचे, सबके पीछे, जहाँ गरीब की शोषण है, वहाँ मुझे खोजो!”—रथि अकुर ने लिखा है।]

(ज्ञानी भक्त की नम्रता का वर्णन चल रहा है।—)

फलों से लदी हुई धाखिएँ जैसे जमीन तक झुक आती हैं; वैसे मनुष्यमात्र के सामने वे नम्र रहते हैं। [इसके विपरीत होता है संसारी-व्यक्तियों का व्यवहार;—घन या पद (सत्ता) से ‘बड़े’ लोगों के प्रति झुकते हैं; गरीब एवं अपने ‘नीचे’ काम करने वालों के प्रति अलम बर्ताव रहता है, आधा-बधेली रहती है—नौकर के साथ, पत्नीसी के साथ, अपने बच्चों

के साथ, सहकर्मचारी के साथ, बड़े अधिकारी के साथ, जिससे कुछ स्वाधं निकलता हो ऐसे लोगों के साथ—बात करते समय अपने आवाज और चेहरे की भावभङ्गी व मुद्रा को कुछ धिन गौर से देखते रहिये। हमारे लिए सब समान नहीं हो पाते क्योंकि वहाँ हम 'नोकर' को देखते हैं 'मनुष्य' को नहीं, पत्नी या प्रतिस्पर्धी को देखते हैं, मानवता को नहीं।]

वे सर्वथा मूर्तिमती अगवन्ता—(गर्व का अभाव) रूप, पूर्णतया निरभिमान रहते हैं। उनकी नम्रता विभाषित-आयोजित नहीं होती। सब के प्रति निर्हेतुक निरन्तर गर्व-द्विष्ट ही व्यवहार होता है।

विषय एवं शील ही उनकी एकमात्र सम्पत्ति रहता है। उनका प्रत्येक क्षण प्रभु का जयकार 'जय हो प्रभु!' करने में व्यतीत होता है, समर्पित रहता है।

अर्जुन ! यह श्रेष्ठ ज्ञानभक्ति तुझे बताई। पहले भी हम इन सब प्रकार की भक्तिस्थानाओं की भजन के प्रकारों व गुणियों की, विविध यज्ञों की बात कर ही चुके हैं, इसलिये अब मैं इसका विस्तार नहीं करूँगा। (श्लोकी २२१-२२९)

तब अर्जुन बोला—“आप भले ही पहले इस विषय का निरूपण कर चुके हों, पर... यदि कोई हमारे पास में अमृत परोस रहा हो तो क्या हम “अब बस करो ! नहीं चाहिये !”—ऐसा कहेंगे ?” इसलिये आप बार-बार मुझे समझाते हैं; वह बात समझ में आने पर भी सुनने का प्रेम कम नहीं होता; इसलिये आप कहते बलिष्ठ, रोकिए नहीं।”

भगवान् ने देखा कि पापों तो आनन्द से झूझ रहा है। भक्तों का वर्णन सुनते-सुनते उसका चित्त प्रसन्न हो गया है, और वह डोल रहा है। तब बोले—“पापों तू ने बहुत अच्छा किया कि यह बात कही; देख न। हम खड़े कहाँ है ? सबरक्षेत्र में खड़े है, यह कोई भक्तों की बातें कहने-सुनने का व्यवहार है ? लेकिन क्या कहे ? तेरी अवस्था, तेरा प्रेम, तेरे प्रपन्न और शक्तुत्वं मुझे छेड़ देती है, तो मुझसे बोले बिना रहा नहीं जाता।”

[श्रीकृष्णार्जुन संवाच दिक्षा रहे हैं शानेस्वर] तब अर्जुन बोला—“अहो ! यह आप क्या कह रहे हैं ? चकोर न हो तो क्या चरित्रो नहीं होगी ? चन्द्रमा का स्वभाव है ज्योत्स्ना। ज्ञान तो आपकी मुद्रा है, स्वभाव है, मैं न रूँ तो भी आप तो बोलते ही वाले हैं, किसी न किसी पर श्रेय लादने ही वाले हैं, मुझे क्यों श्रेय देते हैं ?

आप कृपासिन्धु हैं। चकोर अपनी गरज का मारा अपनी चोंच चन्द्रमा की तरफ़ धोल्ता है, चन्द्रिका पीटा है, वह यदि माने कि चन्द्र उसके लिए ही उदित है तो उसकी भूल होगी। वैसे ही आप मुझे निमित्त बना कर पूरे विश्व को ज्ञान देने के लिए यह कृपा बरसा रहे हैं। आप बड़े चतुर हैं, मैं आप की सब चाल जानता हूँ।” [यह तो ज्ञानेस्वर महाराज ही लिख सकते हैं।]

“मेघ अपनी प्रणयता के नाते, प्रतीक्षा करते हुए पूरे जगत् को आवश्यकता देख कर, सबको प्यास बुझाने के लिए बरसता है। कोई बातक कहे कि ‘मेरे ही कारण वर्षा हो रही है’ तो उसका भ्रम है। यह मैं जानता हूँ। रणक्षेत्र में खड़े होकर जो बात आप समझा रहे हैं वह तो सम्पूर्ण जगत् को सदा के लिये सही पथ दिखाने हेतु आपकी अवश करण-कृपा ही बरस रही है।

वासुदेव ने कहा—“हाँ माई ! अब बस करो; तेरे प्रश्न से ही मुझे सन्तोष है अब आगे प्रशंसा मत कर। प्रशंसा सहने की भी क्षमता नहीं रह गई।” तू इतना ध्यान देकर सर्वाङ्ग से यह सब सुन रहा है, यह तेरी जिज्ञासा एवं तेरा एकाग्र ध्यान ही मेरे वक्तुत्व का आतिथ्य कर रहा है। इसीलिये एक बात कहने जाऊँ तो साप में बस निकल जाती है, वक्तुत्व निष्कार पर आ रहा है।” ऐसा कहकर श्रीहरि ने कहा प्रारम्भ किया। यज्ञ-धामादि करने में जिनकी रुचि है, वे धरे लिये ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान करते हैं।

(ज्ञानयज्ञ का पूरा रूपक कहते हैं)—मूल सङ्कल्प है पशु बाँधने का यूप (सङ्गम); पञ्चमहा-भूतों का मण्डप है, बलि देने के लिये पशु है दैव-भाष। जो विश्व में आत्मभाव से जीने नहीं देता;



इसी दुर्बलत दशु की बलि चढ़ाओ। 'किस प्रकार का यज्ञ करते थे मैं सम्युष्ट होऊँगा'—यह बतला रहे हैं।

पञ्चमहाभूतों के गुण (सब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध) मानसहित सब इन्द्रियाँ, एवं पञ्चप्राण—यही यज्ञ की सामग्री है। अज्ञान नाम का बी है। मन और बुद्धि नाम के कुण्ड हैं। उनमें अज्ञान रूपी घी जला कर आगमि प्रणयलित होता है। सुख-दुःखों के विषय में चित्त की समता रूपी वेदी है।

[यह शान्ती-योगी-भक्त की वाणी है।]

इस यज्ञ का कर्ता-यजमान है जीवभाव। धार्मिक ही शुक व सुवा (यज्ञ में आहुति देने के वैदिक पात्र) हैं। विवेक ही मन्त्रोच्चार है।

ऐसा यज्ञ जो करते हैं, प्रतीति के पात्र में विवेकरूपी महामन्त्र से अज्ञान की आहुति देते हैं, उनका अज्ञान तो समाप्त होता ही है, साथ ही स्वयं कर्ता अहंभाव भी विनाशित हो जाता है। यही ज्ञानयज्ञ की फलश्रुति है। तब आत्मा में साभरस्य रूपी अवभूष (यज्ञान्त विधि का)—स्नान होता है। अज्ञान गया, जीवभाव गया, आत्मा के साथ समरसता हो गयी।—ऐसे भी मेरे भक्त हैं अर्जुन।

ऐसे ज्ञानयज्ञ का अनुष्ठान, जोर आत्मसमरसता में रूपी अवभूष स्नान करने के बाद उस व्यक्ति की दशा यह होती है कि उसे सर्वत्र एकमात्र आत्मतत्त्व ही दिखाई देता है, जैसे निद्रा में से उठा हुआ मनुष्य कहता है कि स्वप्न में मैंने जितना कुछ देखा वह मैं ही बना हुआ था, मैं ही भरा, मैं ही जिया इत्यादि। वेदों दंतभाव के कारण होने वाले सुख-दुःखादि जो भाव थे—वे मैं ही हो गया था—ऐसा वह समझने व कहने लगता है। इसी प्रकार ज्ञानयज्ञ का अवभूष स्नान कर चुके हुए अतः व्यक्ति के अज्ञान निद्रा एवं मग्नभाव के कारण उत्पन्न हुए भेद व ईत के स्वप्न सब समाप्त हो जाते हैं—यह उसकी फलश्रुति है। (ओषी २३०-४७)

फिर उस भक्त को 'जीव' कहना भी गलत है, 'जीव' संज्ञा उसके लिये उपयुक्त नहीं, क्योंकि उसकी

दृष्टि में तिनके से लेकर ब्रह्मा तक सब ब्रह्मतत्त्व ही दिखता है। परमात्मबोध सर्वत्र रहता है, उसके शरीर में सूत्र के साथ-साथ आत्मबोध भरा रहता है।

इसलिये उनके सामने अनेकता से भरा हुआ विश्व दिखता है तो भी उसके चित्त में भेदभाव उठता नहीं। किसी की देह देखो—उसके सभी अवयव अङ्ग-प्रत्यङ्ग उस देह में ही समाविष्ट हैं, अतः हम एक-एक अङ्ग का पृथक् नाम नहीं लेते कि 'अङ्ग देखो, कान देखो, हाथ देखो, घुटना देखो, पाँव का अँगूठा देखो, बाल देखो'—इत्यादि। सब अलग दिखने पर भी समूचे एक शरीर का ही बोध होता है, अनेक को देखते हुए भी वहाँ जैसे एक का बोध हुआ ऐसे ही इस विश्व की समस्त भिन्नता अनेकता देखते हुए भी ये सब परमात्मा की व्यक्त-काया के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं—ऐसा बोध होता है; समग्र दृष्टि देखती है—एक परमात्मा को ही। अपार विभिन्नता देखने पर भी उनके चित्त में जो एकता का बोध है वह सञ्चित नहीं होता। इसीलिये उन्हें ज्ञानी भक्त कहता है।

बूझ का तना एक होता है, नीचे जहाँ दूर-दूर तक धरती में फैली व गहरी नहीं रहती है। तने में से बड़ी-छोटी अनेक शाखायें निकली होती हैं, उनमें फिर प्रशाखायें, छोटी कोमल टहनियाँ, उनमें पत्तों के गुच्छे, उनमें आगे कलियाँ, फूल फिर फल ऐसे कितने ही आकार-प्रकारों की विविधता रहती है, प्रत्येक आकृति के गुणधर्म भी भिन्न होते हैं (आयुर्वेद-विज्ञान के अनुसार) फिर भी सबका स्याविष्ट रूप एक ही संज्ञा—'बृक्ष' का बोध उपजाता है। एक 'बृक्ष'-बोध सञ्चित नहीं होता, उसके अङ्ग-प्रत्यङ्गों की अपार विविधता का ज्ञान-भान रहते हुए भी। उसी प्रकार संसार की असंख्य-अपार विविधता-अनेकता-विभिन्नता का सम्यक् आकलन रहते हुए भी विश्व के अधिष्ठान एवं मूल उपादान परम तत्त्व की एकता का—विश्व-ब्रह्मैतन्त्र का आत्मतत्त्व की अद्वितीयता एकरसता का बोध अस्पष्ट रहता है।

विश्व में व्याप्त अनन्त रक्षिणी हैं; इन रक्षियों की अनेकता से सूर्य की एकता का बोध क्षणित नहीं होता। तो मेरी एकता के बोध में विश्व की अनेकता व्यवधान क्यों बनती है अर्जुन।

विश्व में नानाप्रकार के व्यक्ति हैं, इनके नाम अलग हैं, रूप अलग हैं, वृत्तियाँ अलग हैं, किन्तु सब भिन्नताओं में अनुस्यूत में अभेदरूप हैं इसकी भेरे जानी भक जरा भी नहीं झुलते।

पानी पर बुलबुला उठता है। वह इस घाट पर था बहकर दूसरे घाट में गया, यहाँ से वहीं जाता दिखा; कहीं भी जाये, वह बुलबुले के आकार में रहे या मिटे—पानी से उसका सम्बन्ध कभी छूटता नहीं।

पवन ने धरती से परमाणु को उड़ाया, आकाश में ऊँचे षड्राया, फिर पवन का वेग शान्त होते ही वे परमाणु (कण) वापस धरती पर आ गिरे। ये कण धरती पर रहते, उदाये आकर दूर आकाश में लेजाये जायें, भारत की धरती के कण अमेरिका के आकाश में पहुँच जायें, फिर कहीं पर भी गिर जायें—धरती से उन कणों का सम्बन्ध कभी छूटता नहीं। ऐसे ही धनुष्य का जन्म हो, जीवन उसे विविध क्रियाओं में उछाले, फिर मृत्यु उस धरती से जीव को अलग कर दे, लेकिन उस जीव का सम्बन्ध मूस से छूटने वाला नहीं।

ऐसे, जगत् के विभिन्न व्यक्ति कितना भी भिन्न-भिन्न व्यवहार उस (भक्त) के साथ करें, भेरे ज्ञानी भक्त का व्यवहार सबके प्रति एक ही रहता है। ये भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, क्योंकि जितनी मेरी व्याप्ति है उतनी उनकी व्यापक प्रतीति है। मेरी व्याप्ति की वे अपनी प्रतीति के आँचल में बाँध लेते हैं—इन ज्ञानी भक्तों के सामने मैं हार ही तो गया ! भेरे समान व्यापक और कोई नहीं, कुछ नहीं, कहीं नहीं, लेकिन भेरे भक्त मूस से भी अधिक व्यापक हैं क्योंकि उन्होंने अपने भाव में मेरी व्याप्ति को समेट लिया है। हठना ही नहीं वे भक्त निस्सन्देह में ही हैं—ऐना समझना चाहिए।

“गोविन्द-गोविन्द ! हृदयें लगा यही छन्द ! (व्यसन)

गोविन्द ही काया ! हृदयें-उसमें भेद न रहा !”

तुकाराम ने गाया है गोविन्द-गोविन्द गाते हुए मेरी काया गोविन्द हो गयी है, अब उसमें मूसमें कोई भेद नहीं रहा।

तुकाराम की घर की फटेहाल बधा सब जानते हैं, खाने की अन्न नहीं, पहनने की वस्त्र नहीं, रहने की शोषण नहीं। पत्नी चिल्लाती है कि “उस काले पत्थर (विद्वल) के पास जाकर क्या बँधे रहते हो ? घर में कुछ भी नहीं है।” सारा गाव हँसता है, खिल्लो उड़ता है। “मक” होना कोई आसान नहीं है, संसार उसे पागल ही समझता है। और भक्त की चेतना अशेवान्ध में विभो है।

[यही बात यहाँ बासुदेव अर्जुन को समझा रहे हैं कि मूस में और भेरे भक्त में रंचभार भी भेद नहीं रहता। वे मेरा ही प्रकट रूप हैं।]

संसार में कहीं भी कोई भी व्यक्ति जाये, जिसने सूर्य की ओर अपना मूस किया उसके लिए सूर्य सम्पूष है। जिसने अपना मूस सूर्य की तरफ किया, उसकी तरफ से सूर्य ने कभी मूस फेरा नहीं। वे जो व्यक्ति संसार में रहते हुए भी भेरे अभिमूस सम्पूष हो जाते हैं अर्थात् मुझे देखने के लिये अपना मूस (संसार से हटा कर) मेरी ओर मोड़ लेते हैं, उनके लिये मैं सदा सम्पूष हूँ। कहीं भी हूँ जायें, सूर्य सदा-सर्वदा निरपवाह रूप से सम्पूष है ही है, जो जब देखना चाहे देख सकता है। परमात्मा कहते हैं—जो देखना चाहे, उसके लिये मैं सदा सम्पूष विद्यमान हूँ। जो मेरी ओर से पीठ फेर ले उसी के लिये विमूष हूँ। जिसने स्मरण किया उसके लिये मैं उपस्थित हूँ।

विश्वरूपी आकार में मैं विश्वाधार बैठा ही हुआ हूँ। मुझे देखने के लिये अपना स्थान छोड़ कर कहीं जाना पड़े, प्राप्त सम्बन्धों को छोड़ कर कोई नये सम्बन्ध बनाने पड़ें ऐसा नहीं। जहाँ विश्व है वहाँ मैं हूँ ही। जो-जो देखेगा उसके लिये मूर्त हूँ, जो नहीं देखेगा उसके लिये अमूर्त हूँ।

ऐसे मेरा ज्ञानयज्ञ करने वाले भक्तों के ज्ञान में—“पेट सामने, पीठ पीछे”—ऐसा भी फर्क नहीं है। अर्थात् अपने अनुकूल प्रसंग में तो आत्मज्ञान-

परमात्मा का अनुसन्धान बना रहे और प्रसिद्ध प्रसङ्ग में सब ज्ञान उच्च जाय, भूल जाय—ऐसा नहीं होता। जरा सा दुःख आया, कोई भुलीबत आयो कि मुझ से विमुख हो जाय—मेरी सर्वव्यापकता-सर्वरूपता भूल जाय ऐसे व्यक्ति मेरे भक्त नहीं हैं। उनके ज्ञान में पीठ और पैर भिन्न हैं।

गान में वायु जैसे सर्वत्र है, सर्वदा है, ऐसे मेरे प्रति अढा-भक्ति-प्रेम भक्तों के हृदय में सभी प्रसङ्गों में समान रहता है। सुख में वही, दुःख में भी वही, सम्मान में वही, अपमान में भी वही। उनका जो मेरे प्रति प्रेम है वह कभी घटता-बढ़ता नहीं। उसमें बदलाव-उतार नहीं। इसीलिये पार्थ ! उन भक्तों को किसी विशेष कर्म द्वारा मेरा भजन नहीं करना पड़ता। वे सोये हों तो समाधि है, वे कहीं चले वही मेरी परिक्रमा-प्रदक्षिणा है, वे जो कुछ भी करें वही मेरी पूजा-अर्चना है। वाणी से जो भी बोलें वही मेरा संकीर्तन है, उनका सारा जीवन ही भजन-पूजन-यज्ञ हो गया है। ज्ञानयज्ञ करने वाले भक्तों की यह स्थिति है। अन्य तीन प्रकार के भक्तों (हठयोग, राजयोग, उपासना श्रवण कीर्तनादि), से इनकी भक्ति की रीति, जीवनशैली अलग है। कोई देखे तो कहेगा २४ घण्टे तो काम करते रहते हैं—भजन कब करते हैं ? विन्तु इनका प्रत्येक कर्म ही भजन-पूजन है। उनका विश्वास लेना भी तो भजन है। २४ घण्टे मैं ही उनके सम्मुख हूँ। और किसी को उनकी आँखें देखती ही नहीं। और किसी तरफ उनका ध्यान ही नहीं है। इसलिये किसी विशिष्ट कर्म द्वारा ही भजन होता हो—ऐसा नहीं।

यह देखो अर्जुन, कि सर्वत्र-सर्वदा-सर्वरूप से मैं ही तो हूँ ? अब यहाँ कौन किसकी उपासना करेगा ? भक्त-रूप में भी, उसके हृदय में भी मैं ही तो हूँ। स्वयं अपनी उपासना-भजन करता रहता हूँ। इसीलिये मेरे ज्ञानी मन्त्र भन्दिर नहीं जाते, विशिष्ट कर्मों द्वारा भक्ति-श्रकट नहीं करते तो यह न समझना कि भन्दिर में जावे वालों से, घण्टों बैठ कर ढोल-करताल-मंजीरा बजाते हुए सामास्य संकीर्तन करने वालों से इनकी अढा कुछ कम है,

या एकान्त में बैठ कर समाधि में लीन रहने वालों से इनकी ज्ञानगति कुछ कम है।—ऐसा कतई नहीं है। इनका तो स्वास-उच्छ्वास तक मेरा भजन ही है, क्योंकि अचिराम मेरा (परम तत्त्व का) अनुसन्धान बना ही रहता है।

तो फिर किसके लिये मैं अप्राप्त हूँ ? अप्राप्त्य हूँ ?—जो मेरा स्वरूप (मेरे ही दिग्मे हुए साधनों-उपकरणों—) मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार एवं ज्ञानेन्द्रिय द्वारा जानने-पहचानने का प्रयत्न नहीं करते। शरीर का उपयोग मेरी सार्वभौमता को जीने के लिये नहीं करते।

मुझे जानने के लिये—आत्मपरिचायक श्रवण-मानन-निदिध्यासन, अभ्यासन-चिन्तन-सत्सङ्ग, संयम... सहिष्णुता आदि के लिये समय नहीं निकालते, कष्ट नहीं करते,—इनके विपरीत इन्द्रियों को भी पर बाहर ही दौड़ते रहते हैं। प्रभु-उत्मुख वृष्टि नहीं रखते, आत्मलसती वृत्ति से नहीं जीते; केवल शरीर-सुख में आसक्त रहते हैं, उन्हें मैं नहीं दिसता; क्योंकि वे स्वयं विमुख हैं।

यह प्रसङ्ग अब रहने दे, मैंने तुझे बताया हूँ कि ज्ञानयज्ञ द्वारा प्रतिज्ञाय स्वासोच्छ्वास में मेरी कैसी उपासना हो सकती है। ये ज्ञानयोगी सतत-निरन्तर, सभी के लिये जो भी कर्म करते हैं वह मुझे ही अर्पण होता रहता है; क्योंकि एक भी कर्म के फल की इच्छा अपने लिये नहीं रखते, 'हरिः ॐ तत् सत्' कहते हुए प्रत्येक कर्म करते हैं। कर्म करने का साधन (शरीर) सामग्री (विषय) अवसर (मानव-जीवन) मिला है इसलिये वे इन सब का सद्बुधयोग करते हुए उसका फल मुझे समर्पित करते रहते हैं। वे जानते हैं कि जो भी कर्म करेंगे उसमें जैसी उनकी वृत्ति तथा हेतु होगा वैसा फल संपजने ही वाला है। इसलिये वे समस्त कर्म तथा उनके फल मुझे अर्पित करते रहते हैं। ऐसे उनका प्रत्येक हलन्-चलन मेरा पूजन-यज्ञ बन जाता है।

उपर जो मूर्ख अपनी बुद्धि आदि साधनों का उपयोग करके सत्य-असत्य, अपने एवं विषय के स्वरूप को जानने का प्रयत्न नहीं करते, निरखने-परखने के

लिए समय ही नहीं देते—ऐसे नाचानों के लिए मैं अप्राप्त रह जाता हूँ; अन्वया सर्वात्म-सर्वरूप होने के कारण उन सभी को प्राप्त हूँ जो मेरे अभिमुख हो गये।

ऐसे ज्ञान का उदय जिसके चित्त में हो गया, वह समझेगा कि जिसको वेद कहा गया है वह मेरा स्वरूप है, वेद जिन कर्मों का विधान करता है वे विहित-यज्ञकर्म भी मैं ही हूँ। कर्म का शास्त्र भी मैं हूँ, उन विधानों के अनुरूप कर्म करने के साधन, उपकरण, प्रक्रियाएँ सभी कुछ मैं ही हूँ। [यह इसलिए कह रहे हैं कि उस जमाने में लोग बड़े घटाटोप से वैदिक कर्मकाण्ड के अनुसार बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि करते होंगे, और उसका अभिभाव होता होगा कि “मैंने इतना इष्ट्य (धन) व्यय करके यज्ञ किया। इसमें यह संकल्प था, यह फल चाहता हूँ। या भगवान् के लिए किया।” इस प्रकार अहङ्कार का अन्तराय प्रभु के और अपने बीच झगड़ कर लेते हैं। जो धन भक्ति अभिव्यक्त करने के लिए होना चाहिए वही उल्टे अन्तराय बन जाता है। “मैंने चन्दन की लकड़ी मंगाई, गाय का गुब्ब घी मंगाया, इतने... श्राद्धाणों को यज्ञ में नियुक्त किया। उन्हें इतनी-इतनी दक्षिणा दी।—” ऐसे उनका यज्ञकर्म अहङ्कार की ही अभिव्यक्ति बन जाता है। “वैदिक कर्म ही नहीं, लोग तो ‘सेवा’ का मो छिडारा पोतते हैं—“मैंने इतने सामाजिक कार्य किए, दुःखी लोगों को इतनी राहत दी।”—यों जिस-जिस क्रिया से कर्त्ताभाव पुष्ट होता है वह भक्ति में अन्तराय है। जिसका जितना अहङ्कार विगलित होता है उतनी भक्ति जोधन में आता है।

[हमें इस प्रणय से यही सोखना है कि अहङ्गण्य का उच्छेद (निकल जाना) ही अस्वात्म है। या तो

[ऐसा कोई मनुष्य नहीं जिसमें ये दोनों न हों; किन्तु जब किसी में इन दोनों का सम्बन्ध नहीं रहता तब विच्छिन्न व्यक्तित्व—split personality होता है। जिसने भी देह धारण किया उसमें प्रकृति व पुरुष दोनों का अंश है। इनमें जब पूरा सामञ्जस्य पैदा होता है तब व्यक्तित्व स्थिर उठता है।

बस्तुतः पूरा सामञ्जस्य दिखाई देता है—ब्रह्मचारी के जीवन में। ब्रह्मचर्य से जीने वाले व्यक्ति स्त्री ही तो उसमें पुरुष के गुण (बलशालिता, स्थिरताआदि) भी सुविहसित प्रकट होंगे, और यदि ब्रह्मचारी पुरुष ही तो उसमें स्त्रीसुलभ गुण (कोमलता, नृत्यता, सादर, प्रेम, वरुणलता) प्रकट होंगे। योषी खोस्त (ईसा) का वर्णन लिखा मिलता है कि कभी-कभी वे महिला जैसे प्रतीत होते थे (Sometimes he looked very feminine) रामकृष्ण परमहंस तथा श्रीकृष्णप्रेम के विषय में यह सुना जाता है। गांधीजी तो ‘कन्याओं की भाँ’ कहलाते ही थे।

अहङ्गण्य की प्रभु के प्रेम में चोल दो, या तो ज्ञान की अग्नि में, कर्म के तप में उसे गला डालो, पिघला कर आहुति दे दो। अहं जब तक गलता नहीं तब तक जो भी करोगे वह अन्तराय ही बनेगा।]

साङ्गोपाङ्ग व्रत में मैं ही हूँ—स्वाहा-स्वधा, पृत-समिधा, मन्त्र, ऋत्विक्, देवता, वेदी, हवि, अग्नि, आहुतियाँ सामग्री सब कुछ मैं ही हूँ। [यह सब कहने का तात्पर्य यह है कि अपनी अन्तःप्रेरणा से आप भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए कोई भी साधन अपनायें पर उसमें ‘मैं कर रहा हूँ’—यह भाव न आने दें। “मैंने यह ऐसा सर्वाङ्गपूर्ण यज्ञ करके भगवान् को प्रसन्न किया।” ऐसा भ्रम न पालें। भगवान् कब किस पर अप्रसन्न हैं कि किसी के लुब्ध धन-व्यय करके याग-यज्ञ या समाजसेवा करने से वे प्रसन्न होंगे? क्या आप की किसी क्रियाविशेष से उनकी कृपा व्यक्त होगी? (ओयो २४८-६८)

[निष्काम कर्म को तरफ़ ले जाने वाला, योगा-चिन्तित साधना सिखाने वाला यह गीता ग्रन्थ है—यह आशय है यही।]

मैं इस सृष्टि का परम पिता मैं हूँ। मेरे सान्निध्य के कारण यह प्रकृति सप्रवृत्त सृष्टि उत्पन्न करती है। केवल पिता हूँ ऐसा जो नहीं, तुम्हारे ‘पिता-माता’ अर्थ में मेरा सन्ध न लेना। अर्चनारीमन्देश्वर प्रकृत में जैसे एक साथ नरत्त्व एवं नारीत्व है वैसे ही इस सधराचर जगत् में जितना नरत्त्व और नारीत्व है वह मैं ही हूँ।

और भी आगे बढ़कर सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे तो प्रत्येक नर में नारीत्व है और नारी में नरत्व है—

ब्रह्मचर्य के कारण नरत्व-नारीत्व की मानसिक विशिष्टताओं—सद्गुणों का सामञ्जस्य हो जाता है, इससे व्यक्तित्व में अद्भुत आकर्षण एवं असामान्यता आती है।

चीन के दर्शन में—'यौन व येन' के दर्शन में इस बात का विशेष उल्लेख है। हजारों वर्ष पहले वहाँ इसका विकास हुआ। वहाँ की औषधयोजना में इसका खास विचार किया जाता है। अपने आयुर्वेद में भी इसका विचार है।

यहाँ गीता में इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। वासुदेव कहते हैं जीवभूषा प्रकृति तथा अष्टपा प्रकृति मूल में ही समायी हुई है, मेरे साक्षिण्य से ही समस्त सृष्टि एवं इसके क्रियाकलाप व्यक्त होते हैं। इसलिये मैं सृष्टि का एवं स्वयं प्रकृति का पिता व माता दोनों हूँ। चर और अचर में, नर तथा नारी दोनों में, दोनों रूप से मैं अनुस्यूत हूँ।

ऋग्वेद में तो इस तथ्य के प्रचुर सङ्केत ऋचाओं में मिलते हैं—इन्द्र एवं अग्नि के निरूपण में।]

मूसमं से विषय उत्पन्न होता है। इस उत्पन्न हुए जगत् का पालन-पोषण एवं धारण मूसमं ही होता है। मूससे ही यह जीवित रहता है। (पहले के उपमा-दुष्टान्त भूलना नहीं) जल में तरङ्ग पैदा होता है, जल के बहा पर खेलता है, वापस जल में समा जाता है। उसी तरह यह विषय मूससे ही (जल के बुद्बुद जैसा) पैदा होता है, मूस पर ही इसकी स्थिति बनी रहती है, अन्त में प्रलय का खेल खेलकर मूसमं ही लीन हो जाता है। आकाश में से वायु पैदा होता है, वहीं उसका हलम चलन होता है, फिर आकाश में हो समा जाता है। वैसे ही यह विश्व मेरो सत्ता से हो पैदा होता है, मेरो सत्ता में हो पलता है, वापस मूसमं ही विलीन हो जाता है, इसलिये मैं ही इसका पिता-माता-पिता (धारण व पोषण करने वाला) एवं पितामह हूँ।

[त्रिविध दर्शन-शास्त्र ऊपर से देखने में परस्पर विरोधी जैसे जान पड़ते हैं। इसी दृष्टि से कहते हैं] शब्दब्रह्म वेद के चौराहे पर आया। दूर-दूर के रास्ते एक चौराहे पर आ मिले। वह चौराहा है बंदों का। जहाँ सभी शास्त्रों के परस्पर विरोधी प्रतीत

[They started reducing all verbalisation, it is reached at the principle of sound and light. (समस्त विश्व की शाब्दिक ही ही नहीं समस्त अभिव्यक्ति का साधन निष्कर्ष निकालते चलें तो वैज्ञानिक रूप से अन्त में पहुँचते हैं शब्द एवं प्रकाश पर। ये दो भी उत्पत्तः मिश्र कहे नहीं जा सकते क्योंकि नाश में अग्नि एवं अग्नि में नाश की स्थिति, उपलब्धि है ही है। इन्हें जो कहो या एक कहो, इसे और घटा नहीं सकते, वैसे ही समस्त शब्द ब्रह्म से निष्कर्ष-भूत अर्थ को यदि सघनता का सिद्धान्त लगायें तो अन्त में आकर अकार ही शेष रहता है।

होते सिद्धान्तों का (वेद में) समन्वय हो जाता है, विरोध का परिहार हो जाता है और जितनी विशिष्टतायें हैं उनका जतन होता है।—उस वेद का भी मूल प्रतिपाद्य विषय एवं आश्रय भी मैं ही हूँ। इसलिये सम्पूर्ण शब्दब्रह्म के चौराहे—वेद में एक अङ्कुर पैदा हुआ—'प्रणव'-अकार।

सब शास्त्रों-दर्शनों-वेदों एवं तन्त्रों का निष्कर्ष सार है—अ-उ-मू + ऐसी साढ़े तीन मात्रा के एक अक्षर अं में। (यह एकाक्षरी मन्त्र निगम एवं आगम रूपी दो सर्वथा विपरीत प्रतीत होती हुई वाङ्मय धाराओं का मिलन-बिन्दु है, सेतु है, दोनों में समान महत्त्व-गौरव से प्रतिष्ठित है, क्योंकि ब्रह्म-वाचक है।)

विभिन्न शास्त्र परस्पर लड़ते-झगड़ते प्रतीत होते हैं किन्तु सबका समन्वित एकमेव मूल एवं अन्तिम आश्रय ब्रह्म में ही प्रतिष्ठित है। उस परम-तत्त्व का वाचक है प्रणव। अकार की साढ़े तीन मात्रायें हैं। उसका स्वयम्भू अनाहत नाव मैं हूँ। और अकार का मूल अर्थ भी मैं हूँ। उसी में आकर मैं समा गया हूँ। (ओयो २६९-७६)

भक्ति के चार रूपों में अन्त में ज्ञानयज्ञ बताया। जब द्वा चारों का भी निष्कर्ष दिखा रहे हैं प्रथम में।

बाइबिल में कहा गया है—“In the beginning there was word, from the word the world was born.” (सृष्टि होने से पहले केवल शब्द था, उस शब्द में से सृष्टि बनी।)

यहाँ कह रहे हैं कि सृष्टि में आरम्भ में नाद था, इसी से समस्त जगत् बना—

“नादरूपः स्वयं विष्णुः नादरूपो महेश्वरः । नादरूपा परा शक्तिः तस्मात्प्राधात्यर्कं जगत् ॥”]

इस अनाहृत नाद का घोष चल रहा है सम्पूर्ण सृष्टि में। सुन सको तो अनुभव कर लो अर्जुन! वह मेरा नाद है, या उस नाद के रूप में मैं ही विश्व में अनुस्यूत हूँ। वही मेरा रूप है। मवि बुद्धि और दृष्टि में एक धातु तू मेरे विष्णुत्मक सर्वव्यापी स्वरूप को पकड़ न पाता हो तो मेरे तत्व के साधन निरुत्कर्ष-रूप अकार में धुसे पा सकता है। यहाँ मेरी सत्ता (नाद-अर्थ-ज्ञान-प्रकाश सभी कुछ) धधन होकर वर्तमान है।

वेदों का जन्म भी मूल अकार में से ही है। अकार को अ-उ-म्- + —इन सारे हीन मात्राओं को कोष्ठ में से ही वेदों का जन्म हुआ है। चारों या तीनों प्रकार के मन्त्रों की रचना (पद्य-गद्य-गोम) को दृष्टि से वेद तीन कहे गये—ऋचाओं से ऋग्वेद, यजुषों से यजुर्वेद, सामों से सामवेद; मन्त्राद्यो अथवा प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से संहितायें चार हुईं जिनमें अन्तिम है अथर्व। इसीलिए चार वेद कहलाये। और सम्पूर्ण वेद (चारों संहिताओं का समन्वित एकोकृत ज्ञान) का एकमेव प्रतिपाद्य अर्थ, सार एकमात्र मैं हूँ, और वह मैं इस एकाकार मन्त्र में प्रकट हूँ।

[सुकाराम ने गाया है—

“वेद बोले अनन्त, सार इसना ही केवल,  
‘राम ! कृष्ण ! हरि ! गोविन्द ।  
राम-कृष्ण-हरि-गोविन्द’ ।”

रात दिन धवासाच्छाया में हरिनाम लेते रहो।

“वेदों का सारार्थ, है हमें ही ज्ञात  
अन्ध और सब ढाँते रहें, माधे पर भार ।”

वेदों का अर्थ तो हम भक्त लोग ही जानते हैं, अन्य सब (बाह्य पण्डित) तो केवल शब्दार्थ का भार ढोते हैं, ढोते रहें।]

‘अकार’ के रूप में तू मेरे समग्र स्वरूप को पकड़ सकता है। यह मेरा रहस्य समझ ले।

ऋग्-यजु-साम इन तीनों रूपों में मैं आत्माराम ही प्रकट हुआ हूँ। यदि तू शब्दब्रह्म का कुलकर्म वंशयुक्त देखने जाय तो उसका मूल में ही हूँ। सन्तों की वाणी से लेकर वेदों तक समस्त शास्त्रमय का मूल मैं ही हूँ। (कहीं भी जाओ, परमात्मा वहाँ है ही। इष्टे ही स्वामी अक्षण्डानन्द जी ने विनीची शैली में कहा था—“लोग जिसे पकड़ने दीड़ते हैं पर पकड़ में नहीं आता, दूर-दूर आगे-आगे भागता सरकता जाता है उसका नाम है संसार। और लोभ भूल से जिससे दूर भागना चाहते हैं, छोड़ने की कोशिश करते हैं लेकिन जो कहीं-कभी पिण्ड नहीं छोड़ता, उसका नाम परमात्मा है।”]

जिस अष्टधा प्रकृति का ग्यक्त प्रसार है वह समस्त चराचर जगत्, उस प्रकृति को जब प्रलय के बहाने विघ्नान्ति लेने की इच्छा होती है, तब वह वापस लौट कर धूममें ही जा समाती है। मृत्यु भी मुझसे बाहर नहीं है, इसलिये सबको परमगति मैं ही हूँ।

[ मृत्यु-घटना में हमें लगता है वियोग हो गया; हमसे उस जीव का वियोग भले हीसा हो किन्तु वह तो परमात्मा में मिल जाता है, स्वप्न लौटता है।]

इन पंचमहाभूतों को जो गतियाँ हैं—वायु का चलना, अग्नि का जलना (ऊपर की ओर) जल का बहना, पृथ्वी का स्थिर रहते हुए गुस्लाकर्षण, सूर्य-चन्द्र-पृथ्वी एवं नक्षत्र-मण्डल का अपनी-अपनी सभ में चलते रहना, चित्त में विचारों का चलना, सम्पूर्ण शरीर में सप्त वायुओं की गतियाँ, ऐसी अनन्त प्रकार की गतियाँ विषय में हैं—कोई यदि एक-दूसरे की बाधक नहीं—इनके पीछे ही मेरी सत्ता

का कानून। जिसके कारण ये अन्धा-धुन्ध काम नहीं कर सकते। सृष्टि की समस्त गतियों के परस्पर अविरोध में, संवाद में, सहयोग में एक कानून है। वह ऋतु में है।

[भारतीय कुटुम्ब में जो कर्ता-वर्ता पुत्र्य है उसको इच्छा व संकेत के अनुसार सब काम चलता है। उसका दृष्टान्त लेते हुए कहते हैं—] इस विश्वभू (विश्वरूपी लक्ष्मी, अथवा विश्व की शोभा व ऐश्वर्य) का कर्ता-वर्ता-गिता में हो है। मेरी सत्ता के कारण विश्व के सब व्यवहार चल रहे हैं। मैंने आकाश को आदेश दिया है कि तुम सब जगद् ध्यात होकर रहो। वायु को कहा है—पल भर भी एक जगद् स्थिर नहीं रहना, घूमते हो रहना;

[पृथ्वी को विष्णुपत्नी कहा गया है, घर का पूरा भार गृहलक्ष्मी पर होता है—बच्चों को जन्म देने से लेकर उनका पूरा पालन-पोषण, घर की सब व्यवस्था-देस-रेस, जतन, संभाल रखना सब काम गृहलक्ष्मी ही करती है।

ज्ञानेश्वर महाराज ने जो शान्तरस द्वारा शृंगार को जीतने की प्रतिज्ञा को है उसके छोटे पूरे ग्रन्थ में जहाँ-तहाँ नम्र-संकेतों में मिलते रहते हैं। यहाँ ओवी के एक चरण में विष्णु द्वारा पृथ्वी को बो गई जाता में कितना मधुर रसिक संकेत है गृहस्थापन के संयुक्त शिल्प का। इङ्ग्लैट, संकेत या इवनि काव्य का सौन्दर्य है। indirectness (Suggestiveness) is the essence of Poetry & directness is the essence of Philosophy.]

मैं बुलाता हूँ तो वेद बोलते हैं, मैं चलाता हूँ तो सूर्य चलता है, मैं हिलाता हूँ तो प्राण हिलते (गति करते) हैं—जगत् का सञ्चालन करने वाला प्राणतत्व भी मेरे बस में है। काल भी प्राणियों को सभी प्राप्त करता है—नब मैं उसको आज्ञा देता हूँ। मेरे नियमों का पालन करते हुए ही मृत्यु जीवों को मेरे पास लाता है। [इसीलिये यमराज को ही यम-राज कहा गया है। जन्म और मृत्यु दोनों को जीवन के अविभाज्य अङ्ग माना गया है। इनमें मङ्गल-अमङ्गल की भावना तो सभ्यकाल में (कुछ घटा-न्दियों से ही) जुड़ गयी, मूल भारतीय दृष्टि में वह नहीं है। स्मृतिग्रन्थों तक में यदि 'सूतक' (अशुचि-काल) माना है तो जन्म व मृत्यु दोनों प्रसङ्गों पर समान सूतक कहा गया है, उनमें मंगल-अमंगल का भेद नहीं डाला गया। और उस सूतक का मुख्यतः मनोवैज्ञानिक के साथ-साथ मनःशास्त्रीय महत्त्व भी है ही। ऐसा समर्थ मैं जगत् का नाथ हूँ। (बैलों

अग्नि को काम दिया है—बहुन करने का, जल को कहा है नीचे की ओर बहने रही। बरसते रहते; सागर से भाप बन कर आकाश में जाओ, बरस कर धरती पर आओ, नदियों के रूप में शायद सागर में पहुँचो—यह चक्र बलाते रहो। पर्वतों को कहा है—अपना आसन न छोड़ना। [इसीलिये सन्तों ने—स्वामी विवेकानन्द एवं स्वामी रामतीर्थ ने पर्वतों को ऋषि, योगी कहा है, हवा में डोलने झुमने वाले वृक्षों को भक्त कहा है—नम्रता व आह्लादकता के कारण] समुद्र को रक्षा बाँध दो है कि इसे नहीं लाँचना; धरती के चरण चूमते रहना, अपनी मर्यादा नहीं छोड़ना, पृथ्वी को आज्ञा दो है कि भूतों को चारण बहुत करे।

की गति पर नियन्त्रण रखने के लिये उनको नाक में नकेल डाली जाती है, इसे नाथना कहते हैं।) जगत् की समस्त गतियों को नाथने वाला नियन्त्रण में रखने वाला मैं हूँ। फिर भी मैं गगन जैसा साक्षि-भूत हूँ। इस संसार में होनेवाला कोई भी कर्म मुझ पर चिपकता नहीं, इनका लेप मुझे नहीं लगता, मैं इनमें बँचता नहीं। सभी कुछ का कर्ता-वर्ता-वर्ता संचालक व संहर्ता सब होने पर भी मेरा साक्षित्व कभी मङ्ग नहीं होता। बड़ा निपुण रहस्य है यह। इसे पकड़ना हो तो, आसन सिद्ध करके, प्राणायाम-प्रत्याहार को सहायता से तन-मन की सभी गतियों को निपट करके, धारणा व ध्यान द्वारा शून्य में प्रवेश करे तो समाधि में उस चरम सत्ता का संस्पर्श पाया जा सकता है जो जगत्प्राय (जगत् की समस्त गतियों की नाथने वाली) है। ऐसी चिरदासी सत्ता का स्पर्श पाना प्रत्येक मनुष्य के लिए सम्भव है।

[एक बार उस दशा का—परमभक्ति का—संस्पर्श पा लें तो संसार के सब रस फीके हो जाते हैं। केवल बुद्धिगत ज्ञान से संसार का रस फीका नहीं पड़ता। 'रसोऽभ्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।' एक बार उसका स्पर्श पा लेने पर फिर २४ घण्टे सतत उसका अनुसन्धान बना रहता है। तब—

“आँसू न मूँदों, कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहिं पारों।  
सुले नैन हैंसि-हँसि के देखों, सुन्दर रूप निहारी ॥

साधो सहज समाधि भली।” ऐसी स्थिति रहती है। उसी का ‘समाधिस्थो के सिंहासन पर पट्टाभिषेक’ होता है। वहाँ तक प्रत्येक मनुष्य पहुँच सकता है है ऐसे ज्ञानेश्वर महाराज की श्रद्धा है, इसीलिये इतने बिस्तार से वर्णन करते हैं।]

इस समस्त नाम-रूप में जो भरा हुआ है, नाम-रूप-परिवर्तन के तरङ्गों में भी जो सजा हुआ है। वह

[ओषी सं० १७८ से २०३ का व्याख्यान, जो पुठों का व्यतिक्रम होने की भूख से उत्पन्न स्थान से छुट गया है। रूपया इस्ते यथास्थान (पृ० ६३ कौस्तुभ १ पॉन्टि ऊपर से नीचे १२

‘...विषकार है’ के बाब) पढ़ा जाय। कष्ट के लिये समाधायिनी—सम्प्रा० ]

[“जो आत्मस्वरूप को पहचानते नहीं; उनके सब कर्म व्यर्थ गये, उनका ज्ञान व्यर्थ है; उनका जीवन व्यर्थ है; वे महामूर्ख हैं; उन्हें विषकार है।” —ऐसा क्यों कहा? इसका विश्लेषण अब करते हैं। रजोगुण-तमोगुण में मन की क्या दशा होती है, उसका जीवन पर क्या परिणाम होता है इसका अतीव सूक्ष्म विश्लेषण क्रमशः कर रहे हैं।]

‘उनका ज्ञान व्यर्थ है और धर्माचरण (तीर्थयात्रा, दान, साधु-सेवा आदि सभी कुछ) व्यर्थ है; जीवनभर वे जो-जो कुछ करते गये वह व्यर्थ गया, क्योंकि उन कर्मों में उन व्यक्तियों का चित्त नहीं था चित्त स्थिर नहीं था, सम्पूर्ण नहीं था, अन्यमनस्कता थी, अनवधान में (absentmindedly) आदत के कारण किया। व्यग्र व असीर चित्त था—कर्म लण्डित हुआ। कभी भी उनका सम्पूर्ण चित्त एक कर्म में रहता नहीं।

यह आत्मनिरीक्षण की बात है। हम दिनभर का अपना व्यवहार देखें, पदांशों के साथ व्यवहार, कपड़ों के साथ व्यवहार, रसोई व भोजन के साथ, बच्चों के

में ही है। नाम-रूपों को मैं ही बनाता हूँ, उनमें निवास भी मैं ही करता हूँ। ऐसे धेरे प्रति जो अनन्य धरण हो जाता है उनका जन्म-मरण में समाप्त करता है। इसलिये शरणागतों का धारण्य मैं ही एक कह-लाता हूँ। एक मैं ही अनेक बनकर प्रकृति के गुणों को व्यक्त करता हूँ और जगत् का प्राण बनकर मैं ही सर्वत्र सञ्चार करता हूँ।

इसीलिये, सूर्य जैसे सागर में प्रतिबिम्बित है वैसे किसी गहरे में वर्षा का पानी भर गया हो तो उसमें भी सूर्य प्रतिबिम्बित होता है, वैसे मैं भी—महान् से लेकर अणु तक मैं सूर्य की तरह प्रतिबिम्बित हीता ही हूँ। ऐसे सब भूतों (प्राणियों) में बड़े में छोटे में, पवित्र में-अपवित्र में, समुद्र में, रांगा में, गहरी तक मैं निवास करता हुआ सबका सुहृद (जिगरदोस्त, अभिन्नहृदय सक्ता) बना हुआ सबके हृदय में रहता हूँ। (ओवी २८३-९०)

साथ, बड़ों के साथ, पड़ोसियों के साथ—काया-वाचा-मनसा जितनी हम गति एवं व्यवहार करते हैं, उसमें पूरे पूरे चित्त व भावसहित हम उपस्थित रहते हैं या नहीं? जिस कर्म में हम पूरी तरह समग्रा से उपस्थित होंगे वह व्यर्थ नहीं बायेगा।]

चित्तहीन-दशा में किये गये कर्म व्यर्थ होते हैं। ज्ञान व्यर्थ गया क्योंकि उसके वास्तविक अर्थ का बोध नहीं है और जितना सा अर्थ समझ में आया हों उसका आचरण नहीं है, इसलिये ज्ञान व्यर्थ गया। चित्त चिन्ता में नूर हो, भय के कारण सिक्कड़ा हुआ हो, अधीर-व्यग्र हो, प्रभुत्व की इच्छा या महत्वा-कांसा के कारण उदात्त हो गया है चित्त—इन सभी दशाओं में किया हुआ कोई भी कर्म व्यर्थ बासा है।

उनके चित्त की तमोगुण नाम की राक्षसी बुरा कर ले जाती है। (जो तमोगुण प्रमाद करता है, आलस-विषाद, उदासी, अकर्मण्यता, निष्क्रियता में डाल देता है।) यह निशाचरी (अज्ञान-अन्धकार में ही बिचरन करने वाली राक्षसी) चित्त को अपनी



गोध में लेकर बुद्धि में से विवेकशक्ति को मानो पोंछ झालती है। आत्मा को अनात्मा से सच को झूठ से, पाप की पुण्य से, धर्म को अधर्म से पृथक् पहचानने की प्रभुदत्त स्वतः सिद्ध शक्ति (the faculty of discrimination) ही विवेक है। उसे चूस लेती है तमोगुणनामक राक्षसी।

जो मनुष्य बहुत चिन्ताक्रान्त रहते हैं, भविष्य की चिन्ता-कल्पना में खोये रहते हैं उनकी बुद्धि वर्तमान सामने आयी परिस्थिति में काम नहीं देती। सूझता नहीं उन्हें। बीते व आने वाले कल की चिन्ता में आज की खो देते हैं। "कल यह मूल दुर्घ, यह नुरा हुआ, यह अच्छा हुआ, अथु क ने अपमान किया, ...आदि" और "कल क्या होगा ? जो वास बिगड़ी है वह सुचरोगे या नहीं ?"—इसी प्रपञ्च में पड़े रहते हैं। जीवन के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं रहता। कर्म होते चले जाते हैं चित्त वहीं नहीं है। वह मृत-काल या भविष्य में भागा-भटका रहता है। तब शरीर से निष्पन्न कर्म (Action in the darkness of unawareness) होते हैं। वे कुटुम्ब को पालें, अपना पेट पालें या समाज के लिये बड़े उप-योगी कर्म भी करें—सभी व्यर्थ जाता है (उनके अपने जीवन की दृष्टि से।) यदि मृत-भविष्य तथा राग-द्वेषादि ज्वरों से मुक्त सम्पूर्ण चित्त उसमें लगा हुआ न हो।

उनकी हालत ऐसी है कि चिन्ता के गाल में से तामसी के गले में उतर गये, यानो तमोगुण में और गहरे घँस गये। ऐसा तामसी व्यक्ति 'आज' 'अभी' कुछ नहीं करता, बीठा-बीठा भविष्य की योजनायें बनाया करता है 'कल' का भरोसा रखता है। उसको फिर आज की अकर्मण्यता का समर्थन बना देता है कि 'चिन्तन कर रहा हूँ' आज कुछ करने की फुर्सत नहीं।

[ऐसे तामसी, अकर्मण्य, विवेकशून्य व्यक्तियों के मोटर फिर एक प्रकार की द्विषकता जाग उठती है। चित्त आकाशक बनता है, क्योंकि उनके भविष्य की योजना के साथ आज का वर्तमान मेल नहीं खाता। वर्तमान से रुठे रहते हैं। अरे भाई, सामने खड़े आज

को, इस क्षण को, इस कर्म-कर्तव्य को सम्हालो, कल स्वयं अपनी चिन्ता कर लेगा ! पर तामसी व्यक्ति हमेशा चिन्ताग्रस्त रहता है। लम्बा मूढ़, अश्लेषे बिची दुर्घ, हँसना याद नहीं; जहाँ जाये वहाँ वातावरण को भारी-भरकम बना देता है। कल की आशा में उसके चित्त को हिंसा घेरे रहती है। कोई कुछ भी करे उसे पसन्द नहीं आता, क्योंकि उसने अपने मनमें कुछ और सोच रखा है। वह खुब अपने सोचे हुए को कर्म में उतारोगा नहीं और दूसरों की अपूर्णतायें उसे खटकती रहती है। इसलिये वह द्विषक बनता है।]

प्रमादरूपी घाटी में तमोगुणी चित्त, विवेकहीन बुद्धि को लेकर शत्रुयों को निष्क्रिय बनाये हुए पका रहता है। वहाँ पड़े-पड़े सारे संसार के प्रति उसे द्वेष होता है कि 'मेरे मन जैसा कुछ भी नहीं होता !' द्वेष की याद वह किचाकचाटा रहता है अपने मूढ़ में। उसकी द्वेषमायना, चिन्ता और निष्क्रियता के कारण आने वाला प्रमाद मिलकर उसके ज्ञान की चवा-चवा कर खत्म कर देते हैं। इसलिये उनका जीवन व्यर्थ है।

जिनका चित्त आयुतौ वृत्ति से ग्रस्त है वे तम की खाई में, व्यामोह के गर्त में डूब जाते हैं। तू उनको अष्टछ विचार समझाने जाये तो कोई लाभ नहीं क्योंकि तमोगुण की गोब में पड़े हुए उनमें क्षमता ही नहीं बची है सद्विचार सुनने की एवं शील पाने की; उन्हें होवा ही नहीं रहती दीन-बुनिषा की। वे अचेतनप्राय अवस्था में बुन्ध पड़े रहते हैं। ...किन्तु अर्जुन ! जब रहने दो उनकी व्यर्थ बातें। मूर्खों के जीवन का वर्णन करने से अपने को क्या मिलने वाला है ? मेरी बाणी धक रही है !"

(ओवी १७८-८६)

मगवान् ने ऐसा कहा तो अर्जुन बोला—"जी मैं भी यही सोच रहा था !" तब वासुदेव ने कहा— "अब सज्जनों का वर्णन सुन ! जहाँ बाणी को विश्राम मिलता है। सन्तों के जीवन का निरूपण करने में बाणी को श्रम नहीं बल्कि विश्राम मिलता है।

"सन्तचरित्र परमपवित्र प्रेम से गायें, कोतन कर, विश्व यक्षानें" ! सन्त एक्षनाथ भी ने गाया है

कि भाषी एवं चित्त को प्रशालित-पावन-शुद्ध करने का एकमात्र उपाय है सतों के चरित्र का गायन-संकीर्तन।]

हे पाशं ! उनके विशुद्ध मानस में मैं क्षेत्रसंन्यास लेकर रहता हूँ। उनके मन से बाहर जाने की मुझे इच्छा ही नहीं होती। [यहाँ अब प्रेमी-प्रियतम की भाषा है। भगवान् अपने भक्त को कितना प्यार करते हैं और भक्त भगवान् को कितना चाहते हैं इसका वर्णन जब ज्ञानेश्वर करने लगते हैं तो हस हो जाते हैं। वैकुण्ठ में रहना मुझे भाता नहीं, भक्तों के मन में रहना ही भला लगता है। कैसा शुद्ध है उनका चित्त ! जिनकी (जागृति में तो वैराग्य है ही) सुषुप्ति दशा में भी पराकाष्ठा का वैराग्य उनके चरण बजाता है, उनकी उपासना-सेवा करता है। प्रश्न होगा कि

[अपनी आँखों से देखा है विनोबाजी को क्षणमात्र में जागृति से सुषुप्ति में जाते हुए; वह भी केवल शय्या पर नहीं, पदयात्रा में चलते-चलते भी। ये दो नन्हें से तईए उनके कन्धों पर बाँध दिए जाते, कोई उनका हाथ मार लेता, और वे पदयात्रा के समय में से ही कुछ समय में चलते-चलते ही सुषुप्ति का विद्याम ले लेते। कहते "क्षरीर को तुम चला दो मैं सोया हूँ" आवे-पीन घण्टे बाद, निद्रा की ज़रूरत पूरी होते ही आँखें खोल कर तईए हटा देते। जहाँ छहारा हो वहाँ निद्रा के समय लेट जाते कि सोये सुषुप्ति में। ज़रूरत पूरी होते ही तुरन्त उठ कर बैठ जाते प्रार्थना-स्तोत्रपाठ आदि में।—ऐसी स्वस्थ-स्वाधीन निद्रा को ही वैराग्य बालो निद्रा कहा गया है।]

द्वंद्वसंन्यास लेकर भगवान् ही चित्त में बैठे हों तो स्वप्न आवे भी कैसे ? वे आसन छोड़ें तब तो कोई इच्छा-वासना प्रवेश करे ! ऐसे निवसित चित्त में स्वप्न कहाँ से आवेगा ?

निद्रा विरागी है; तो जागृति में क्या है ? जब परमात्मा में भी इच्छा है (सोऽन्नामपत) तो उन्हीं के अंशरूप मानवमन में भी तो स्वाभाविक इच्छा होगी। जागृति में भक्त की इच्छाओं-वासनाओं में राज्य करता है मूलत्रय या अध्यात्म। चित्त की समग्रता का संरक्षण करने वाली जीवन की अखण्डितता बनाये रखने वाली जो प्रेरणायें हैं वे धर्म हैं। प्रभु प्रतिक्षण उनके चित्त में विराजमान हैं इसलिए जागृति में केवल धर्माचरण-अध्यात्मजीवन की इच्छा का शास्त्राब्ध रहता है। सत्याचरण, स्वायाचरण, प्रेमाचरण की इच्छा, प्राणोपमात्र के प्रति सद्भावना उसके चित्त में रहती है। धर्म ही राज्य चलाता है चित्त में। अर्थात्

निद्रा में—सुषुप्ति में कैसा वैराग्य ? उत्तर है— जिसकी निद्रा में एक भी स्वप्न नहीं आता। इच्छा-वासनायें-महत्वाकांक्षायें अल्प हों तो निद्रा में स्वप्न आते हैं। छोटे से मनुष्यजीवन में, सीमित साधनों-संयोगों में कितनी सो वासनायें पूरी हो सकती हैं ? और जागृति में तो मन एक के पीछे दूसरी इच्छाओं की यथाधिक प्रीति के लिये दौड़ता रहता है। २१६०० ब्वालों में उतनी ही वृत्तियाँ, इच्छायें मँडराती रहती हैं मन के भीतर। महत्वाकांक्षी एवं आसक्त व्यक्ति की निद्रा निःस्वप्न नहीं हो सकती। और जिसने अपने ऊपर जबरदस्ती करके अपनी इन्द्रियों का निग्रह-धमन-पीड़न किया है—उसकी निद्रा में वैराग्य नहीं रहता। मेरे भक्त कभी स्वप्नावस्था में जाते ही नहीं।

सभी इच्छायें आत्मलक्षी हैं, देहव्यायण नहीं। बुद्धि, वृत्ति, इच्छाएँ सब आत्मलक्षी होती हैं।

यह सहज होता है, इसीलिए जो विवेक तमोगुणों के पास फटकता नहीं, वह आकर इनके आचरण को आदं बनाता है। अर्थात् इनका धर्माचरण शुद्ध नहीं है, रजोगुणी नहीं है, पुण्य कमाये के लिए नहीं है। दान की तस्कती लगाने (यथा) के लिये नहीं है; सर्व-व्यापी-घट-घटवासी प्रभु के प्रेम के कारण वे धर्म-आचरण करते हैं। इसलिये उनका धर्माचरण रूखा-सूखा नहीं है। विवेक से वे प्यार से भीमा-भीमा रहता है। तभी तो उनके चित्त में ये बसता है।

उन्हींने आत्मज्ञान की गङ्गा में स्नान किया है, शय्यज्ञान में नहीं। फिर (आश्विज्ञान के कारण अपनी-) पूर्णता का भी भोजन किया है। उन्हींने देखा है—

‘पूर्णमयः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।  
पूर्णस्य पूर्णभावाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥’

परमात्मा पूर्ण है उसे उत्पन्न यह विश्व भी उत्पन्न: पूर्ण ही है। घास का तिनका अपने गौरव में लह-लहता हुआ पूर्ण है। नन्दा-शा पुष्प भी पंखुद्वियाँ खिला कर अपनी पूर्णता प्रकट करता है।—इसलिये भक्त ने जान लिया कि अम्बक-अनन्त परमात्मा पूर्ण है एवं अम्बक जगत भी पूर्ण है इसलिये व्यकाम्यक्त दोनों उत्पन्न लिये हुये मैं (आत्मा) भी पूर्ण ही हूँ। अपूर्ण नहीं हूँ। ऐसे पूर्णता का भोजन किए हुए वह निरयतुस, पूर्णकाम, आसकाम है।

उनकी काया-बाणी-मन से जो व्यवहार होता है उसे मालूम पड़ता है कि उनका व्यक्तित्व मानो धान्ति की ही लता है। उनकी देहपट्टिष्पी धान्ति-लता पर लहलहाते हुए पत्तय प्रसून हैं उनका प्रत्येक हलन-चलन, वृष्टि-बाणी—समस्त व्यवहार। उनका कर्ममात्र धान्ति के स्पन्दन है, धान्ति के अक्षुर है।

कुम्भ-घट—घड़ा और देहपिण्ड दोनों। गोपी का घड़ा जैसे अन्तर्बाह्य अमता जो के जल से भीगा-भीगा रहता है, छूटकटा है, ऐसे ही अिन्होंने मेरे कारण चित्त मे धान्ति को धारण किया, उनको वृद्धि में विभक्त आकर बैठा है, उनके कर्म आनन्द समुद्र में से भरकर छलकते निकले हुए कुम्भ जैसे होते हैं।

[वन्द जीवन का वर्णन कर रहे हैं—आत्मज्ञान-गङ्गा में स्नान किया है, पूर्णता का भोजन किया

है, उनके अङ्ग-प्रत्यङ्ग एवं कर्म आनन्द-समुद्र में से भरे-छलकते कुम्भ हैं।' अन्तर्बाह्य काया-बाणी-मन समस्त व्यक्तित्व आनन्द-सरोवर होता है। "आनन्द-धारा बहे छे भुक्ते!"... "धारे विश्व में आनन्दधारा बह रही है आकाश से आनन्द ही झर रहा है। मुग्धेक-रवीन्द्रनाथ का जीवन वेदनामयी कथा था, अपार दुःख झेला भीतर ही भीतर; और पीड़ा का विष पीकर ऐसा अमृत दिया विश्व को बाणी द्वारा!]

वे धर्ममण्डप के स्तम्भ हैं। पृति अर्थात् सहन करने व धारण करने की शक्ति। हमलोगों में कुछ भी धारण करने की शक्ति नहीं है। अभी सुना, समझ में भी आधा पर एक घण्टे बाव मन्न निकल जाता है। जो माग्यशाली है उनका श्रवण के साथ-साथ सेवन हो जाता है पर धारण नहीं होता। धारण के बाध तो आचरण होगा? भक्तों के चित्त तो मानो पृति के स्तम्भ हैं इसीलिये श्रवण-आकलन-सेवन-धारण और आचरण भी एक साथ होता चलता है। ...जीवन जोना उनके लिए भार नहीं है।

भक्ति उन्हें सिद्ध हो गयी है अर्थात् एकान्त में हों तो भी परमात्मा का साथ है और लोकान्त में कर्म में उतरे हों तब भी परमात्मा का नित्य अनुसन्धान उनका छूटा नहीं है।

गुजरात में साणन्द के पास एक प्रेमी भक्त रहते हैं श्री रबुमा बापू! वे कहते हैं कि भक्त के जैसा ठग कोई नहीं होगा। हर बात में सावधान रहकर ऐसा व्यवहार करता है कि सबको लगता है—'भगतजी का पूरा ध्यान मेरी तरफ है।' भक्त का ध्यान प्रत्येक कर्म में पूरा-पूरा है। भीतर से वह जुड़ा हुआ है भगवान् के साथ, बाहर प्रत्येक कर्म में इतना कुशल है, व्यवहार में इतना चतुर है कि सबको लगता है कि इसके जैसा व्यवहारी कोई व्यक्ति नहीं। गांधी जो के साथ सबको ऐसा ही लगता था न। हज़ारों कार्यकर्ता देश भर में थे, सबको लगता "बापू का मुँह पर अितना प्यार है शायद ही किसी पर हो।" इतने बड़े स्वाधीनतासंग्राम का नेतृत्व कर रहे थे, और स्वयं कहाँ थे?—"मेरा तम्बुरा प्रभु के सुर में लगा हुआ है, तार बहों बँधे हैं। अन्न-जल के बिना रह सकूँगा, हवा के बिना भी कुछ क्षण रह सकूँगा, लेकिन परमात्मा के बिना एक पल भी जीवित नहीं रहूँगा।"—हे न गोपी की बात। वह संज्ञा दूँ तो गांधीजी के साथी मानें नहीं, लेकिन गांधीजी जैसी गोपी मैंने देखी नहीं है। प्रभु के विरह में रात दिन उनकी का स्मरण चलता था। बाँयसराय का बंगला हो या लन्दन का बकिंगहम पैलेस हो, बापू को बेशुध्वा, प्रार्थना का समय एवं अपने ढंग से आहार लेना बचलता नहीं था, उन महलों में और सेवाप्राम की सोपड़ी में कभी अन्तर नहीं पड़ता था। एक ही ध्यान से बैठते, उसी ही सद्ब्रजता एवं धान्ति से बात करते, क्योंकि तार प्रभु से लगा हुआ था।

इसीलिये रघुना बापू की बात शरप्रतिशत सही है। हमारे तुकड़ोजी महाराज ये, कभी स्कूल तक गये नहीं थे, लेकिन अनुशासन एवं व्यवहार में गजब की शिफ़्त थी। सभा में लोग आड़े-टेंडे बैठे हों तो तुम्हें नुटकी भर में मुक्ति बताकर सीधी पंक्तिमें में वही के बहो बैठे देते। बिछायत में जरा सी सलवट हो तो चलता नहीं, कहते—“यह करने वाले के मन की सबलियों का परिणाम है।” लकड़ी चोरना भी खुद करके सिखा देते कि उसमें भी सोन्दर्य रहे। रसीदें बनाकर सिखाते, सिलार्ड-मशीन पर बैठ जाते—सही सीधी स्पञ्च सिलार्ड सिखाते; मोटर चलाते, खैरही बजाकर भजन गाते तो सुननेवाले लाखों हों या चार—उनकी भाव-महती में अन्तर नहीं होता।—कभी भी अकुशल कर्म सहन नहीं किया। नदी-सागर में तैरते, पुरसवारी करते। उनका एक भी स्कूल कर्म तक कभी अनवधान में किया देखा नहीं गया।

उनके ही कारण मैंने छावी पहनना शुरू किया (एम० ए० के समय से) गाँधीजी ने तुकड़ोजी महाराज को सूत काटना सिखाया था १९३७ में। तब से काटने लगे थे। उनके आश्रमों में, दुकानों में पैसे का चलन नहीं है। सूत की गुथी ही पैसे की जगह चलती है। लगभग १२ हजार गाँवों में उन्होंने यह चलाया था कि पैसे को गाँव में आने ही न दो, गाँव के अन्दर के सब काम लेन-देन सूत की गुथी से ही की जाय। ‘‘कभी एक बार बारिस के समय उन्होंने अपने हाथ की कठो छावी को चादर जोड़ा दो और कहा ‘‘विमलानन्द। अब से छावी ही पहनना।’’ चरखा बँगा दिया, काटना सिखाया।’’।

कहना यही है कि भक्तों ने भक्ति ऐसे जोकर दिखाई है। आज भक्ति का अर्थ विकृत होकर बेपरवाही हो नहीं लापरवाही हो गया है—‘बड़े भगत हैं, इन्हें धरती या दुनिया की जरा भी पड़ी नहीं, कभी भी कुछ भी खा लेंगे, कहीं भी सो जायेंगे।।।।’ यह शलत है। सच्चिदानन्द प्रभु की भक्ति करने ही तो व्यवहार में—जीवन के प्रत्येक कर्म में सत्-चित्-आनन्द को प्रकट करना होगा न। वहाँ कुछ भी अनुन्दर कैसे चलेगा ?

**अध्यात्मिक जीवन भक्ति नहीं है, बिचारों व भावनाओं की बराबरकता भक्ति नहीं है।**

**भक्ति है—योगाधिष्ठित सुन्दर कर्म।**

वे भक्ति में मस्त रहते हैं, गुप्त रूप से निरन्तर मेरा अनुसन्धान चलता है, किसी की नजर में नहीं आता पर उनके प्रत्येक कर्म मेरे प्रेम की अभिव्यक्ति ही होते हैं। इतने प्रसन्न हैं कि उन्हें कोई मुक्ति देने आये तो भी कहते हैं—‘‘नहीं चाहिये।’’ [सन्त लुकाराम ने गाथा है न—

‘‘यही दान दो नारायण ! कभी न छूटे तेरा स्मरण !  
न चाहूँ मुक्ति वन सम्पदा, सन्त-सङ्ग पाऊँ सदा !  
गुण गाता रहूँ भ्रम से, यही चाहता प्रभु तुम से !  
लुका कहे मन्त्रवास में, भले नित्य डालें हमें !’’  
हमें बारम्बार देना जन्म, ताकि पाऊँ सन्तों का संघ,

करता रहूँ गुणगान तुम्हारे ॥]

कैवल्य (मोक्ष) सामने आ खड़ा हो तो कहते हैं—‘‘हटो यहाँ से ! दूर जा !’’

ऐसे भक्तों की लोला (सहज व्यवहार) में नीति-शास्त्र के सूक्ष्म शास्त्रों का आचरण होता है। [लोग मानते हैं कि भक्तों की नीति-अनीति से क्या लेना-देना ! उनको सब छूट है। भक्ति के नाम पर मानो अतन्पुलित व्यवहार करने का प्रमाणपत्र मिल जाता है। लेकिन स्वयं मगाना कह रहे हैं कि नीति को जोने के लिये स्थान चाहिये या तो बड़ सन्तों के सहज व्यवहार में चली गयी। चित्त में समता और जीवन में इन्द्रियों में सहज सन्तुलन यह भक्तों का शील बन जाता है। (ओवी १८७-१९२)

वे अपनी दरीन्द्रियों में शान्ति के अलङ्कार धारण किये हुए हैं। अथवा स्वयं शान्ति की सुसज्जित प्रतिमा ही बने हुए हैं। शान्ति जैसे शीतल है। [इदीलिये श्रीज्ञानेश्वरप्रथम्] में

\* १९६८ में जापान में समुद्र तट पर धूमते समग्र सामने समुद्र पर से आते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराज के प्रत्यक्षसम दर्शन के समय श्री विमलाजी के मुख से निकली (संस्कृत में) २७ पंक्तियाँ; जो इस पुस्तक के प्रारम्भ में भी गयी हैं।

कहा गया—“सुखदशीतलमातंगडाय” सूर्य का प्रखर ताप होता है, श्रीज्ञानेश्वर ऐसे ज्ञानसूर्य हैं जिनका प्रकाश सब कुछ स्पष्ट दिखाता है किन्तु प्रकृति घोरतल व आनन्दप्रद है ।

हठयोगियों-तपस्वियों का व्यक्तित्व उनके इन्द्रिय-निग्रह-दमन-पीड़न के कारण बढ़ा उग्र हो जाता है, बाँसों से मानों अज्ञार झरते हैं; केवल ज्ञानी भी प्रखर हो सकते हैं, योगी भक्त का व्यक्तित्व सहज, सन्तुलित, मृदु-मधुर होता है । इसीलिये शारुदेव ने कहा है—‘तस्माद् योगी भवाञ्जन ।’ मनुष्यजीवन की सार्थकता है योगारूढ़ होकर जीने में ।]

मेरी सार्वभौमता पर उन्होंने मानो अपनी गति का झोल चढ़ा दिया हो । मेरे सर्वव्यापी स्वरूप को उन्होंने अपने चित्त में ऐसा धारण किया है कि वह चित्त मेरा खोल (गिलाफ) बन गया है । अर्थात् मेरी चिराद् सत्ता की व्यापकता से भी अधिक विद्याल-उच्चार है उन का चित्त । [इससे अधिक कोई प्रेमी अपने प्रिय के लिए क्या करेगा ?]

ऐसे जो महानुभाव हैं जिनकी प्रकृति ही दीवी बन गयी है, मेरा सम्पूर्ण स्वरूप समग्र रूप से जानने के बाद प्रतिदिन जिनका प्रेम मेरे लिए बढ़ता है—ऐसे नित्यनूतन प्रेम, भाव से वे महात्मा मेरा भजन करते हैं । लेकिन कोई भावना नहीं करते—वे मुझ से कुछ मांगते नहीं, ईश का इन्द्र नहीं रहता उनके चित्त में । मेरा भजन करते हैं, मेरे नाम-रूप-गुण का ध्यान-गान-कीर्तन करते हैं पर मुझ से अग्रिम होकर ! मद्स्वरूप (मैं ही) बन कर ।

उन्होंने तो मुझे नाम दिया, आकार में लाये, सब तरह से मुझे सजाया, मुझ गुणहीन को गुण पहुँचाये, निष्काम्य की लीलायें देखीं—अतः वे मुझसे क्या माँगेंगे ?

वे चित्त में मद्स्वरूप होकर मेरी सेवा करते हैं, उनके आश्रयमय जीवन को बाध क्या करूँ सुखे ? जैसे पिशु के प्रति माँ का मास कर्मो पुराना नहीं पड़ता वैसे उनका प्रेम नित्यनूतन रहता है । प्रतिपल उसमें नई उर्मम उठती है ।

वे मेरा-नाम-संकीर्तन करते हैं, प्रेम से विभोर होकर नाचते हैं, ऐसे नाच-उद्धोष द्वारा उन्होंने लोगों को प्रायश्चित्त का मोठा-सरल उपाय सिखा दिया है, कि ‘राम-हरि-कृष्ण-शिव शम्भु...’ कोई भी नाम लेकर प्रभु को पुकारे ! तुम्हारे सब पाप-ताप मिट जायेंगे । [यही किया था श्रीरामानुज-आचार्य ने । उन्हें दीक्षा देकर गुणदेव ने कहा कि इस मन्त्र को गुप्त रखना किसी को बताना नहीं । लेकिन रामानुज तो छप्पर पर चढ़ कर बोर से मन्त्रोच्चार करने लगे । कहा कि यदि इस मन्त्र से मेरा उच्चार होने वाला है तो सभी प्राणियों का उच्चार क्यों न हो ! मैं भले तरक में जाऊँ, सबको मन्त्र तो सिखा दूँगा ।

चैतन्यमहाप्रभु नगरसंकीर्तन करते हुए निकले । गीरार्वा भी उच्चस्वर से भजन गातो यों ।]

इस हरिनाम-प्रचार से विचित्र दुःख खड़ा हो गया कि प्रायश्चित्त कराने के धर्म से ही जिन पण्डित-पुरोहितों का गुजारा चलता था, उनके लिए अब कोई काम नहीं रहा । भक्त खुले आम सब को हरिनाम गाने को कहते हैं और बतलते हैं कि इतने से ही सब दोषों से मुक्त होकर मुक्त हो जाओगे । इसलिए प्रायश्चित्त का व्यवसाय ठप हो गया है ।

यम-नियम-दम आदि सब बेकार बँट गये हैं कि किस का यमन-दमन-गमन करें ? भक्तों ने सब को श्रीहरि के अग्रिमूल बना दिया है, नामसंकीर्तन सिखा दिया है, अब इन्द्रियों को परमरस मिलने लया तो विषयों की ओर जावी ही नहीं कि उन्हें रोकने-धामने की जरूरत पड़े ।

छोर्ष कहते हैं हम क्षायें क्या ? क्या की मात्रा वितमे भी पाप नहीं रह गये कि उन्हें छाया जा सके । मेरा नामधोष करने से पाप निःशेष हो गये ।

भोर में पी फटने पर प्रकाश हो जाता है, पर मेरे भक्तों के चित्त में सदा ही प्रभात रहता है क्योंकि वहाँ अज्ञान-अवधार का रात्रि को अवसर ही नहीं है । सूर्य के प्रकाश में तो त्रुटि है कि रोज प्रभात मध्याह्न सन्ध्या रात्रि होते रहते हैं । मेरे भक्त

बिसे बोध देते हैं उसके हृदयमयन में निधा कभी होती ही नहीं। अतः वहाँ चिरप्रभात है। तप का दाहक तेज नहीं है। सूर्य वाले प्रभात के बिना ही ने सब कुछ दिसलाते हैं, अन्तर्दृष्टि खोल देते हैं।

अमृत के बिना ही मृत्यु (मृत्यु शाय्या पर पड़ा रोगी या घायल) को जिला देते हैं। अज्ञानी व्यक्ति अहङ्कार को मार से प्रतिक्षण मर रहा था। अज्ञान के अन्धकार में अहङ्कार का प्रतिक्षण पोषण होता जा रहा था। मर्कों ने वह अहङ्कार नाम की गीठ मेरे प्रेम-रसायन से धोलकर मिटा दी। वह ग्रन्थि नहीं रही अतः मृत्यु निःशेष हो गयी। भक्ति पथ में जाने वाला अन्ध हो गया क्योंकि बारम्बार मृत्यु लाने वाले अहङ्कार को ही मृत्यु हो गयी।

“बीज भूनकर लैया (बील) बना दिया।  
अब हमारा जन्म-मरण न रहा ॥”  
तुना कहे हृष विदुल के दास।  
कर चुके पिण्ड में ब्रह्माण्ड को प्राप्त ॥  
“अमर हुए हम अमर हुए !”

—सन्त सुकाराम

ब्रह्माण्ड का रहस्य हमने पकड़ लिया है, जन्म-मृत्यु के बीज (अहङ्कार) को (प्रभु-विरह के ताप में) भून कर नैवेद्य बना दिया है अब उसके अङ्कुर नहीं फूट सकते।

हठयोगादि की साधना के कठिन परिश्रम के बिना हो, यहाँ के यहाँ, घर बैठे हसी जीवन में केमन्त्र आँखों दिखा देते हैं मर्क ! जोसे हुए ही निर्बन्ध, सहज भुक्तापस्था के दर्शन करा देते हैं।

ये भक्तजन राजा-रङ्ग में भेद करना नहीं जानते। [अमोरी के घन पर पलने-प्रतिष्ठित होनेवाले तथाकथित महात्मा लोग घनवत्ता एवं दानदायिक के अनुपात से अम्यागवों के प्रति व्यवहार करते हैं,

दानो सेठ देर से भी आयें तो कथा-सभा में आगे बैठेंगे, अपरिचित गरीब खोता को पहले जाने पर भी कहीं दूर बैठना पड़ता है।] परमात्मा का मन्दिर और मन्त्र का स्थान ही वो ऐसी जगह है जहाँ गरीब-अमीर, पापी-पुण्यशील, बड़े-छोटे निरक्षर गँवार और ब्रकाण्ड पण्डित विद्वान् आदि के प्रति कोई भेदभाव नहीं होगा। [योशु खोस्त ने कहा था न ! कि “बच्चों को मेरे पास पहले आने दो। प्रभु का साम्राज्य उनके लिये हो है।” (क्योंकि बच्चों के हृदय में अहङ्कार की अहुरीली गीठ जमी नहीं होती।)““प्रभु के राज्य में वे ही प्रवेश कर सकते हैं जिनके चित्त बालक जैसे निर्दोष निर्मल एवं सुशोभल हैं।

किसी भी सन्त की वाणो सुनें, आशय एक ही होगा।]

साधना-तपस्या के बल पर वो कोई एकाग्र ही व्यक्ति वैकुण्ठ जा पाते हैं। मेरे मर्कों में उन्मुक्त हरिनाम सङ्कीर्तन करके वैकुण्ठ को ही घरती पर उतार दिया है। जो भी चाहे वह वैकुण्ठ निवास कर सकता है। [वैकुण्ठ का अर्थ है कुण्डारहित होना। जहाँ से सभी प्रकार को कुण्डार्य निकल गये हैं।] ऐंसा जन्हीने विश्व को मेरे नाम सङ्कीर्तन से प्रसालित करके चूना-सफेदी आवि लागा कर ऐसा उज्ज्वल-नवीन बना दिया है कि घरती ही वैकुण्ठ हो गयी है। [मर्कों के लिए पुष्पी, स्वर्ग, नरक, वितुलोक, कैलास, वैकुण्ठ कोई अलग-अलग स्थानविशेष नहीं है।

यह वो—शास्त्रियों ने की है युक्ति,  
कल्पा बन्ध और प्राणी मुक्ति ॥]

ऐसी भक्ति के बस होने के कारण ही अर्जुन।  
मैं मर्कों के चित्त में सदा निवास करता हूँ।

\*\*\*\*\* (ओबी १९३-२०३)

(सहृदय पाठकों से प्रार्थना है कि यह अंश ( ओबी १७८ से २०३ तक) कृपया पिछले पृष्ठ ६३, कॉलम १ पंक्ति १२ ऊपर से नीचे के बाद एवं पंक्ति १३ ('मेरे मर्कों का प्रकाश...') से पहले पढ़ें।)

बिचका आगे चल कर वर्णन आने वाला है—  
 “ऊर्ध्वमूलमयः शाखमयस्य प्रादुरव्ययम्” ऐसा जो  
 यह संसार-वृक्ष है। इस सृष्टि रूपी वृक्ष का बीज मैं हूँ,  
 इसे धारण करने वाला मैं हूँ। लय का कारण भी मैं  
 हूँ। इस सृष्टि में मृत्त को छोड़ कर और दूसरा कोई  
 सत्य नहीं है। तना-शाखायें, कन्दियाँ, फूल-फल आदि  
 वी कोई पृथक् सत्ता नहीं; इन सब को धारण करने  
 वाला वृक्ष एक है। आँखों को दिसती है पृथक्ता-  
 अनेक आकार रंग-रूप, लेकिन बीज होता है एक वृक्ष  
 का। देह के अवयव अलगअलग आँखों को दिसते हैं  
 लेकिन बुद्धि को बोध होता है एक देह का।

यह अवयवी-अवयव सम्बन्ध मतलब रहे है कि सृष्टि  
 में जो कुछ दिखेगा उसे मेरे अवयव मानना। मैं एक  
 ही इस समस्त अनेकता को धारण किये हुए हूँ, जैसे  
 तुम्हारी एक देह अनेक अवयवों को धारण करती है।  
 देह के भीतर चलो तो देखोगे कि लाखों-करोड़ों छोटे-  
 छोटे जीवों को यह एक देह, धारण किये हुए है।

[रक्तकोशिकायें (cells) अस्थि-कोशिकायें  
 तथा अस्थि-मज्जा-मांस आदि की कोशिकायें भी मैं ही  
 हूँ। धरती के छोटे से छोटे भाग को देखो, उसमें भी  
 असंख्य जीव-जन्तु हैं। ये जीवाणु बोये हुए बीज को  
 पोषण देते हैं। यह धरती कोई मृद, जड़ वस्तु नहीं  
 है—जीवित है (living soil) धरती में, मिट्टी में  
 यदि अकूर को पोषण देने वाले रसायन एवं असंख्य  
 सूक्ष्म जीवाणु नहीं होते तो अपार वनस्पति जगत् का  
 धारण एवं सतत उज्जीवन न हो सकता।—]

तात्पर्य यह कि असंख्यता, अनेकता, विविधता,  
 विचित्रता, विलसगता जिसकी गणना-कलना नहीं  
 हो सकती—यह सब इन्द्रियों देखती है। कान सुनते  
 हैं, घ्राण सुगन्ध-दुर्गन्ध-निर्मन्धता का संवेदन लेता  
 है, श्चवा कोमल-कठोर का स्पर्श करती है—ऐसे  
 अनेक इन्द्रियों द्वारा अनेकता का स्पर्श करते हैं।  
 लेकिन इस सब के बावजूद मेरे भक्त के हृदय में  
 बीज मेरी एकता का ही होता रहता है। यह  
 अनेकता मेरी एकता का शृङ्खलार है। यह विषय  
 माया नहीं है, यह मेरी काया है। [ज्ञानेश्वर  
 महाराज के भवराष्ट्र का यह तत्व है।]

नन्हें बीज से अकूर-तना-शाखाओं का प्रसव  
 होता है, उन शाखाओं में कलियाँ-गुण्य-फल धारण  
 होते हैं, तब हलते रंग-रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-आकार  
 सभी कुछ को अनेकता भरे वृक्ष का सत्त्व बापस  
 बीज में समा जाता है। बीज में से वृक्ष है, वृक्ष में  
 बीज है। ऐसे सृष्टि मूल से उत्पन्न होकर बापस  
 मूल में ही समा जाती है। वृक्ष का बीज तो दिखाई  
 देता है, सृष्टि का बीज दिखाई देता है—“एकोर्द्धं  
 बहु स्यात्”—इस आदि सङ्कल्प में। सर्वतन्त्र-  
 स्वतन्त्र प्रमुखता में सङ्कल्प उठा। ‘स एकाकी न  
 रमे’ अकेलेपन में उन्हें आनन्द का आस्वाद नहीं  
 मिला। अपनी सच्चिदानन्दरूपता को देखें कहीं ?  
 अनेकता का वर्णन पैदा किये बिना अपनी एकता  
 को देखने का कोई उपाय उनके पास नहीं था इत-  
 ल्पि वह आदि सङ्कल्प उठा। उसी संकल्परूपी  
 बीज में बापस समस्त सृष्टि समा जाती है।

जगत् का बीज वह सङ्कल्प अत्यन्त वासना के  
 रूप में है। वह कल्प के अन्त में जहाँ रखा जाता  
 है वह स्थान भी मैं हूँ। [इसे ही अपने दैनिक  
 जीवन में देखें। कभी शान्ति से स्वस्थ अकेले बैठे  
 हैं। जगत् नहीं है, स्थिरता है, सक्रिय नहीं है,  
 अक्रिय है किन्तु सावधान है। ऐसी शान्त अवस्था में  
 कोई एक संकल्प उठा, कि ‘मैं ऐसा करूँ!’ हमारे ही  
 भीतर अत्यन्त पढ़ी कोई वासना संकल्प के रूप में  
 स्फुरित हुई। वह संकल्प सरकस का हो या कुहम  
 का हो, जो भी हो वह बीज है। वह अस्तित्व को  
 हिला देता है, पहले मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार तथा  
 सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों को हिलाता है कि यह जो मुझे  
 करना है इसके लिए क्या-क्या सामग्री जुटाऊँ,  
 किसकी मदद लूँ ? कैसे करूँ ? फिर वह कर्मेन्द्रियों  
 को हिलाता है। यह सृष्टि-उत्पत्ति की प्रक्रिया है—  
 “जन्म लेना होता है वासना के संग से” जन्म अर्थात्  
 वासना में से उत्पन्न होने वाला कर्म।] एक वासना  
 धरती के सारे रसायनतन्त्र को हिला देती है। सभी  
 ज्ञानतन्त्रों और नाड़ीतन्त्र में हलचल मथा देती  
 है। समूचे ब्यक्तित्व को क्षयशील कर चौड़ाती है  
 भरसक।

वह संकल्प पूरा हो गया तो दूसरी वासना दूसरा संकल्प उठाती है। पहले संकल्प असफल रहा तो तीस्रो उठता है, इन्हीं जाती हैं। वासना का चक्र चलता रहता है, संकल्प से क्रिया, वासना संकल्प तक। इसलिये भक्तों के जीवन में "वासना ही हरिकल्प हो जाती है" अतः पुनः जन्म का अवकाश नहीं रहता। क्योंकि वह हरिकल्प वासना भूने बीच वैसी ही जाती है जो अंकुरित होती ही नहीं।]

जगत्-सृष्टि का बोध अग्रपक्षवासाना से उठने वाली संकल्प है, उस इच्छा को माहेश्वरी, महा-धारवा, महालक्ष्मी 'जगदम्बा' आदि जो भी कहना हो वह करें।

वागर्थाविव सम्पत्तो वागर्थाविवत्तये।

जगतः पितरौ बन्धे पार्वतीपरमेश्वरी॥

पिब-शक्ति, विष्णु-लक्ष्मी अभिन्न हैं—वाणी

और अर्थ के समान। जगत् का मूल है उनकी इच्छा। वह अपनी इच्छा जैसी नहीं है, लेकिन शब्द का उपयोग किया गया है। (The cosmic desire) वैदिक चेतना में उत्पन्न होने वाली मूल इच्छा। [महाराज गोता-भावार्थ-दीपिका कहुते समय ब्रह्मास्त्रों की ओर, कभी तन्त्र की ओर संकेत करते चलते हैं।]

प्रभु कह रहे हैं कि जगत् सृष्टि अग्रपक्ष वासना में से संबल्य द्वारा प्रकट होती है फिर उसी में समा जाती है, वह संकल्प, वह वासना और उनका लय स्थान भी में है। यदि बाहर इन्द्रियों को विशाने वाले नामरूप के पदों को हटा सकोगे, देश-काल की मर्यादा में बने नामरूपात्मक व्यक्तित्व का पर्दा हटा सकोगे तो आकार के कारण जो स्वतन्त्र व्यक्ति एवं तत्त्व का भेद या पृथक्ता का आभास है (The myth of separation due to identity of form) इसे हटा दो, तो नजर में जो जाति (स्त्री-पुरुष आदि) का आभास है, मूल मानवता के बदले बोध के देश-वंश-लिङ्ग आदि से प्रभावित आकारों का भेद दिखाई देता है वह हट कर अविद्यान की मूल सत्ता का बोध होगा।

यह आकाश नाम का जो अवकाश है, जिसका बोध बुद्धि को होता है, इस पारदर्शक रिक्तता के

परदे को मो हटा कर देखोगे तो बोध होगा कि मेरी सत्ता में से ही आकाश, आकार प्रकट हुए हैं, जिनको नाम देकर, व्यक्तित्व का आरोप अनेकता का अन्धास मनुष्य की बुद्धि करती है। जरा बुद्धि को धान्त होने दे, इन्द्रियों से होने वाले दबन के बदले, तेरी सहज संवेदनशीलता को मेरी सत्ता का स्पर्श पाने दे तो पता चलेगा कि एक ऐसा विधान है मेरी सत्ता, जिसकी एकता में वह असंख्यता-अनेकता समायी हुई है।

[उपमा समझ में आयेगी पर आशय समझना कठिन होगा जब तक साधना से आयी विशुद्धता भोतर न हो। पहले मनुष्य उपमा पर ही रोका जाता है, उसके पीछे जो गहन सत्य है वह पकड़ नहीं पाता।] (ओवी २८३-२९५)

में सूर्य के वेध में तपता है। इस धरती में जो रस है उनको सोख लेता है, फिर इन्द्र बनता है तब, जिसने रस धरती से लिये थे उन्हें शतगुणित करके वापिस धरती पर वर्षा के रूप में बरस जाता है। यह मेरी लीला है।

अग्नि काष्ठ को खाता है, किन्तु खाते समय काष्ठ को अग्निरूप ही बना लेता है। इस प्रकार मरनेवाला और मारनेवाला संसार में हैं ही हैं। [बह 'संशुका-धर' है—पढ़ने में मुदिकल है।

“राम बिना साथी नहीं, सुई धरन को ठोर।  
आगे-पीछे राम है, राम बिना नहि ओर॥”  
इस अद्वैत को कैसे समझ पायेंगे हम, जब कि हमारे चित्त की कड़ग दशा हमें सोमा से संकीर्णता तक ले आयी है कि जरा सी प्रतिकूलता में क्षुब्ध हो जाते हैं।]

इसलिये मृत्यु के रूप में आकर जो पंचमहा-भूतःशुभक, नाम-रूप-आकारात्मक अंश है उसको में प्रसित कर लेता है। और उसी नाम-रूप के पीछे-नीचे-मध्य व अन्त में मेरा जो अविनाशी तत्त्व है, वह न मरता है, न उसको कोई मार सकता है। [पंचभूतात्मक आकार की गति समाप्त होने पर हम कहते हैं वह मृत है] मकान गिर जाय तो आकाश नहीं गिरता, चड़ा फूट जाय तो आकाश नहीं फूटता;



आकाश न कभी आकार में आया था न वह आकार भिदने से समाप्त होता है। जन्म-मृत्यु सब आकार के होते हैं, मेरी सत्ता को इनका स्पृश नहीं होता। व्यवस्था ही आकार भिदने का निमित्त भी किसी न किसी रूप में मैं ही बनता हूँ। [इसीलिये यमराज को धर्मराज कहते हैं। मृत्यु का स्वीकार जीवन जीने की कला का अङ्गीकार है। जो मृत्यु का, वियोग का स्वीकार नहीं करता वह जीवन की समग्रता का स्वीकार नहीं कर पाता, और सम्पूर्ण जीवन का दिन सतत समग्र स्वीकार ही अप्यस्त है, बर्बाद है। स्वीकार का अर्थ है शिकायत न होना। सुख आया और उन्माद हो गया, तो वह भी सुख के खिलाफ शिकायत है, दुःख आया और विषाद हुआ तो वह भी शिकायत है। यह योगेश्वर को बाणी है। "सुखदुःखे समे कृत्वा योगी भवार्जुन !" यह ध्येय बताया है मनुष्य जीवन का। अपनी इसी हाड़-मांस की काया में वह परम संवाद का रस सिद्ध करना है। विरोधी तत्त्वों में संवाद सिद्ध करने के लिये यह देह है।

अद्वैतामृतविषिणी उपनिषदों का दूध पिलाने वाली गीता का भावार्थ ज्ञानेश्वर महाराज श्रोताओं को समझा रहे हैं अनेकता को एकता के विरोध में खड़ी किये बिना। प्रत्येक उपमा-दृष्टान्त के समय इस पृष्ठभूमि को हम न भूलें।

अनेकता को एकता का शृंगार कहा है, यह आया नहीं है, इसका निषेध न करके स्वीकार करना है क्योंकि यहाँ एकता का आविष्कार है, अभिव्यक्ति है। एकता का अनुष्णान न रहे तो असंशयता फिर भाया बन जाती है। लक्ष्मी जब लक्ष्मीपति के साथ रहे तो वह "श्री" "ऐश्वर्य" "ह्यमति" है, उनसे पृथक् होकर वह 'माया' होकर विषया लाती है।

हमें सीखना यह है कि इस अनेकता को उपेक्षा नहीं करना है और इसके पीछे नहीं दौड़ना है, इसका स्वीकार करते हुए इसके भीतर एकता के रस को ग्रहण करना है, वही रसिकता है। बहज से निषाद तक के स्वतंत्र की कोमल-सीजादि कलाओं के विविध-

विषाक-विनिमय-संवाद की लीला में से नियन्त्रण होती है राग या रागिणी की एक प्रकृति, आकृति।

सृष्टि में सर्वत्र यही लीला चलती है, इसे देखें, समझें, विविधता को एकता के विरोध में नहीं खड़े करना है।

यह मैं इसलिये विशेष श्लोक कर कहती हूँ कि लोगों ने मान लिया है—आत्मसाधना करना याने मानवीय सम्बन्धों की उपेक्षा करना, सत्त्व सिखाते हैं कि मुक्ति या भक्ति कहीं बाहर नहीं है। शान्ति पति से बाहर नहीं।]

विनाश पाने वाले आकारादि में छिपे हुए मुख अविनाशों को पहचानो अर्जुन !

अब बहुत बोल कर क्या बहूँ ? एक ही बार में तू समझ ले अर्जुन ! कि सत् और असत् नाम से जो पहचाने जाते हैं, वे असल में मैं ही हूँ। सत्-असत् का भेद केवल इन्द्रियबोध है—वैशाख-श्रेष्ठ में महमूमि में दिखते मृगजल जैसा। उसका कुछ न होना भी सत् है। वस्तुतः सत् है रेतो और सूर्य-किरणें, उनमें प्रतिमासित होने वाला मृगजल उठने समय तक सत् है अब तक दूर से दृष्टि में वह दिखाई देता है, समीप वह कभी आ नहीं सकता, क्योंकि उसके दिखाई देने में रश्मि व रेतो के साथ दूरी का संयोग भी घटक है। मृगजल का आभास उस संयोग की सत्ता पर खड़ा होता है। आकाश नीला दिखता है। वह आकाश की नीलिमा कभी समीप नहीं आ सकती क्योंकि दृष्टिघातित की परभावधि अव्यक्त जल-तत्व तथा सूर्यरश्मियों का संगम ही नीलिमा का घटक है उसे अस्तु कहो तो वह भी मैं हूँ। अस्तु है इन्द्रिय-देश-काल सापेक्ष दृश्यता, और त्रिकाला-बाधित, देश-व्यक्ति-परिस्थिति से निरपेक्ष वस्तु है सत्। पर दोनों मैं हूँ।

नवजात शिशु को प्रतिदिन बढ़ते हुए देखना। देखते ही देखते कैसे उसकी कलायें (धारीर-बन की) विकसित होती जाती हैं—शिशु से बालक, बालक से पीगण्ड, उसमें से कुमार, कुमार से किशोर, किशोर से युवक हो जाता है। उसके धारीर पर

नये-नये अलग-अलग लक्षण प्रकट होते गये एवं पहले वाले क्रमशः लुप्त होते गये। इन शीघ्र-वात्य-योग्य-कुमार, किशोर अवस्थाओं को सत् कहेंगे या अशत् ? एक अर्थ में वे अशत् हैं क्योंकि टिकती नहीं, दूसरे अर्थ में वे सत्य भी हैं क्योंकि उनके अनुसार शरीर-मन के सब कर्म होते रहे। सत् अशत् का यह खेल है। महारास है देव का। दोनों में मैं ही समाया हुआ हूँ।

हे अर्जुन, ऐसा कोई स्थान संसार में नहीं है जहाँ मैं नहीं हूँ; लेकिन ये अज्ञाने संसारो लीग मुझे देखते ही नहीं। इतने विविध रंग-रूप आकारों में सुसज्जित होकर मैं सामने रहता हूँ, फिर भी वे मुझे नहीं देख पाते। अब सूर्य की किरणों में प्रभु का वेज नहीं दिखता, योत्सना की शीतल-स्नानता में प्रभु का स्पर्श नहीं मिलता, जल की प्यास मुझाने की शक्ति में प्रभु की कक्षा अनुभूत नहीं होती; धरती में से उपजते शास्य-वायु-फल-मूलादि में प्रभु की बत्सलता नहीं दिखती है तो प्रभु क्या करे ?

मैं जो सामने खड़ा हूँ उसे देखते नहीं, बल्कि अन्तराय मानते हूँ, मुझे कुचल कर, उपेक्षा करके वे चले जा रहे हैं मेरी खोज के नाम पर ! व्यक्त को जो नहीं पकड़ पाते वे अव्यक्त को क्या पकड़ेंगे ? सम्बन्धों की मायुरी जो नहीं चल पाते वे सम्बन्धों से दूर अङ्ग-एकान्त—अवचत् निर्जोष शान्ति में मेरा स्पर्श कैसे पायेंगे ?

अध्यात्म आखिर देखने को नई दृष्टि एवं कला ही तो है। संसार जो है वही रहेगा। दृष्टि बदलती है तब दर्शन बदलता है, दर्शन बदलता है तब वृत्ति बदलती है, तब वर्तन का व्यवहार बदलता है। दृष्टान्त से समझ लें। कोई सोलह वर्ष की नवयुवती खड़ी है। उधर से कोई बीस वर्ष का युवक आता है—वह इसका भाई है; कोई पचास वर्ष के सज्जन आते हैं, वे इन दोनों के पिता हैं। इन दोनों का उस कन्या के साथ, एवं कन्या की इनके प्रति दृष्टि एवं व्यवहार देखिये; इतने में कोई और युवक एवं प्रौढ़ प्रायः ऐसी ही आयु के आते हैं जो इस कन्या

के प्रति एवं स्वयम् हैं तो उनकी एवं इसी कन्या की दृष्टि व्यवहार कैसे बदल जाते हैं ?—

“देनेवालिङ्गता कान्ता देनेवालिङ्गता सुवा”

एक ही व्यक्ति बेटी को गले लगाता है, और पत्नी से मिलता है—पर पूरे शरीर का नाक़ीतान्-रसायन-तन्त्र कैसे आग्रह बदल जाता है।

इसी प्रकार संसार की देखते समय, इस विचित्रता के पीछे वे मेरे प्रभु बैठे हैं—यह जिसने जान लिया, उसकी संसार के प्रति दृष्टि-वृत्ति-व्यवहार बदल जाते हैं। कोई नवयुवती जब विवाह होने पर समुराल आती है तो एक पति के नाते से पूरे घर के सब सदस्यों को अनायास अपने कुटुम्बो समझने लगती है। इसी तरह भक्त की संसार के सभी अपने प्रिय लगने लगते हैं। तब “यस्याश्रोद्धिजते लोको, लोकाश्रोद्धिजते च यः”—जिया जाने लगता है। भक्त का अपना मानस है।

एक बार मुझे देख लें तो फिर संसार से भय, विरक्ति या उद्वेग नहीं लगता जैसे जलचरों को जल में आनेवाके तूफान, बांसावात का भय नहीं लगता। वे जल में ही उत्पन्न हुए हैं, वहीं पले हैं, फिर एक दिन जल में ही समाप्त हो जाने वाले हैं।

हे अर्जुन मुझे बड़ा आश्चर्य होता है कि तरङ्ग पानी के बिना सुख रहे हैं। तरङ्ग जल के ही बने हैं और दुःखो दो रहे हैं कि पानी का स्पर्श नहीं मिला।

(“पानी में मीन पियासी, मोहि सुन-सुन आवत हौसी”)

कभी सूर्य की रश्मियाँ कहने लगें कि हम संसार को नहीं देख पाती हैं क्योंकि शीपक नहीं है।—तब किसी को जितना आश्चर्य होगा उतना मुझे उन मनुष्यों को देखकर आश्चर्य होता है जो मुझमें रहते हुए, मद्दक ही होते हुए मुझको देख नहीं पाते हैं।

इस विश्व के बाहर (व्यक्त) भीतर (अव्यक्त) सचन रूप से मैं ही भरा हुआ हूँ। (The world is saturated by me, with forms, without form.) मैं ही कल्याणगलित होकर (पिचलकर)

जगत् रूपी सचि में डाल गया है। अपनी ही सत्ता को बिधला कर व्यक्त-नाम-रूप के सचि में डाल दिया है। फिर भी ये संसारी कैसे अमागे हैं कि कहते हैं 'परमात्मा नहीं है।' कैसे दुर्भाग्य उनके आवे आ गया कि वे केवल बड़ आकार ही देख जान पाते हैं। इसी को सब कुछ मानते हैं, कहते हैं 'परमात्मा वही है? वह कौन सी वस्तु है?'

किसी अन्धे को गड़के के पंख लगा दिये जायें तो वह उस पंख का उपयोग क्या करेगा? देखे, जिसे मेरा बोध नहीं है वह बुनिया भर के उत्कर्म करता रहे, पर भूखे पशुचानने का मल न करे तो उसका सय श्रम व्यर्थ चला जाता है। समझ के बिना किया हुआ कर्म खाली भूखे को फटकने जैसा व्यर्थ है। (ओबी २९६-३०६)

अथवा, ज्ञान बिना कर्म करने वालों की दशा वैसी ही है जैसे किसी अन्धे भिक्षारो के पाँव में चिन्ता-मणि टकराये, और वह उसे पत्थर मान कर पाँव से ठोकर लगा कर दूर डकेल दे, फिर भीख माँगने चले। जैसे ही समस्त दारिद्र्य मिटाने वाला मैं स्वयं चिन्तामणि संसारी व्यक्ति के पास हूँ पर मैं भूखे ठुकरा देते हैं (कुतर्क द्वारा)। अध्ययन, मनन, अभ्यास, विराग एवं प्रयोग के द्वारा भूखे जानने का मल किये बिना ही अप्रतिष्ठित तकौ को ठोकर मारते हुए गन्धर्व-नगरी बादलों के आकारों से बने केवल दृश्याभास में सुख की भीख माँगने जाते हैं।

इसलिये ज्ञान के बिना किया हुआ कर्म वस्तुतः कर्म या आचरण है ही नहीं।

कई लोग सकाम यज्ञयाग (ज्ञान यज्ञाधि नहीं) करते हैं, बड़े विद्वान् पण्डित होते हैं, शुद्ध अव्यङ्ग-मन्त्रोच्चार करते हैं, बड़े विधि-विधान से साङ्गो-पाङ्ग मंत्र करते हैं—पर किसी तुच्छ सांसारिक कामनापूर्ति के लिये; भूखे जानने या पाने के लिए नहीं। मेरे पास भूख को माँगने वाला कोई नहीं अर्जुन। मेरे बदले में यज्ञ का फल माँगते हैं कि स्वर्ग का सुख मिले, पुत्र मिले, धन बड़े इत्यादि। ऐसी तुच्छ-कामनाओं के लिये किये जाने वाले

यज्ञाधि तो पापात्मक पुण्य है। जो फलते समय तथा खीण होने पर भी देहभाव-अहंभाव की ही पुष्टि करते हुए जन्म-मरण का चक्र बनाये रखते हैं। मेरी भक्ति से दूर हो ले जाते हैं।

ऐसे लोगों का वही हाल है जैसे कोई भिक्षारो कल्पतरु की छाया में बैठता हुआ अपनी फटी झोली की गाँठ बांध कर उसे भीख लेने लायक बना रहा हो। उतने ही हास्यास्पद हैं वे लोग, जो मेरी सत्ता में बैठे हुए तुच्छ कामनाओं के लिए यज्ञाधि परिश्रम करते हैं। उनके चित्त में मेरी चाह ही नहीं, इसीलिये भूखे देखने-जानने का प्रयत्न भी नहीं करते।

'मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।  
मत्तमामि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः॥'

ऐसे भूख से दूर ले जाने वाले सकाम यज्ञाधि पुण्य क्या वस्तुतः पाप नहीं है?

[स्वामी रामतीर्थ जब जापान होकर अमेरिका आ रहे थे तब किसी ने उन्हें पूछ लिया—क्या पाप है क्या पुण्य है? तब उन्होंने कहा—“That which leads you to the divine is virtue, & that which leads you away from divinity is sin.” (जो काम परमात्म-सत्ता की ओर ले जाये वह पुण्य है, और जो उससे दूर ले जाये वह पाप है।

कहें कोई भी, सत्य तो एक ही है। हमें इतना समझ लेना है कि परमात्मा की सत्ता का बोध जिस कर्म से हो वह सफल है, वही पुण्य है; उससे दूर ले जाने वाली कोई भी प्रवृत्ति हो, देखने में कितनी भी भव्य हो, पर वह पुण्य रूप होती है ही वस्तुतः पाप ही है क्योंकि उसमें प्रभु का स्मरण नहीं।

‘विषद् विस्मरणं विष्णोः।

सम्भारारामणस्मृतिः” ॥

यज्ञयागादि के अनुष्ठान में आगे कहते हैं— यज्ञाधि कर्म ही, तप ही, ज्ञान ही,—धन में यदि मेरा शुद्ध स्वरूप समझने की इच्छा नहीं है, मेरे स्वरूप की उपलब्धि हो—यह आकांक्षा नहीं है तो वह सारा कर्मात्मक तथा ज्ञानात्मक आडम्बर व्यर्थ

है। वह जोष के लिये एक उपसर्ग बन जाता है। वह अज्ञानात्मक, पाषाणक पुण्य है, शुद्ध पुण्य नहीं है। शुद्धपुण्य उसे कहेंगे जिससे स्वरूप बोध का आनन्द उपलब्ध हो; स्वर्गाधि सुख नहीं, अतीन्द्रिय शक्तिर्मा नहीं, अणिमा-महिमादि शिद्धिर्मा नहीं। इनकी वासना से जो यज्ञ-दान-उप-ज्ञान-ध्यानादि तक किये जाते हैं वे पाषाणक ही पुण्य हैं।

मेरे बिना स्वर्गाधि यदि या भी लिये हों तो यह अज्ञान के ही मार्ग हैं; ज्ञान की दृष्टि से वे उपसर्ग (बाधाएँ) ही हैं। उससे हानि होने वाली है। पाष और पुण्य दोनों ही रास्ते परमात्मा से दूर ले जाते हैं। पाष का रास्ता नरक को तरफ ले जाता है, पुण्य का रास्ता स्वर्गाधि की तरफ ले जाता है, पर मे दोनों उपाधि हैं। ये भक्ति एवं भक्ति से दूर ही ले जाते हैं। मेरे साथ तन्मयता, मद्रूपता साधने के पथ में ये दोनों बाधक बनते हैं। (ओवी ३०७-१५)

भो भी अर्जुन दू बता मुझे, कि स्वर्गाधि को जो सुखरूप कहा जाता है, वह वास्तव में सुख है क्या? वहाँ उर्वशी जैसी अप्सराएँ हैं, ऐरावत जैसे वाहन हैं, कामधेनु हैं, कल्पवृक्ष हैं, अमृत का सरोवर है—इत्यादि कहा जाता है—ऐसे भौतिक सुखों की प्रचुर सामग्री उपलब्ध रहने को सुख कहते हैं, और इसको अपेक्षा नरक को दुःख कहते हैं जहाँ हनुम शरीर को घातनायँ सहनी पड़ती है। दोनों ही इन्द्रिय-सापेक्ष हैं—“अनुकूलसंबेदनं सुखम्, प्रति-कूलसंबेदनं दुःखम्” स्वर्ग-सुख का लालच बिया जाता है कि यहाँ धरती पर जो सुख नश्वर है वे स्वर्ग में अधिक समय तक बने रहते हैं। वहाँ किसी भी सुख सामग्री का अभाव नहीं है। वहाँ परिश्रम करना नहीं पड़ता; बेंडे-बेंडे ही जो भी इच्छा उसे वह पूरी हो जाती है। [पता नहीं किसने ऐसे स्वर्ग की कल्पना की है? such a boring idea—कैसी उबाने वाली है यह कल्पना भी? जहाँ श्रम करने का कोई अवकाश नहीं।] ऐसे शोषावधि एवं प्रचुर सुखोपयोग की इच्छा से जो यज्ञमागाधि करते हैं, उनको मिलने वाला पुण्य अशुद्ध है, सषोष है।

[पाश्चात्य विद्वान् चिन्तक यह देखने कहने लगे हैं कि आज के विद्यार्थियों में सीखने की शक्ति बहुत कम होती जा रही है क्योंकि किसी भी तरह का बौद्धिक शारीरिक श्रम करना हो न पड़े ऐसे साधनों से वे धिरे हुए हैं। अति विद्यार्थ एवं सुवि-धायँ सीखने की शक्ति के विकास में बाधक हैं। सीखने की उमंग जाग ही न पाये इतना सुख-साधनों से घिरा रहता है आज पाश्चात्य देशों का विद्यार्थी-स्कूल से लेकर विश्वविद्यालय तक। शिक्षण-प्रशा में भी इतने सुखकर-सुविधाजनक साधनों-उपकरणों यन्त्रों का प्रचुर उपयोग होने से मस्तिष्क निष्क्रिय होकर स्तन्ध बेपरवाह जैसा बन जाता है।

यदि बच्चों को विद्यार्थी-विद्यार्थी बनाना चाहते हों तो विद्यालयों को तपस्या (Sparken austerity) के स्थान बनाना होगा जहाँ विद्यार्थी शरीर, चित्त, बुद्धि सभी शक्तियों से परिश्रम कराना सीखें। चिन्तन में बुद्धि का पसीना बहाना सीखें।

आज तो विद्यालय उपयोग एवं स्वच्छन्दता के स्थल बन गये हैं। आज का अमेरिका का जीवन भारत की ‘स्वर्ग’—कल्पना को साकार कर रहा है। शरीर-मन-बुद्धि को चलाना न पड़े, सब जकड़ते बेंडे बेंडे पूरी हो जायँ, विपुल उपयोग सामग्री ही—इत्यादि। किन्तु इससे मनुष्य की रचनात्मक शक्तिर्मा कैसी अक्षय्य हो जाती है इसे अनुभव कर रहे हैं अब पाश्चात्य चिन्तक भी।

यहाँ ८०० वर्ष पहले ही ज्ञानेश्वर महाराज उस स्वर्गवासी पुण्य को अशुद्ध-सषोष बता रहे हैं क्योंकि—वस्तुतः शुद्ध पुण्य तो वह होगा जो (सुख-दुःख से परे जो) निर्बाध, निरतिशय, निर्बाध, नित्य आनन्द है—यहाँ पहुँचा सके, उसको उपलब्धि करा सके। विषय-निरपेक्ष आनन्द ही शुद्ध आनन्द है।

परमात्मा या आत्मा के स्वरूप का बोध होखे पर मनुष्य ऐसे आनन्दसागर में पहुँचता है जहाँ से लौटना नहीं पड़ता। सुख-दुःख से परे ऐसा निर-तिशय निर्बाध नित्यानन्द का विश्व है जहाँ “मैं आनन्द ले रहा हूँ, मुझे आनन्द मिल रहा है”—यह

मान नहीं है। आनन्द पावे की अहङ्कार की कोई क्रिया नहीं है, जैसी सुख या दुःख में होती है। ऐसा निर्दोष जो पुण्य है वही वस्तुतः पुण्य है।

पुण्यात्मक पाप करने से स्वर्ग में जाते हैं, पापात्मक पुण्य करने से नरक में जाते हैं, और जिस पुण्य के द्वारा मेरी उपलब्धि होती है वह शुद्ध पुण्य है [उपलब्धि होती है 'प्राप्ति' नहीं]। प्रभु अप्राप्त तो किसी को नहीं। भानुविम्ब की तरह वे सबके लिये समान रूप से उपस्थित हैं, जब तक मनुष्य उनकी ओर से पीठ न फेरें तब तक प्रभु सदा सबके सम्मुख हैं। जो भी उनके प्रति अभिमुख हो उसके प्रति वे सर्वदा निरपवाद रूप से सम्मुख हैं।]

समाप्त सृष्टि मुझमें है—जैसे जल में तरङ्ग है, सूयं में रश्मियाँ हैं। ऐसे कर्मों को पुण्य कहने में जो भ्रम दूट क्यों नहीं जाती जिनसे मेरा विस्मरण होता है और विषयों का स्मरण बढ़ता है, जो मेरी तरफ चित्त की पीठ फेर देता है और विषयों की तरफ मनुष्य को अभिमुख करता है। वह उल्लास-प्रतिष्ठा-वन-भरिदार सुख—अरे स्वर्गसुख भी क्यों न हो!—ऐसे बाह्य तुच्छ सुखामासों की ओर चित्त को प्रयुक्त करनेवाले कर्मफलों को पुण्य कहते हुए सास्त्रज्ञों की जो भ्रम क्यों गिर नहीं जाती? (ओबी ३१७)

इस वर्णन को रहने दो अब! जो याज्ञिक स्वर्ग के भोग माँगते हैं वे मेरे पास भुसको नहीं माँगते। ये दीक्षित लोग अपने इष्ट कर्मफल से स्वर्ग में पहुँच कर यथेष्ट सुखोपभोग करते हैं। [स्वर्ग सुख का नाम लेकर ही आने बड़ आयें तो कविशब्दाद् ज्ञानेश्वर कैसे? पुरा रसिकता से वहाँ का वर्णन किया है।] जहाँ चिन्तामणि की श्रुति है, कल्पतप्त के विहार-उद्यान वनवाटिकायें हैं, रम्मा जैसी नर्तकियाँ हैं, उर्षधी अन्तःपुर में प्रतीक्षा करती हैं। चन्द्रायि देवता सब सेवार्थ लिये उपस्थित रहते हैं, स्वयं ब्रह्मा स्वस्थितपाचन करनेवाले पुरोहित हैं; गन्धर्व गान गा रहे हैं; महत् पवन वेग से सन्ध्या लाने-पहुँचाने वाले शेषक हैं, राबट और उन्नी-शवा बाहन हैं, अमरावती नगरी है, ... इत्यादि।

जब तक पुण्यलेख भी रहता है तब तक ऐसे इन्द्रतुल्य सुखोपभोग उस व्यक्ति को मिलते हैं।

किन्तु जब उनका पुण्य क्षीण होता है—[उप और कर्म के पुण्य उपभोग करने से क्षीण होते हैं। उप के पुण्य का उपभोग न कर, उसे संचित होने दें तो उप से तेजस बनता है। यदि उप की पूँजी को बेच लायें तो तेज उत्पन्न होना दूर रहता स्वयं उप और पुण्य भी क्षीण हो जाते हैं।

इन्द्रियों की आश्रयकला की पूर्ति के लिए किया जाने वाला उपभोग वष्यं है, लेकिन प्रमाद के कारण किये गये सुखोपभोग से इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं। उपभोगों का अतिरेक घरीर-मन-बुद्धि की शक्तियों का ह्रास करता है। '... जो विचारे स्वर्ग में जाकर बैठते होंगे उनकी तो Atrophy of all nervous energies—होता होगा। फिर वह पूँजी समाप्त हो जाने पर क्या दया होगी है इसका वर्णन करते हैं।] तब वह इन्द्रतुल्य सुखोपभोग का अवसर पूरा हो जाता है और औँचे-भूँह घरती पर लौट आना होता है। उनकी दशा ऐसी लज्जाजनक होती है? मानो कोई पुरुष अपनी सारी पूँजी किसी बाराङ्गना (बेव्या) के लिए खर्च कर दे। जब तक वह पैसा खर्च कर रहा होता है तब तक उसका स्वागत-सकार-सेवा करती रहती है। फिर जब पूँजी पूरी खत्म हो जाती है तब उसी व्यक्ति को वह बेव्या बरबादे पर खड़ा भी नहीं रहने देती। ऐसे ही जिसका पुण्य क्षीण हो गया है उसके लिए किसी तरह का सुख-समाधान फिर शेष नहीं रहता है पार्थ! सनातन संस्कृति एवं धर्म के अनुसार मनुष्य-जीवन की सार्थकता इसमें है कि इस देह में आकर आत्मस्वरूप को पहचानें; सर्व में सर्वत्र सदा विराजमान प्रभु की सार्वभौम सत्ता को पहचानें। इन्हें पहचान कर "पुनरपि जननं पुनरपि मरणं, पुनरपि अननो-जठरे क्षयतम्"—इस धन्य की जोति जो मिटा दें। "अहंप्रति" के उच्छेदन में अध्यात्म का रहस्य है। जो कुछ उप-पुण्य-दान-यज्ञ आदि करते हो वह यदि भीतिक सुखोपभोग के लिए करो तो उन सत्कर्मों को करते समय तथा फल मांगते समय उन सुखों के

पुनरावर्तन की वासना खड़ी होती है। इस वासना में ही संसार का बोज है। सुख के पुनरावर्तन की इच्छा न हो, इन्हें भोग कर ही मनुष्य इनकी वासना से मुक्त हो जाय, तो संसार नहीं रहता। लेकिन सुख के पुनरावर्तन की इच्छा तथा दुःख को टालने की इच्छा—ये दो इच्छाएँ मिल कर संसार का पसारा खड़ा करती हैं। (श्रीवो ३।८-३०)

जो व्यक्ति अनेकता को मेरी एकता का प्रसाधन समझते हुए मेरा स्मरण करते-करते अनेकता के साथ सम्बन्ध रखेगा, उसका दामन अनेकता की भाषा में उलझेगा नहीं। जिन सुख-दुःखों-मान-अपमान में से गुजरना पड़े उनमें कहीं भी बके बिना, अटके बिना निकल जायेगा उसमें से। यह तभी होगा यदि अनुसन्धान सेरी सर्वव्यापिनी सत्ता में जुड़ा हो। प्रत्येक देह में देहो बन कर मैं बैठा हूँ और विषयों का आकार धारण करके भी मैं ही बैठा हूँ—ऐसा सतत अनुसन्धान ही तो उसका आनागमन भिटेगा।

जो लोग केवल शक्तियों का संग्रह, धन व सत्ता सुख सुविधाओं का संग्रह करने में बस अभूतय मनुष्य-जीवन को नष्ट करते हैं उन्हें बार-बार माया के गर्भ में आकर वहाँ के कष्ट सहने ही पड़ते हैं।

स्वप्न में कोई स्वर्णमुद्राओं से भरा कलश देखा, वह जागृत होने पर तो ही नहीं, उसके सोने का दुःख नहीं होता क्योंकि वह जागृति में काम नहीं आता। वेदों का केवल शब्दार्थ जानने वाले मान लेते हैं कि उन्होंने मुझे-मेरे स्वरूप को जान लिया है, पर वह उनका स्वप्नमात्र है। वेदों के सुखोपभोग भी स्वप्न में पाये स्वर्णकलश जैसे हैं।

“यस्यामतं सत्य मतं, मतं यस्य न वेद सः”

(जो कहता है मैं नहीं जानता, वह मुझे जानता है, पर जो मानता है कि मुझे जानता है वह वास्तव में मुझे नहीं जानता।) यह वस्तुस्थिति कही गयी है।

अजुग मेरे ज्ञान के बिना वेदज्ञान व्यर्थ है। [अपने यहाँ आत्मज्ञान को ही जागृति एवं विद्या माना गया है, शेष समस्त पदार्थज्ञान को अविद्या कोटि में रखा गया है। जीवन में आवश्यकता दोनों

को मानो गयो है।] स्वयं वेद बड़े विनम्र हैं; उन्होंने बलना (डोंग हँकना) नहीं की कि तुम ब्रह्म को जानते हैं, केवल ‘न इति न इति’ ‘न इदं न इदं’ कह कर मेरे नामरूपातीत स्वरूप का इञ्जितमात्र कर दिया।] और जो मुझे—समस्त सृष्टि के आद्य कारण के रूप में सर्वव्यापिनी परम सत्ता के रूप में, सबको परमागति के रूप में जान लेते हैं, उन्हें फिर और कुछ भी जानना शेष नहीं रहता।

["एक ही मिट्टी एक ही पानी

उससे बनाये घड़े-हूवेली

एक ही ब्रह्म है जग में भाई, एक ही ब्रह्म यहाँ!"]

एक ही तन्तु एक ही पाग

उसी से बनता सब कपड़ा, एक ही ब्रह्म यहाँ! तुका०]

सारी अनेकता के पीछे एक ही तत्त्व है इसे मनुष्य समझ ले तो—

“सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ!”

ऐसी चित्त की समतारूपी योग का सार उसे ज्ञात हो जायेगा। मनुष्यमात्र के जीवन का ध्येय है योगी बनना। सभी प्रातः परिस्मृतियों में चित्त की समता और व्यवहार में इन्द्रियों में सन्तुलन बना रहे—यह है योगी जीवन।

ऐसे योगारूढ़ मनुष्य-समुदाय का स्वप्न श्री ज्ञानेश्वर महाराज देख रहे हैं।

तू सत्यकृत् सृष्टि (सन्तोष) पायेगा यदि यह जान लेगा कि जैसे ताने-बाने में फँसा हुआ तन्तु ही कष्ट है वैसे मैं ही जगत् आकार में व्यक्त हूँ।

[अब ‘अनयाग्नितन्तो भौ’ का अर्थ कहने आ रहे हैं ज्ञानेश्वर महाराज। इसे बहुत सावधानी से समझना होगा, क्योंकि यह धारणागति का विषय है, इसको समझने से जरा भी अनवधान हो तो देववाद, नियतिवाद, पलायनवाद और प्रमादवाद की ओर पाँव फिसल सकते हैं। वस्तुतः ‘धारणागति तो सब गतियों की गति है, पूरी शक्ति आजमा कर क्रिये गये पुरुषार्थ का पर्यवसान होता है धारणागति में; सब गतियों का वेग समा जाता है धारणागति में। सबसे तीव्र गति है धारणागति।]

एक बार जान लिया, समझ लिया कि सर्व में, सब्र, सर्वथा प्रभु की ही सत्ता है, प्रभु स्वयं विराजमान है। इस अर्थ को बुद्धि ने समझ लिया, हृदय ने स्वीकार किया। जब बुद्धि से जाने गये अर्थ का हृदय में स्वीकार नहीं होता, तब तक उस अर्थ के सहचारी भाव जोधन में जागृत नहीं होते। यह जान लिया हो तो पहला परिणाम होगा सत्त्व संशुद्धि—अन्तःकरण की पूर्ण शुद्धि। वह हुई है इसका परिचय मिलेगा कि अन्न आगेगा हृदय में। किसी का भी भय नहीं रहेगा। जलचरों को जैसे जल का भय नहीं होता, बल में उठने वाले तूफानों का भय नहीं होता।

यदि हमें इस शत्य का स्वीकार हो कि नाम-रूप-आकारों का व्यक्त होना, व्यक्तित्व धारण करना—ये सब तरङ्ग हैं सैतन्य के सागर पर; जन्म नामक बिन्दु पर ये तरङ्ग आकार लेना आरम्भ करते हैं और मृत्यु नामक क्षण में क्लिप्त हो जाते हैं, तरङ्ग उठने-मिटते हैं जल बँसा था बँसा ही रहता है। यह यदि स्वीकार हो जाय, तो भय क्यों रहेगा? जगत् के आवे दुःख भय में से उत्पन्न होते हैं। भय गया कि सब चिन्ता गई। भय की सह-धारिणी-सहस्रमिणी को तरह भय के साथ चिन्ता चल्ती है। उन्हें अलग नहीं किया जा सकता। भय जाते ही मनुष्य निश्चिन्त हो जाता है।

महाराज ने कहा है—

“मेरे मकों को चिन्ता कैसी? राजा की रानी क्या मोक्ष मांगेगी?”

“मेरा मक होकर यदि कोई अपने जीवन के बारे में चिन्ता करने लगे तो बँसा हो है मानी राजा की रानी चिन्ता करे कि कल मुझे भोजन मिलेगा या नहीं?”

इसका अर्थ यह नहीं कि मेरा मक पुत्रधाय नहीं करेगा, हाथ पर हाथ रखे बैठा रहेगा, नहीं। वह यथाशक्ति यथाशुद्धि परिश्रम करेगा, उस परिश्रम के परिणाम में जो भी उसको मिलेगा, उसमें वह समुद्ध रहेगा, यथात्मसन्तुष्ट।

किसी से तुलना-ईर्ष्या की फुरसत नहीं उसे, प्रभु की दी हुई बुद्धि एवं शारीरिक शक्ति का उपयोग करने में मस्त हैं। जो मिला है उसका धारण-सेवन करने में मस्त हैं। यह जो नहीं करते वे ठाकरी-झाँकते रहते हैं कि दूसरे को कितना मिला? उसी में से तुलना-ईर्ष्या-दुःख-क्रोध जन्म लेते हैं।

जिसका भय गया उसको चिन्ता गई, उसकी नजर एक परमात्मा पर टिकी है, और किसी भी तरह देखने की उसे फुरसत नहीं। उसकी वृत्ति आत्मा पर केन्द्रित है (Noncomparative approach to life) उसका चित्त तुलनात्मक हो जाता है।

यह सब अर्थ हैं प्रभु के ‘अनन्यचिन्तन’ का। तुलना या ईर्ष्या का विषय क्या है यह चीज गौण है; किसी ने बँडकर धन-सत्ता-प्रतिष्ठा या रूप की तुलना की, तो किसी ने योगसाधना से प्राप्त अतीन्द्रिय शक्तियों-सिद्धियों की तुलना की—तुलना कभी धार्मिक नहीं हो सकती, वह संसार ही है।

मेरे भक्त की वृत्ति मेरे सिवा कहीं भी जाती नहीं। वे किसी और की देखते ही नहीं; उनको “वासना हरिरूप हो चुकी है” और “विषय सभी नाशयन बन चुके हैं” पदार्थमात्र के प्रति दृष्टि एवं वृत्ति बदल जाती है।

इस पार्श्वभूमि पर महाराज—श्री वासुदेवमुख से कह रहे हैं—

“मैं के गर्भ में शिशु हूँ; गर्भ के छोल में रहता हूँ। ऐसे ही मेरे अनन्यचिन्तन रूपी छोल में भक्त का चित्त पड़ा रहता है। हर क्षण में मेरी सत्ता का ही चिन्तन है। वह गर्भस्थ शिशु और क्या करता है? वह कोई उद्यम करना नहीं आता।

[ यह पराबलम्बन और नियतिभाव कदापि नहीं है। सर्व-भावेन प्रभु की उपासना-आराधना करना, प्रभुमय हो जाना क्या है—इसका आशय विद्यार कर बता रहे हैं। ]

“मेरा आहार क्या होगा? कैसे मिलेगा? नहीं मिलेगा?”—ऐसी चिन्ता वह जानता ही नहीं।

उसी प्रकार मेरे भक्त अपने लिये किसी सङ्कल्प-विकल्प का उद्यम नहीं करते। केवल योगी के ही चित्त की निर्विकल्प अवस्था नहीं, भक्त का चित्त भी वैसा ही सङ्कल्प-विकल्प-मुक्त रहता है; क्योंकि श्रद्धा है कि मैं यथाशक्ति-यथाप्रति जो कर सकता हूँ और जो करना उचित है वह करता चला जाऊँगा तो मुझे जो मिलने वाला है वह मिलेगा ही, प्रभु दिये बिना नहीं रहूँगे। (श्रोत्री ३३१-३५)

[ सन्तों के, भक्तों के जीवन-चरितों में यह दिखाता है। अभी इसी क्षण में इस श्रद्धा की सामाजिक-पारिवारिक-दैनिक जीवन में जीने वाले एक महान् भागवत पुरुष हो गये जिन्हें हम महात्मा गांधी कहते हैं। गजब थी, उनकी भगवद्भक्ति !

साबरमती आश्रम से एक हरिजन बच्चे को रखा है, इसके विरोध में बाहर से आश्रम को आधिक सहायता नहीं मिल रही है; एक आश्रमवासी आकर कहता है—“बापू सोमवार को रसोई नहीं बन सकेगी, सोचा खतम हो रहा है।” बापू हँसकर कहते हैं—“आज तो सोमवार नहीं है न ! सोमवार को देखा जायेगा।” प्रभु कैसे वह सोमवार आये देते ? रविवार को ही सुबह कोई सज्जन एक बैलगाड़ी भर कर अनाज लाते हैं, बापू को सौंप देते हैं। बापू बुलाते हैं उस आश्रमवासी को, कहते हैं—“देखा ! मेरे प्रभु ने सोमवार नहीं आने दिया।” ऐसी निश्चिन्तता !

हम प्रभु का नाम लेते हैं, पर चिन्ता नहीं छोड़ते। हमारी चिन्ता हमको प्रभु की सत्ता से दूर करती है। हमारा चिन्तना भरोसा ऐसे में है, अपने प्रयत्न में है, जतना भरोसा प्रभुसत्ता में नहीं है। भक्ति है अनन्य-श्रद्धा, अनन्य-चिन्तन। हम प्रत्य पढ़ते हैं, मुँह से बोलते हैं पर हृदय में स्वीकार नहीं है, इसीलिये चिन्ता नहीं छूटती। ]

मेरे पिता और कुछ भी स्पृहणीय नहीं है उनके जीवन में। वे जो रहे हैं मेरा नाम लेने के लिये, मेरा स्मरण करने के लिये मुख पर प्यार लुटाने के लिये !

“हम हो गये बेकाम ! हरि हम हो गये बेकाम ! लेने को तेरा नाम जो रहे ! गाते तेरा नाम !”

सुकाराम कहते हैं—मैं तो खाली हो गया हूँ; अब संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं रहा; यह देह रहा है केवल तेरा नाम गाने के लिये ! ]

उनके चित्त की ओर कोई गति नहीं है। ( No other destination except Devine ) क्षण-क्षण में, पल-पल में उनका चित्त दौड़-दौड़कर मेरे पास आता है, जैसे बच्चा माँ के पास दौड़ता है।

[ ठाकुर रामकृष्ण-परमहंस का जीवन पढ़ना। पहले के सन्तों के उदाहरण तो ले नहीं रही, अभी सौ साल पहले जो इस देश की धरती पर जी गये हैं, उन्हीं का जीवन देख लें। दक्षिणेश्वर की काली-प्रतिमा को अनुप्राणित किया था जिन्होंने अपने प्राणों से। माँ ! माँ ! रटते, हर काम माँ से पूछ कर करते ! “माँ मैं यत्र हूँ तुम यत्रो हो !”—कहते। वे न होते तो विषय की विवेकानन्द नहीं मिलते। नरेन्द्रबत्त के अज्ञेयवाद को चीरने वाली तीव्र-भक्ति और तीव्र ज्ञान था उनके पास। लेकिन अनन्यगतिकता ऐसी कि एक श्वास भी ‘माँ’ के अनुसन्धान बिना न लिया जाता। यहाँ तक कि उन्हें वेलात्त-शोभा देने आये गुप्तेव तोतापुरी जी को भी भक्ति की दोला उनके जीवन से मिल गयी।

ऐसे अनन्यगति चित्त में भी वे ‘भौड़’ (मोले, मुँह) नहीं थे। बड़े चतुर, बड़े कुशल ! “योग-कर्मसु कोशलम्” के निदर्शन थे वे। वस्तुतः कुशलता की पराकाष्ठा है प्रभु में चित्त की स्थिर कर देना। ]

ऐसे अनन्यगतिक चित्त से वे मेरी उपासना करते हैं। [ उपासना करना यानी चित्त को प्रभु के पास बँठा देना, जो भी काम करते हों वह प्रभु ने दिया है, प्रभु के लिये कर रहे हैं। किसी को भी पता न चले कि वे भक्ति कर रहे हैं; मोतर अव्यभिचारिणी भक्ति है, श्रद्धा है कि मेरे लिये जो योग्य है वही प्रभु करेंगे। दुःख दिया प्रभु ने तो वह भी हाथ पसार कर लिया कि यह भी प्रभु का प्रसाद है विष की यदि धीरा चरणामृत कहकर पी सकती है, तो उन्हीं की सन्तान है न हम सब ! बापू ने कहा था न ! “यदि कोई मुखर गौली चला दे, उस समय मेरे मुख से ‘हे राम’ हो निकले सब यह समझना कि



यह सच्चा मक था, नहीं तो सारे संसार को बता देना कि यह ढोंगी था। बिस्तर में मल्लू तो भी कह देना कि ढोंगी था।" यह श्रद्धा-भक्ति की पराकाष्ठा थी। ]

ऐसे जो मेरी भक्ति करते हैं उनकी सेवा-उपासना मैं करता हूँ दौड़-दौड़कर। [ वे कोई शंख-चक्र-गदा-पद्म लेकर या द्वारपर वाला रूप लेकर नहीं आते हैं। वे आते हैं परिस्थिति की अनुकूलता बनकर। संयोगों की अनुकूलता परमात्मा का अनुग्रह है। उसे समझने की रसिकता अपने में होनी चाहिये। जैसे-जैसे अन्दर से भक्ति परिपक्व होती जाती है, वैसे-वैसे उस भक्ति को जीने के लिये परिस्थिति अनुकूल बनती जाती है। ]

जब उन्होंने अपनी सभी वृत्तियों को समेट कर मेरे अनुसन्धान में लमा दिया, तब उनकी सब चिन्ता करना मेरा काम हो जाता है। 'योगक्षेमं ब्रह्म-स्यहम्'—'अप्राप्तस्य प्रापणं योगः, प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः' जो उन्हें अप्राप्त है वह प्राप्त हो पाय, जो प्राप्त है वह बना रहे ऐसी स्थिति पैदा कर देता हूँ, भक्तों ने अपने चित्त के साथ चिन्ता भी मुझको अर्पण कर दी, अब उनकी चिन्ता मुझे करनी पड़ती है। [ 'मैं योगक्षेम चलाता हूँ' कहने का अर्थ यह नहीं कि बसुदेव-वनश्याम रूप से ही आयेंगे। किसी भी रूप में वे आ सकते हैं—किसी ग्रन्थ के रूप में, किसी बच्चे के रूप में, जहाँ अवमञ्जस में पड़े हों वहाँ किसी भी व्यक्ति के रूप में आकर रास्ता सुझा दे सकते हैं। '...जो भी सामने आये उससे प्यार से बात करना। 'बया आने किस रूप में नारायण आ जाय !' ]

भक्त अनन्य गति से मेरा चिन्तन करते हैं, इसलिये उनके लिये जो कुछ भी करना अपेक्षित हो उसको चिन्ता मुझे रहती है। जिम्मेवारी मुझ पर है। बच्चा नहीं जानता है कब प्यास लगी, कब भूख लगी—तो क्या मैं उसकी चिन्ता नहीं करती है? ऐसे ही मेरे भक्तों की सब जरूरतों का ध्यान मुझे रखना पड़ता है। (श्रीश्री ३३६-४३)

जो पञ्चप्राणों से मेरे ही ध्यान-अनुसन्धान में लगे हुए हैं, उनका कोई भी काम करने में हे पार्थ,

मुझे लज्जा नहीं आती। [बासुदेव ने तो वह कर बताया—जूटो पतलें उठाना, घोड़ों की सेवा-सुश्रूषा-सफ़ाई आदि करना, शरणी बनना, श्रोपदी के लिये बस्त्रावतार धारण करना, म्वालबालों से खेलना, गोपियों की मनोकामना पूरी करना, विदुरपत्नी के दिले केले के छिलके खाना—क्या नहीं किया? बसुदेवसुख श्रीकृष्ण मनुष्य के रूप में मानवीय पूर्णता को सहस्रबल कमल जैसे खिल कर बिखा पये। इसी-लिये यह कहने का अधिकार है उन्हें कि भक्तों के लिये कुछ भी करने में मैं शरमाता नहीं। ]

मेरे भक्तों के चित्त में जो भी इच्छा उठे, बोल नहीं सकते हैं, किसी को बता नहीं सकते हैं ऐसे उनके मन में जो गुप्ताभिलाष हों उन्हें मैं ही पूरा करता हूँ।—[टढ़ी मेट्ठी कुम्भा के चित्त के अभिलाष को कौन जानता था कि वह राह देख रही है गोकुल से आनेवाले कृष्ण-बलराम की। उनके लिये ही विद्योप सुगन्ध लेप लेकर चली है, उसे कौन आने देता श्रीकृष्ण-बलराम के पास? तो स्वयं ही उसे रास्तें में रोककर उसकी अभिलाषा पूरी की। ] जो जो भी भाव बे मन में रखते हैं ऐसे ही संयोग उनके सामने खड़े कर देता हूँ।

हे पाण्डव उनका योग-क्षेम मैं ही चलाता हूँ, जिनके सभी भाव मुझमें ही समर्पित हो गये हैं। [आज के आधुनिक मनुष्य के पास यह क्षमता नहीं रह गयी कि उसका सारा चित्त कहीं भी समर्पित हो सके। बुद्धि के विकास के नाम से तर्कों को इतनी धार चढ़ी है, कि वह तर्कों से काटता चला जाता है। गाय के शरीर में जो दूध है उसे पाने के लिये दोहन करना पड़ता है; ऐसे ही समस्त सृष्टि की व्यक्त अनेकरूपता के पीछे विद्यमान एकता-परमात्म-सत्ता को देखना सीखना पड़ता है, उसके लिये मज्जता एवं वैयं चाहिये। विषयों के दोहन में प्रभुसत्ता का संस्पर्ध पाया जाता है।

भक्त का अभिगम ऐसा होता है कि प्रभु ने मुझे जो इन्द्रिय-मन-बुद्धि-शक्तियाँ दी हैं इनका पूरा उपयोग कल्लाओ जो भी काम सामने आये उसमें।

फिर फल जो आना हो वह आये ! कर्म भी प्रभु-समर्पित, फल भी प्रभुसमर्पित ।

पूरा पुण्यार्थ करना, पुण्यार्थ की पराकाष्ठा पर जब शक्ति पूरा व्यय हो चुके तब शरणागति प्रवृत्ति—प्रार्थना का सहारा लेना । वे दोनों मिलकर जीवन की पूर्णता है । पुण्यार्थ और प्रवृत्ति, शरणागति ।

किन्तु आज, एक तो आधुनिक मनुष्य की मनोरचना में वह सामर्थ्य ही नहीं रही, दूसरी ओर शरणागति समर्पण शब्द का इतने गलत अर्थ में उपयोग होने लगा और उसके आने-पीछे इतना झूठा प्रयत्न खड़ा हो गया है कि आज शब्दों का उच्चारण भी कठिन है ।

जो सर्वभाव से मुझ पर ही आश्रित हो जाते हैं, मुझको ही अपना आधार मानते हैं उनका सम्बल मैं बनता हूँ ।

“सुने रो मैंने निबल के बल राम ।

अप बल, उप बल और बाहु बल, चौथो है बल दाब ।  
सूर किशोर कृपा ते, सब बल हारे को हरिनाम ॥”

ऐसे निबल होने का साहस है जिसमें, उसके लिये यह भक्ति का मार्ग है ।

सर्वभाव से शरणागत कौन होगा ? अन्य-चिन्तन कौन करेगा ? जिसकी प्रभु के प्रति श्रद्धा है, प्रेम है । प्रेम में चित्त विभाजित नहीं रहता है । हर प्राण में चित्त अपने प्रेमो के प्रति दोड़ता रहता है । प्रभु के प्रति प्रेम ही, श्रद्धा हो तो चित्त का हर भाव प्रत्येक वृत्ति प्रभु के प्रति समर्पित होती है ।

यह भाष्य आधुनिक मनुष्य को मिला नहीं है । तर्क के नाम पर बुद्धि इतनी तेज हो गयी है कि श्रद्धा एक घण्टा भी स्थिर नहीं रह पाती; संशय-सन्देह-कुतर्क-वितर्क द्वारा अपनी ही प्रज्ञा एवं प्रीति के साथ मनुष्य लड़ता रहता है । इसलिए सर्वभाव से प्रभु का वरण करना—किसी भी नाम में, किसी भी रूप में, उसको देखना, या सर्व में सर्वरूप से उसको देखना—उसका वरण करना, ही नहीं पाता, इसलिए शरण भी नहीं आ पाते । वरण किए बिना शरण में जाना सम्भव नहीं है । बुद्धि से समझते हैं, चित्त से—दृष्य

से—वरण नहीं होता । वह वरण न होने के कारण समर्पण ही नहीं पाता ।

अवस्था कैसी है ? कोई सुन्दर किस्म का वान्य (अनाज) हो, पर उसका बीज भुना या टूटा हुआ, क्षणिक हो, अक्षत नहीं, क्षत-विक्षत हो । ऐसे बीज की सुन्दर से सुन्दर बरतों में बो दीजिए, जल सींचिए, किन्तु उसमें से कुछ उमगा नहीं । नन्हा सा हो बीज, किन्तु अक्षत चाहिए ।

इसी प्रकार शब्द व बुद्धि से प्रभुसत्ता का ज्ञान होने के बाद चित्त से उसका वरण हो जाय—“बे मेरे हैं, मैं उनका हूँ”—इस सारे संसार में अनेकता के रूप में प्रकट हुए वे जो एक हैं, उनका मैं हूँ और वे मेरे हैं ।” मनुष्य अपना भित्त जाय—प्रभु का बन जाय—इसमें भक्ति का प्रारम्भ है, और परिणति भी है । लेकिन यह ही नहीं पाता ।

मन्दिर में या अपने घर में भजन-कीर्तन के लिए बैठते हैं तो भावावेश में आ जाते हैं कि हाँ प्रभु ही मेरे सर्वस्व हैं । वह दो-चार घण्टे का ‘सेवा-भक्ति-पूजन’ का ‘कार्यक्रम’ पूरा हो जाय, उसमें से उठ कर काम में लगे तो व्यक्ति मान लेता है कि अब मैं धर्म-अध्यात्म के क्षेत्र से उठ कर व्यवहार के क्षेत्र में आ गया हूँ इसलिए यहाँ के कानून अलग हैं । मनुष्य खुद ही अपने जीवन को बाँट देता है—आव-हारिक और धार्मिक—ऐसे भागों में व्यवहार की जो पृथक् स्वतन्त्र सत्ता मानता है वह भक्ति नहीं कर पाता । दुनिया भर का उसे ज्ञान ही, तब भी उसकी चित्तवृत्तियाँ सम्पूर्ण रीति से बिनशर्त शरणागत-बिभ्रन्न नहीं हो पातीं, क्योंकि वह मानता है कि संसार-व्यवहार में तो अलग ढंग का वर्तन करना ही पड़ता है । यह कह कर मनुष्य स्वतन्त्र विचार व कार्यपद्धति का विकास कर लेता है ।

हमें भले लगे कि हम चार घण्टे बैठ कर भजन-पूजन ध्यान करते हैं, फिर भी जीवन-परिवर्तन नहीं होता है—क्यों नहीं होता—इसका कारण यही है कि हम जीवन को दो सत्ताओं में बाँट देते हैं; व्यव-हार के नाम पर सच्चे जीवनमूल्यों को आहुति देते चलते हैं, पल-पल में सोदाबाजो व समझीते करते

है। ऐसा व्यवहार चलाते हों तो यह कहने का अधिकार नहीं कि हमने बुद्धि से प्रभु को जान लिया है और चित्त प्रभु में रत है। हमारे भाव, हमारी भक्ति, भजन-पूजन क्षणिक कर्म है, भांगिक (Fragmentary, partial) है। समर्प नहीं हो पाते हैं।

शानेस्वर महाराज जिस समर्पण की बात समझा रहे हैं वह सम्पूर्ण जीवन का समर्पण कर्म है। मनुष्य आधा हथर, आधा उथर हो जाय तो त्रिशंकु की सी गति होती है। न संसार में ठीक संसारी की तरह जी पाता है। न परमात्म के लिए जो एक बीरता चाहिए प्रभु पर सारे जीवन को छोड़ देने की—वह जुटा पाता है। अपने तन-मन-बुद्धि-प्राणों से अपने को योग्य लगे वह करना लेकिन उन कर्मों का फल क्या होगा, अपने को क्या मिलेगा?—इसकी चिन्ता तो क्या विचार भी न करना, कर्म करते हुए प्रभु पर छोड़ते जाना यह बड़ी बीरता का काम है।

“हरि का पप तो ही शूरों का,  
नहिं कायर का काम यहाँ!”

हम तो अपने प्रत्येक कर्म से वाञ्छित फल पाना चाहते हैं इसलिए उसकी योजना गढ़ कर manipulation करते हैं। उस चोखट में कर्मफल को बाँचना चाहते हैं।—इस बुद्धि की अप्यात्म व भक्ति के साथ कतई संगति नहीं। भक्ति तो है मोक्ष से भी परे पञ्चम पुरुषार्थ की अवस्था, जो जीवन का शील बनती है। भक्ति में ही मनुष्य-जीवन कृतार्थ होता है—इसका आशय समझ लेना चाहिये—सर्वभावनेन मेरे आश्रित होना! यथाशक्ति-यथाबुद्धि सम्यक् कर्म किया और प्रभु को सौंपा गया, उसके परिणाम का चिन्तन नहीं, इससे ‘प्रभु प्रसन्न हों’—इतनी भी अपेक्षा चित्त में न रहे; हमसे कर्म हुआ आगे प्रभु की मर्जी। दुःख-सुख सब प्रभु का प्रदाय है।

इस भाव से हम छोड़ें नहीं तो भी प्रारम्भबध जो प्राप्त है वह जाने हो वाला है। लेकिन मनुष्य का मन छोड़ता नहीं; एक तरफ हेतु को पकड़ कर रखता है दूसरी तरफ अमोह-सिद्धि के निमित्त के लिए परिस्थिति में संयोग देना करने की जोड़-तोड़

करने में लगा रहता है। सफलता और बद्धान्त छोड़ता नहीं।

भक्ति शर्तों का खेल नहीं, इसके लिए चाहिए साहस। लोग मानते हैं, ज्ञान-ध्यान-सप के लिये साधनबल एवं श्रम चाहिये, भक्ति और प्यार तो यों ही (मुफ्त में) हो सकता है। वह भ्रम है। समर्पण एवं प्रेम की शूरता-साहस एवं उत्कृष्टता न हो तो भजन-पूजन-यजन-ध्यान आदि में से केवल सवाचार होगा, मनोरंजन, भावरंजन, सत्त्वगुण का विकास होगा। अन्त में जाना है निस्त्रैगुण्यवस्था में। तमस्-रजस् को तो लीचना ही है, सत्त्वगुण के सुनहले रेशमी सुलकर पाश को भी छोड़ कर भागे बचना है। वह होता नहीं यदि सत्त्वगुण के शुभ मार्ग में ही सत्साधन, सन्तोष, सान्त्वना प्रतीत होती रहे। एकाध नरती-सुर-मुलसी-बाहु-मीरा भक्ति-पथ पर बढ़ते हैं।

‘रामनाम सब कोई जपे, ठग ठाकुर और धोर।  
जिस नाम से द्रुमप्रह्लाद उररे, वह नाम है कोई और’ ॥

हरिनाम लेने में अन्तर है। नामजप को भी हम ‘कर्माई’ बना बैठते हैं फिर उसमें भी फलों की तुलना करते हैं। कुल मिला कर जोर—‘मैं’ पर रहता है। हम ‘अहं’ को बचाये रखना, पालना-पोसना चाहते हैं। और अध्यात्म है अहंप्रिय को समूल उखाड़ देना। ‘अहं’ ज्ञान में गल जाय या प्रेम में घुल जाय, इसके बिना अन्तर्मनःशान्ति कल्प अल्प चिन्तन नहीं हो पाता। यह समर्पण-शरणागति नहीं हो पाती यदि एक ओर चाहे १० घण्टे भी ‘भजन-ध्यान’ में विरायें पर साथ ही अहं के पीषण के लिये रसायन-सेवन भी करते रहें। इतोलिये मनुष्य कहीं पहुँच नहीं पाता।

शानेस्वर महाराज के पञ्चम पुरुषार्थ भक्ति का बीज है सर्वभावने-सम्पूर्ण समर्पण। इससे कर्म की बात नहीं है। यहाँ समझते की गुंजाइश नहीं।

अर्जुन। जितने उपद्रवाय अब तक तुम समझाये, उसके अलावा भी भक्ति के सम्प्रदाय (प्रकार) हैं। बहुत लोग विभिन्न देवताओं का पूजन-यजन करते

है, और मानते हैं कि वे मेरी ही भक्ति कर रहे हैं। यह सब है कि इन्द्र भी मैं हूँ, सूर्य भी मैं हूँ, सोम भी मैं हूँ, लेकिन उन्हें उन-उन नामों से विशिष्ट देवताओं से कुछ विशिष्ट ही फल अपेक्षित होते हैं। उसके लिये वे विविध याग करते हैं। मनमें उन देवताओं से कुछ विशेष प्राप्त करने का हेतु, अभि-सन्धि रखते हैं।

सब देवताओं का समवाय मैं हूँ—यह वे नहीं जानते। अकेले इन्द्र या सूर्य आदि को पूर्णता भी मेरी आधिक्यता है। अरे इतना बड़ा संसार मेरे एकांश से उत्पन्न हुआ दीखता है। जो कुछ भी व्यक्त नामरूप तथा अन्यक्त धार्मिकता आदि है सब मेरे एकांश में है—यह भान उन्हें नहीं रहता। वे उस एकांश के भी अंशों को पृथक्-पृथक् फल कामना से पूजते रहते हैं।

इस प्रकार का देवताचर्च करने से मेरी भक्ति मानना ऐसा ही है जैसे वृक्ष को सींचने के लिये पत्तों पर फूलों पर पानी डालना। विशिष्ट फल-कामना से विशिष्ट-याग-देवताओं का अर्चन करने से मूल-सिद्धान्त नहीं होता। एवं वही सब यदि मेरे प्राप्त्यर्थ कर 'हरिः ॐ तत् सत्' कह कर मुझे सन्धिपति करें तो वस्तुतः कार्य होगा। भले ही शाखापल्लव उसी बीज से उत्पन्न है किन्तु उन पर सींचा जल मूल में नहीं पहुँचता जब कि मूल में सींचा जल बरती का रस बन कर वृक्ष के सर्वज्ञ में जाता है।

जो केवल इन्द्रिय-शक्ति के लिये हृद्योग का अभ्यास करते हैं, केवल बुद्धि के विकास के लिये न्याय-तर्क-वेदान्त आदि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं, जो केवल मन के उदात्तकरण के लिए ही भजन-पूजन-सङ्कीर्तन करते हैं, वे एक-एक शाखा को पकड़ रहे हैं, इससे मूल उद्देश्य पूरा नहीं होगा। जीवन की दृष्टि-भूति-व्यवहार में आमुलाग्र क्रान्ति इससे नहीं आयेगी। भक्ति सम्पूर्ण पुरुषार्थ है, इसमें बड़ को सींचना होता है, अर्थात् परमात्मा सब में सर्वरूप में, सर्वत्र, सर्वदा विराजमान है ही। इसे बुद्धि से समझ कर चित्त से स्वीकार होना चाहिए।

वह स्वीकार हो गया हो ती फिर कभी भी, कहीं भी किसी व्यक्ति परिस्थिति घटना आदि से भय लगेगा ? किसी भी प्राणी से भय लगेगा ? चित्त स्वीकार नहीं करता है प्रभु की सार्वभौम सत्ता का। उसे युक्ति-प्रयुक्ति तर्कों से समझायें, शास्त्रों व सन्तों की वाणी सामने रखें—तो बुद्धि से कह देते हैं बात समझ में आ गई। वह यदि चित्त से स्वीकार हो जाय तो अभय ही अभय रहेगा। भय किसे लगेगा ? क्योंकि 'मैं' प्रभु की सत्ता से बाहर नहीं हूँ न! ब्रह्माण्ड में भीतर-बाहर बलही हुई असंख्य गतियों को सम्हालने वाली चिन्मयी सत्ता के भीतर ही मैं हूँ। तो चिन्ता कैसी ? इस देह में मुझे रखने का प्रयोजन होगा तब तक रखेंगे, उठाना होगा तब उठा लेंगे। जहाँ जैसे भी उठाना हो उठायें—रखें, उसमें मेरा कोई चयन क्या जोड़ूँ ?

हम चाहते हैं कि हमारी इस सड़े तीन हाथ की देह में उठने वाली इच्छा-वासना के अनुसार प्रभु हमारा जीवन-सञ्चालन करें। वे नहीं करते। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं, नटवर नागर कम नहीं हैं। जहाँ हमें लगा कि 'मैं बनी-भानी-विद्वान्-स्वपुणवान् हूँ' वहाँ फटका मार देंगे ! वे बड़े कृपाकण्ठ हैं।

बात समझनी यह है कि वृक्ष का सिंचन करना ही तो पानी मूल में ही देना पड़ेगा।

इन्द्रियाँ बस हैं (५ कर्मैन्द्रिय, ५ ज्ञानैन्द्रिय) एक ही देह से जुड़ी हुई हैं। इन बशों द्वारा जो सेवन होगा वह एक ही देही को मिलने वाला है। कान से शब्द सुना-उतरा वह चित्त में, बुद्धि ने अर्थघटन किया। उसकी क्रिया प्रतिक्रिया उठी चित्त से गयी, वहाँ धारण हुई, संयोगानुरूप बाहर प्रकट हुई।

दूसरी बात, बस इन्द्रियों से बस अलग-अलग विषयों का सेवन होता है। पर सेवन करने वाला एक है। फिर भी जिस इन्द्रिय से जो सेवन हो सकता है वहाँ उस विषय का विनियोग किशा पा सकता है, उसमें भ्यतिक्रम सम्भव नहीं। मूल में डालने की वस्तु कान में नहीं डाली जा सकती। फूलों की भाँसों पर बीया नहीं आता। रस का सेवन

भूल से हो होगा, परिमल का यहण नासिका द्वारा होगा। उसी प्रकार मेरा यजन मद्रूप से हो हो सकता है। जो भी कर्मरूप यज्ञ करोने [भारतीय संस्कृति में जोवन हो यज्ञ है] वह मेरी सत्ता पर कर रहे हो, उसका फल मुझ में ही जाने वाला है, अन्त में यज्ञ करते वाला भी मुझमें ही सभायेगा—इसका भान रखना चाहिये। काया-नाचा-भनसा सभी हलन-चलन (वह संकल्प-पूर्वक करें या अन्यायास हो, जान-बूझकर करें या अनजाने किया जाय) मेरी प्रीति के लिये 'हरिः ॐ तत् सत्' कहकर मुझे ही अर्पण कर दो न।

[वह सर्वोत्तम भक्ति होगी। "प्रभु तुने देह दो, सब साधन दिये इन्द्रिय-भन-बुद्धि की शक्तियीं दीं, कर्म को प्रेरणा दो, करवा भी लिया। मैं करने वाला कौन ? यह सब तेरा किया-कराया तुझे ही समर्पित है।" यह समर्पण भी वस्तुतः भाषा का शृङ्गार है। जैसे तरङ्ग कहे कि "मैं जलाशय को अर्घ्य दे रहा हूँ।" तो जलाशय हैसकर स्वीकार कर लेगा। क्योंकि वह प्रेय को व्यक्त करने की पद्धति है। हम प्रभु का नाम-सङ्कीर्तन करते हैं अपने ज्ञानम्य के लिये। अन्यथा हृदय में मो वे हो है, नाम-रूप-अर्चन सभी में बहो तो है ?

इसीलिये सारे संसार को परमात्मा की लीला कहा गया है। अखिल विश्व मनुष्यन है। सर्वभूतों में निवास करने वाले वासुदेव का यह ङाड़ास्थान है। ये जो अनेक रूप-रग-आकार हैं, तथा कथित दुर्जन-सञ्जन है, सभी उसी के रूप है—यह जिस दिन बुद्धि मगस पायेगी, उस दिन मनुष्य का जीवन कृतार्थ हो जायेगा। उसी क्षण अहङ्कार विगलित हो जायेगा। भय संबंधा मिट जायेगा।

भुक्तको न जानते हुए जो भजन किया जाता है वह सब व्यर्थ परिश्रम है। कर्म की जीख (ज्ञान, समझ) खुली होनी चाहिये, मैं कौन-सा कर्म कर रहा हूँ—इस सबका भान होना चाहिये। किसी ने देश-सेवा की तो देश पर लूट मये इसलिये की; और किसी ने देश-सेवा की तो पहले से हिंसा लगा लिया कि इससे मुझे प्रतिष्ठा मिलेगी, सत्ता मिलेगी। वह

तप हो, त्याग हो, धर्मकृत्य हो, तोषयात्रा-वालिदान हो,—जहाँ मार आता है 'अहं' पर—वहाँ वह सब किया हुआ व्यर्थ हो जाता है। (ओवी ३४४-५०)

[इससे हमें क्या समझना है ? यह कि—सुबह से रात तक जो हमारा व्यवहार होता है उसका मुकाब प्रभु पर होना चाहिये, 'मुझ पर नहीं'! लक्ष्य प्रभु होने चाहिये, 'मैं' नहीं। हमने किसी के साथ अच्छा व्यवहार किया, उसने प्रत्युत्तर में बुरा ही कहा—किया। दुःख होगा मनुष्य होने के नाते। लेकिन तब प्रभुभक्त विचार करेगा कि मैंने तो अपनी समझ के अनुसार अच्छा ही किया था, उसका ऐसा नतीजा आया ? जैसी प्रभु की धर्मा !' भक्त के मन में प्रतिशोध की भावना कभी नहीं उठेगी। प्रणिय नहीं बनेगा। ङांच भीतर सुलगता नहीं रहेगा (जिसके कारण ङाज मनुष्य की दशा जोतेजो नरक-यय रहती है।)''भक्त कहेगा, "मैं यही कर सकता था सो किया; फिर मोका आयेगा तब भी यही कस्येगा—उसका परिणाम जो आना हो आये, प्रभु ! तुम्हारी मरजी !"

"राजी है हय उसी में, जिसमें तेरी रजा है।  
यहाँ मैं भी वाह वाह है, और तू भी वाह-वाह है ॥"

प्रभु की सार्वभौम सत्ता का हृदय में स्वीकार होने पर उसी क्षण जीवन में क्रान्ति आ जाती है कि मैं जो कर रहा हूँ इसे प्रभु जानते हैं। दुनिया भले न समझे। प्रभु जो भी करेगे उसमें मेरा हित है, यह श्रद्धा होना चाहिये। यह श्रद्धा रहे तो मनुष्य का चित्त स्वल्प-स्थिर रहता है, फिर चित्त का मोन प्रारम्भ हाता है। उसे लीय कर फिर ध्यानवस्था आती है, ध्यान स्वभाव बन जाय तब सभाषि का मायाम जीवन में उतर आता है। ऐसे सुन्दर जीवन सोपान को छोड़ कर हम नाहक ही मटकते रहते हैं।]

इसलिए कर्म की जीख निर्दोष रूप से खुली रखो; क्या कर रहे हो—क्यों कर रहे हो—इसे अच्छी तरह समझते हुए सभानता में करो, फिर उसका जो परिणाम आए उसे प्रभु का प्रसाद मान कर ज्ञानम्य से स्वीकार करो।

हे पाण्डव, यों भी तुम देखो तो सही, कि यम में जो भी आहुतियाँ दी जाती हैं उनका भोला मेरे लिये दूसरा कौन है ? मैं सभी यज्ञों का आदि हूँ और पराकाष्ठा भी। मुझे भूलकर दुर्वृद्धि से लोग देवी-देवताओं की उपासना (वह भी अपने स्वार्थ साधने हेतु) करते हैं। गङ्गाबल की अछलित लेकर देव-पितरों के नाम से अर्घ्य देते हैं—वह भी छोड़ते हैं गंगा में ही। ऐसे ही मृगमं रहते हुए अपनी रुचि के अनुसार कुछ भी करो (निषेध या सखन नहीं है किसी चीज का) किन्तु इतना समझते हुए करो कि गङ्गा का बल गङ्गा में ही अर्पण करने की तरह मेरी वस्तु मुझे ही दे रहे ही (बोच में उहसा भले किसी नाम-रूप का हो!)। [प्रभु की कोई बहुत बड़ी माँग नहीं है; आपको जैसा चचे वंशा स्तकमं करो, बस स्मरण रहे कि हम प्रभु में हैं, और जो भी करेंगे वह प्रभु के समर्पित होने वाला है।]

इसका अर्थ क्या होगा ? मनुष्य को सावधान रहना पड़ेगा (जो जरा भी प्रिय नहीं है) आदतों के अनुसार, गाँविल रहते हुए, यान्त्रिक क्रियाओं में बहते जाना मनुष्य को प्रिय है। सावधान रहते हुए कर्म करता बढ़ा तप है—मैं कौन हूँ ? कहाँ खड़ा हूँ ? क्या कर रहा हूँ ? किसलिये कर रहा हूँ ? इसका सखत भान रखना हमें तप जान पड़ता है। “मेरे मन में ऐसा आधा, इसलिये किया।” यही उसर हाँता है हमारे पास। अरे भाई ! तू कौन ? तेरा मन कौन ? इसे समझ तो ले ! तेरा मन एक षडो में एक बात कहता है, दूसरी षडो में दूसरी बात कहता है, कौन सी बात तू मानेगा ? एक षडे में ५० वृत्तियाँ आयीं तो तू ५० तरह के आचरण करेगा। इनमें जो बिरोध हों उनका कोई निराकरण नहीं करेगा ? क्षण-क्षण में तू अपने आपको काटता-छाँटता चला जायेगा ?

आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो इस प्रकार जीवन को सखिडत करना (Fragmentation) होता रहता है। तन-मन-बुद्धि का स्वास्थ्य इसमें है कि जो भी करें वह समग्रता से करें। समग्र कर्म (Total action) सावधान रहकर ही किया

जा सकता है। हमारा सारा व्यवहार तन्दा में बेहोशी में होता है—“मैंने सोचा नहीं था कि यह कल्ला पर यह हो गया !” “मेरे शब्दों का यह मतलब नहीं था !”—सोचा नहीं था तो किया क्यों ? जो मतलब था वैसे ही शब्द क्यों नहीं बोले ? प्रभु की सत्ता में, उनके दरबार में बैठे हैं, यही गाँविल रहना चल नहीं सकता, सावधान-साभान रहते हुए समग्र कर्म करना ही वस्तुतः जीवन जीना है—इतना यदि समझेंगे तो ज्ञानेश्वरी पढ़ने-सुनने का लाभ लिया—वह मानियेगा।

मेरी ही शक्ति के विविध रूपों में अन्य-अन्य भाव रखोये तो तुम उन-उन में अटक जाओगे या एक से दूसरे देवी-देवता-रूपों में मटकते रहोगे, मूल तक पहुँच नहीं पाओगे। [यह उचित नहीं। अपने लिये कुछ भी न माँगते हुए, केवल मेरी सत्ता का स्वीकार (इकरार) करने के लिये तुम मुझे धार करो, और मेरी सत्ता में बसे हुए अपने सब कर्म करते चले जाओ—यही कहने का सङ्केत है।]

इसलिये भजन-गूजन यम बागादि करने के बावजूद भी, बड़े सदाचारी-धर्माला दिसने वाले व्यक्ति भी मृग तक पहुँच नहीं पाते। मेरी उपलब्धि उन्हें नहीं हो पाती क्योंकि वे अपने खूँटे व षडोदे से ही बँचे हैं कि “यह करने से मुझे क्या मिलेगा ?” ‘अहं’ के केन्द्र की पुष्ट-दुष्ट करने एवं ‘अहं’ का ही कोष (खजाना) बढ़ाने के लिये जो-जो भी कार्य किया जायेगा वह दिसने में पुण्य होने पर भी आशय में पाप होता है क्योंकि षरमात्मसत्ता के भान से दूर ले जाता है। और अहंकार को विघटित करने वाला जो कुछ भी कर्म होगा वह दिसने में अतिमात्मान्य होने पर भी वस्तुतः वही पुण्य होगा। अहंप्रिय विगलित होना चाहिये, जिस कर्म से भी हो। ससके बिना सब पापारमक पुण्य है।

[अद्वैत के अधिष्ठान पर द्वैत के साथ कैले व्यवहार करें इसकी शुक्ति बताने वाला ग्रन्थ है ज्ञानेश्वरी। यहाँ द्वैत का, अनेकता का भी स्वीकार है। द्वैत माध्यम है अद्वैत की साधना करने के लिये।

अनेकता माध्यम है एकता का बोध होने के लिये।—  
सभी दृष्टान्तों का मर्म यही है।]

इसलिये पार्थ! जितना-जितना हेतु कर्मकर्ता के मन में होगा वह पूरा अवश्य हो जायेगा (क्योंकि विविध उद्देशों से किया हुआ समस्त यजन-यजन अन्ततः पहुँचता तो मुझे ही है) लेकिन मेरी प्राप्ति नहीं होगी, मुझे साधुय नहीं होगा।

मन, वाणी तथा काया (करण-उपकरण) तीनों को देवी-देवताओं की उपासना में लगा दिया हो, तो, शरीर का प्राणों से विच्छेद होने के लक्षण में, जिस देवी-देवता को भक्ति की होगी, उसी रूप को वे प्राप्त होते हैं। अच्छा शरीर मिलेगा, अपनी वृत्ति के अनुसार कर्म करने के अवसर मिलेंगे, गुणों के प्रकट होने लायक परिस्थिति का संयोग मिलेगा। शरीर छोड़ते समय वे देव रूप हो जाते हैं।

जिन्होंने मितरों की उपासना की हो, उनका वह पितृव्य जीवन पूरा होने के साथ पूरा होगा। जो अग्निचारिणी (मृत-प्रेत-यक्षादि की) उपासना करते रहे हों, उनके चित्त में जो हेतु पड़े हों वे पूरे होते दिखाई देंगे, (इससे पार्थ तेरे चित्त में सका उठेगी कि "ये क्षुद्र सामग्री हेतुओं से की जाने वाली नारण-मारण-अग्निचारादि क्रियायें करनेवालों के भी सोचें हुए क्षुद्र-बुच्छ काम पूरे होते दिखते हैं तो क्या यह भी वासुदेव ही करा देते हैं?"—इसके समाधान के लिये इस सफलता का रहस्य य फल सुनो।—)

जिसका संकल्प जितना उत्कट-उद्य-प्रखर, गहरा व शक्तिशाली होता है, उस संकल्प की उदकृता व प्रकलता के कारण ही उसे उसका फल मिलता है। वही नीच में नहीं आता। [यहाँ ८०० वर्ष पहले ज्ञानेश्वर महाराज जो कह गये हैं, इस बात की सत्यता की आज सरोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक अपने अन्वेषणों में ज्यों की त्यों अनुभव कर पा रहे हैं कि संकल्प शक्ति में कितना बल है एवं उसका अपना एक गतिबल (Momentum) होता है जो पूरा होकर ही धमटा है। अणु में जैसे बिस्फोट होने पर आणविक ऊर्जा प्रकट होती है वैसे

मनुष्य जब अपनी आत्मशक्ति का दुस्प्रयोग करके ऐसे छोटे कामों के लिये सकल्प करता है तो उसके सकल्प में वह शक्ति भर जाती है, उसका सकल्प ही फलित होता है। विचारों का सघन द्रव्य बनना (Materialisation of thought) यह उसका एक पक्ष है। दूसरा है संकल्प (Will power) फलना। उसमें नादार्थिक (Metaphysical energy contained in sound) का भी उपयोग किया जाता है। शरीर में समाधी शक्ति को संकल्प-शक्ति के साथ जोड़ देने के परिणाम-वश उनके हेतु पूरे होते दिखाई देते हैं।

वह मेरी भक्ति नहीं है। उनके चित्त एव जीवन में कोई परिवर्तन नहीं आयेगा। उनके काम-क्रोध-मद-लोभ-असूषा-भस्त्र ये मानव चेतना के बहुरिपु या रोग क्षीण नहीं होते। [केवल हठयोग-मन्त्रयोग आदि की साधना करने वालों के जीवन देख लेना! अरे, अतीव शौद्धिक भ्रम करके जीवन के चरम सत्य को खोज में लगे हुए वैज्ञानिकों तक में ये विकार बने रहते हैं, जिनका चित्त अतिदृढ़म चिन्तन करते-करते ध्यान-सद्गुरु स्थिति तक पहुँचा होता है।]

जिस शक्ति को सघन एकाग्र करके तुच्छ एवं दुष्ट संकल्पों के पीछे लगा कर फलित करते हैं, उसी शक्ति को यदि मानवजीवन का लक्ष्य सिद्ध करने के उपयोग में लाते, जीवन-परिवर्तन में लगाते, तो अहंप्रसिद्ध चेतना प्रभुत्व में विभ्रजित हो जाती।

[किन्तु मनुष्य को वह नहीं चाहिये। साधना-भक्ति के नाम पर कुछ करने का भी वह तत्काल परिणाम देखना चाहता है। अभी बीज बोया, अभी उसका वृक्ष उग्य, उसको छाया और फल मिले यह चाहता है। इसलिये—]

क्षुद्रदेवता-भूतादि की उपासना करने वाले अपनी ही संकल्पशक्ति के परिणामरूप क्षुद्र हेतुओं की फलते देखते हैं और भ्रमवश मानते हैं कि उन-उन भूतादि के रूप में प्रभु प्रसन्न हुए हैं।

हे अर्जुन! जब ऐसे क्षुद्रदेवतादि की उपासना भी संकल्पशक्ति के बल से फलती है, तो जो लोग वहाँ भी उनकी वृत्ति पढ़ें वहाँ मुझे ही देखते हैं,

‘ॐ नमो नारायणाय’—इसके सिवा उनके मूँह से कुछ निकलता ही नहीं; प्रत्येक प्राणी और पदार्थ के आकार में मुझे ही छिपा बँठा जानते हैं, जिनके लिये ‘सब विषय नारायण ही हो गये हैं’ उनकी वह दृष्टि, भावना वशों न फलेगी मला !

उनकी तो “जहाँ दृष्टि आये वहाँ मैं ही मैं हूँ।” उनकी आँखें सर्वत्र मुझे देख पाती हैं, कान से जो भी शब्द सुनं उसमें मुझे ही सुन पाते हैं। वाणी से वे कुछ बोलें उसमें मेरा ही वर्णन-गुणगान रहता है। मन में जो कुछ आया, उसमें मेरा ही भावन करते हैं।

सर्वाङ्ग से सभी स्थानों पर वे मुझे ही नमस्कार करते हैं। वे सोम्य तो मेरे ही प्रेम में समाधिभ्रम होते हैं। मेरा ही अग्र्यधन करते हैं, भीतर-बाहर के सभी कर्मों में मुझसे जुड़े रहते हैं। अन्तःकरण में मेरा ध्यान रहता है। शरीर से होने वाले सब कर्मों का लक्ष्य मैं ही रहता हूँ। उनका सभ्रस्त जीवन मेरे साधिष्य एवं उपस्थिति का आनन्द स्तूटा रहता है। शरीर धारणा के लिये जो लेश अहङ्कार रहता है उसका रूप—“हम हरि के दास हूँ”—यही रहता है। “हम हरि के भक्त हैं, गले में हरिनाम की तुलसीमाला है, हमसे झूठ बोल नहीं जायेगा, किसी को ठग नहीं आयेगा” उनका जीवन हरिमय हो गया है। (ओषी ३५१-६०)

‘तुका कहे हम बिटुल के दास ।  
पिण्ड में ब्रह्माण्ड को किया दास ।  
मिथी का फिर होता न ईश्वर,  
हमें होगा कैसे फिर गर्भवास ?  
बीज भूनकर गईं सोल बन ।  
अब न हमारा जन्म या धरण ॥’

“जित बँडा दे उत हो बँडें, बेचे तो विक जाऊँ !  
जो पह्रावे सीईं पहूँ, जो देवे सो झाऊँ ।  
मेरी उनकी प्रीत पुरानी, बार-बार महि गाऊँ !”

—भीरा

जगत् रहने का उन्हें एक ही लोभ है कि यहाँ वे मेरा नाम-गुण गा सकते हैं। सन्तों का सङ्ग पा सकते हैं। लेश अहङ्कार बना हुआ है—“हम हरि के हैं”—यह भ्रूण धारण करने के लिये ही ! इसीलिये वे मोक्ष रूपी परम धन नहीं चाहते—

‘न चाहें मुक्ति-धन-सम्पदा ! सन्त संग दोजों सदा ।  
तुका कहे गर्भवास में, डालो सुख से भले हमें !’

ऐसा जिनका जीवन मन्मय (हरिमय) हो गया है, उनकी सेवा न कहे तो बीर में कहे क्या ? मेरे लिये संसार में एक ही काम है कि इस प्रकार मुझमें ही जिनका जीवन समा गया है, जो जीते जो मृत्यु को पार कर गये हैं—उनकी हर तरह से सेवा किया कहे । मृत्यु से पहले ही (अहङ्कार विस्मृत होने से) जो मुझसे समरस हो गये हैं वे देह की मृत्यु के बाद

१. [ स्मरण आता है प्रसंग, एकनाथ महाराज अक्रोष की मूर्ति में, उनके ईर्ष्या रखने वालों ने एक बार एक मुसलमान को घन देकर नियुक्त किया कि एकनाथजी सुबह नदी स्नान करके घर पहुँचते ही तब उन पर धूकना । दूसरे ही दिन ब्राह्मणपूर्व से सुबह जब महाराज नदी स्नान करके आ रहे हैं घर में प्रवेश करने से पहले यवन ने उन पर धूक दिया । महाराज हँसे वापस नदी पर गये स्नान करके आये, फिर धूक । फिर मुस्कुराये, वापस गये—यही क्रम १०८ बार तक चला । महाराज की मुस्कान से लक्ष्मणान्न भी अन्तर नहीं पड़ा । बल्कि १०-१५ बार के बाद तो वे स्नान करके लोटते समय उस स्थान पर यवन के पास आकर खड़े हो जाते कि उसे धूकना हो तो धूक ले ।—सन्ध्या हो गयी । आखिर बेचारा यवन विह्वल होकर उनके पाँशों पर गिर पड़ा; रोते-रोते कहा कि वैसे के लालच से यह पाप कर रहा हूँ । लेकिन आपकी क्रोध नहीं आया ? महाराज बोले—“भाई क्रोध कैसे आये ? रोज तो मैं एक ही बार गया स्नान करता था, तूने आज मुझे १०८ बार स्नान कराया; तेरे तो मुझ पर अनन्त उपकार है !”

पटना की देखने की दृष्टि बदल जाती है, तब चित्त पर होने वाले परिणाम का स्वरूप भी बदल जाता है । ]



कहाँ जाने वाले है ? बीते बी जो मुझमें सखा गये, देहान्त के बाद उनका मुझमें ही नित्यनिवास होगा इसमें सन्देह क्या ? (ओवी ३६१-६५)

[ ऐसे प्रश्न के सन्देश—एकमात्र प्रभु की ही सार्वभौम सत्ता का समग्रभाव से प्रतिपल जीवन में स्वीकार, तदनुसार आचरण—को यदि हम अपने जीवन में अपनायें नहीं, सतत अनुबन्ध न ओढ़ें तो महान् अपराध होगा । ]

जिनका सम्पूर्ण यजन-पूजन-भजन-कर्म-सम्पूर्ण जीवन मेरा अनुसन्धान रखते हुए होता है । जिनको यह भाव है कि मेरी सत्ता के कारण सृष्टि है, मेरी सत्ता के कारण जीवनमात्र का व्यवहार और सञ्चार है । यह जिनको भाव है, कि प्राणिमात्र सागर में तरङ्ग की तरह मेरी सत्ता की ही अभिव्यक्तिवाँ है जिन्होंने यह जान लिया कि सर्व में सर्वत्र सर्वदा ओत-प्रोत एकही परमात्मा हैं, उन्हीं की सार्वभौम सत्ता है,—इस सत्य को जिन्होंने पकड़ लिया, उनके चित्त में सहज यह वासना आग्रत होपी है कि “आप हमारे हैं, हम आपके हैं, आप ही के हम अंश हैं, आप ही में सभाने वाले हैं” —इस सत्य तथ्य को व्यवहार में प्रकट कैसे करें ?—

तब कोई आता है और उसके पास पत्र-पुष्प-फल या जल जो भी हो वह मेरे चरणों पर चढ़ाता है । किसी के पास रसमयी बाणों की शक्ति है वह मेरी कथा कहता है, जो गा सकते हैं वे सञ्जीवन करते हैं । जो नर्तन कर सकते हैं वे नृत्य करते हैं । जिनके पास पैसा है वे दान-धर्म करते हैं—ये सब प्रतीक हैं । गंगाजी में खड़े होकर, अञ्जलि में जल लेकर जैसे कोई अर्घ्य दे वैसे मेरे निर्माण किए हुए संसार में जीते हुए, अपने कर्मों से वे मेरी पूजा करना चाहते हैं । अपने आपका मुझ में उत्सर्ग करना चाहते हैं । आत्मसमर्पण के लिये वे सब बहाने जिन्होंने बनाये, अपना आप ही जिन्होंने मुझे दान कर दिया । —उनके जैसा मुझे दूसरा कोई प्रिय नहीं है ।

धन का दान करके जो अपना अहंकार अपने पास रखते है कि “मैंने प्रभु के लिये दत्तना किया,

दत्तना दिया !” उनके धान में मुझे कोई रस नहीं । अहंकार रखते हुए बाह्य धन आदि का दान देने वालों को संसार में प्रतिष्ठा मिलती है, ‘महादानी’ ‘दानवीर’ आदि कहलाते हैं । पर मेरे पास उसकी कोई कीमत नहीं ।

मेरे पास मूल्याङ्कन का माप वही है कि आपके चित्त का कितना अंश मेरे पास आया । ओर कर्म किस रीति से क्रिया गया ? अन्धमनस्कता में क्रिया ? बेपरवाही से क्रिया ? श्रद्धा में क्रिया ? तो वह चाहे छोले-चांदी के उपकरण लेकर क्षीय्य ब्राह्मणों द्वारा उत्तम सामग्री से मेरा बीवशीषचार पूजन करवाया हो—उससे मुझे सन्तोष नहीं होता; मैं बड़ा सूक्ष्मप्राही हूँ । मैं रक्षिक व्यक्ति हूँ, हृष्य के भाव ही ग्रहण करता हूँ, स्थूल आरोप को मैं देखता भी नहीं । चाहे जितने उपचार लाओ । [उपचार यानी समोप ले जाने के साधन, पूजा के उपकरणों से लेकर तन्त्र-मन्त्र-यन्त्र-मूठयोग की प्रक्रियायें नाशयोग लप-योगादि तक सब उपचार हैं । ये न करें तो भी भक्ति हो सकती है । हाँ अपने अन्तर्वास करणों की शुद्धि व शुचिता के लिए, चित्त की स्थिरता के लिये इनका उपयोग अवश्य है, किन्तु वह भी यदि निरहंकार रूप से किया जाय । ]

जो कहते है—“प्रभु ने शरीर दिया, इन्द्रिय-सन-बुद्धि की शक्तियाँ तथा प्रभुशैल्यप सर्वहितकारी कर्म में इनके विनिर्माण की प्रेरणा भी प्रभु ने ही दी, —यह सब प्रभु का दान उनकी लीला में अर्पण हो जाय इसी में जीवन की कृतार्थता है” —वे मुझे प्रिय है । वह फिर बिदुरपत्नी के दिये केले के छिलके हों या शबरी के जूठे (चख-चख कर मोठे छोट कर रखे हुए) बेर हों, वे मुझे प्रिय हैं । क्योंकि उनमें व्यक्त होता भक्तों का मधुर प्रेमभाव ही मेरा सच्चा निवेश है (भावप्राप्ति जनार्दन) ।

प्रेमभाव से अपनेआप को मुझे अर्पित करने के प्रतीक में तुलसी या बिल्व का एक पत्ता अर्पित किया हो तो उसके तोल की बराबरी में समस्त सृष्टि का वैभव तो नहीं ही आता, तराजू के दूसरे पलड़े

में स्वयं में बैठ जाऊँ तो भी उस तुलसीपत्र वाला पलड़ा झुका ही रहेगा।

ऐसा कुछ मेरा चित्त बना है पाथं कि मैं भक्तों के अहंकार का ही आहार करता हूँ, दान भी उसी का ले सकता हूँ। और प्रतिदान में स्वयं न्यून पड़ जाता हूँ।

ऐसे ही जिन्होंने मुझे ही सामने रख कर, मेरी प्रीति के लिये अपना आप ही मुझे चढ़ा दिया है वे मेरा सायुज्य पाते हैं, मुझसे अभिन्न हो जाते हैं, मेरे ही गुणधर्म उनमें सुस्पष्ट हो उठते हैं, उनकी वृत्ति की व्यापकता मुझसे भी बढ़ जाती है क्योंकि उनके चित्त से मेरी व्यापकता बस जाती है।

[समुग-उपासना प्रतीकार्त्तक ही है, सर्वव्यापी निर्मुग-निराकार का प्रतिनिधि बना कर श्रीविग्रह के प्रति अपने भाव अर्पित करते हैं। स्थूल उपचारों द्वारा वह न करें तो ?—“अनुपाय एव उपायः !” कोई भी उपाय न करो तो आत्मा के रूप में मैं आपके बीच हूँ और तत्त्व के रूप में संसार में व्याप्त हूँ। सामान्य जीवन जीते हुए अपना प्रत्येक कर्म समग्रता सभानता से करता जाय तो (‘स्वकर्मणा तमम्यर्चमं सिद्धि विदन्ति मानवः’) उसका कर्म ही पूजा बन जायेगा; आवश्यकतानुसार कुछ बोलना ही जप बन जायेगा। वह दशा जब तक न हो तब तक उपचारों का सहारा लिया जाता है। बच्चों को जैसे ‘श्रिंगोश’ लिख कर देते हैं, उस पर जंगली व कलम घुमा-घुमा कर वह घीरे-घीरे लिखना सोखता है, वैसे अपने आपको अर्पित करते एवं एकाग्रता साधने का अभ्यास-क्रम है सगुणोपासना। प्रभु कहते हैं—]

किन्हीं भी उपचार से, क्रिया-प्रतिक्रिया से मुझको पाया जायेगा ऐसा नहीं है। लेकिन उस क्रिया आदि में भी यदि आत्मदान का पुट लगा है तो उस पूजन से भी मैं सन्तुष्ट हो जाऊँगा, क्योंकि मेरा निवेद्य भाव ब्रह्मण कर सकूँगा। इसलिये कोई करोड़पति लाखों का दान करे और कोई कंगाल किसी पेड़ का पत्रा ही भावपूर्वक मुझे चढ़ावे तो मेरे लिये उस पत्रे

का मूल्य वही अधिक होता है। इतना निश्चित समझ रखो पाथं ! कि केवल उपचारों से मैं नहीं मिलता ! मुझे चाहिये आत्मदान ! आत्मोत्सर्ग ! जहाँ उत्सर्ग पूर्ण हुआ, वहाँ सर्जन का प्रारम्भ है। उत्सर्ग और सर्जन हाथ में हाथ मिला कर चलते हैं।

[और भी अधिक चौकाने वाली तथा हम सबके काम की बात कहते हैं—]

जितने भी ग्रन्थगानिर्गो-योगियों-अनुभवियों-सन्तों के मिले वे सब पढ़ गये हों, पूरा अध्ययन किया हो, सब धर्मों के सभी ग्रन्थ आद्योपान्त पढ़ गये हों—अथत् शब्दज्ञान अपार हो, शब्दब्रह्म का सम्यक् मन्थन किया हो—और मानते हों कि परमात्मा को जान लिया। तो उनका वह ज्ञानना ही उनके व मेरे बीच अन्तराय बन जाता है। [Kawolledge is the sole obsticle in the understanding.] धार्मिक-बौद्धिक ज्ञान ही आकलन-समझ के प्रति ब्यवधान, बाधा बन जाता है। समझना ही तो पाना है, कोई बाहर से मिलने वाली वस्तु तो है नहीं आत्मा या परमात्मा ! वह सदा सर्वत्र है ही। बस इस सत्य का आकलन न होना ही उसे खोना या दूरी है और समझ लेना ही उन्हें पाना है। वे सर्व में हैं तो मैं भी तो सर्व के अन्तर्गत ही हूँ ?]

जो शब्द के निमटे से मुझे पकड़ना चाहता है, उसकी पकड़ में मैं नहीं आता। यह बौद्धिक-धार्मिक ज्ञानना वस्तुतः आत्मबोध में क्यों अन्तराय बनता है इसको खोल कर कहते हैं—]

क्योंकि सर्वात्मिक आत्मसत्ता को समझने के बाद भी वह तद् रूप नहीं हुआ। [वह कहता है—“मैंने जान लिया।” अथत् उस ज्ञान से अपने आपको अलग रखता है, उस जानने को भी अपने सम्पत्ति मानता है। ‘यह मेरा मकान है’ की तरह ही ‘यह मेरी समझ है, मेरी अनुभूति या प्रतीति है’ या ‘मेरा ज्ञान है’ वस्त्व पहनने-उतारने की तरह वह उस जानने को ओढ़ते व उतार रखते हैं सुविधा-असुविधा के अनुसार। सत्य का भाव सांसारिक व्यवहार में असुविधाजनक जान पड़ता है और

‘धार्मिक’ क्षेत्र में सुविधाजनक व प्रतिष्ठापामक । कोरा धार्मिक ज्ञान ऐसा सत्ता-विभाग बनाये रखने में लक्ष्मण नही होता ।] वह अपने ज्ञान को प्रदर्शित करता है—‘मुझे आत्मज्ञान हो गया ।’—यह कहने के द्वारा ही वह स्वयं को ज्ञान से पृथक् रखता है । वह तन्मय-तल्लीन हुआ ही नहीं जो कह सके कि ‘मुझे ज्ञान हुआ है !’ क्यों नहीं उलका अहं का केन्द्र भिन्न गया ? अरे, जिसने मुझे (परमात्मतत्त्व को) जाना, उसकी चेतना में यह ‘अहं’ का बिन्दु क्या बच रहेगा ? चन्दन को चित्त-चित्त कर लेप बना दो तो फिर भी क्या वह चन्दन का काष्ठलक्षण शेष रहता है ? वह तो घुल जाता है पानी में, सुगन्ध रूप से जीवम में मिल जाता है । ‘मिने जाना’—यह कहना तो इसी तथ्य का सूचक है कि जो अहङ्कार पहले इन्द्रियों द्वारा काम करता था वही अब अनुभूति के कक्ष में आकर बैठता है । जिसे ज्ञान में गलना था, प्यार में घोल देना था—वह प्रत्येक तो शेष ही है ।

देहभाव से निकल कर अहङ्कार मन-बुद्धि में चिपक बैठता । वही से उठाया तो अतीन्द्रिय अनुभूतियों में जा बैठता । ऐसे अहङ्कार के आग्राम क्षेत्र बदलते रहना यह अध्यात्म या भक्ति नहीं है । यह प्यार भी क्या है जिसमें प्यार करने वाला शेष रह जाय—यह कहने को कि ‘मिने प्यार किया’ या ‘मुझे प्यार है’ । [पश्चिम की भाषा वही नहीं चल सकती ।]

जानने को क्रिया, उसका संस्कार, और ‘मिने जानता हूँ’ ऐसा उद्गार, उच्चार—ये ही बन्धन बन जाते हैं, इसीलिए ‘शब्द-बन्ध’, ‘कर्मबन्ध’ कहलाये । ‘सर्व में प्रभु की सत्ता है’ यह समझ लिया हो तो ‘मिने जान लिया’ यह कहने में कौनसा बड़ा पराक्रम हुआ ? सब में प्रभु है, प्रभु सत्ता-ज्ञान-आनन्द स्वरूप है, सब के अन्तर्गत हम भी हैं, तो जानना कौन-सी बड़ी बात हुई ? न जानना ही लज्जा की बात थी । जो रात दिन सोचने लड़ा है, चारों तरफ सब कुछ में ओठप्रोत है और घृष्ट बन

कर आँसों में से साँक रहा है—उसे न देखना ही अपराध है; देखना जानना तो स्वाभाविक है ।

बो कहें कि ‘हम ब्रह्मविद्’ हो गये, वे कुछ भी नहीं हैं ‘यस्मात्तं तस्य मर्तं, वस्तु वेद न वेद सः’ । [इसका अर्थ हम यह समझें कि हम भक्ति या अध्यात्म के नाम से जो बाधों विलास, क्रिया विलास करते हैं, उसी में मस्त रहते हैं और उससे सुख लूते हैं—तो उसी में अटक जाते हैं ।

‘कोई क्रियावद् हो रहे, शुद्ध ज्ञानमय कोई ।’ मोक्ष मार्ग शान्ति ऐसे, कल्याण-पान है सोई ॥’ कोई क्रियाकाण्ड को पकड़ बैठता है, कोई शुद्धज्ञान को सब कुछ मान बैठता है, कोई भावनाओं की आतिशबाजी में मस्त है,] कोई मुझे पकड़ कर अहङ्कार का विशर्जन नहीं करते ! यहाँ चूक जाते हैं । चादो तो यही है । [आज की भाषा में चेतना के उस झूठे के गल जाने पिघल जाने की उल्लेख है, तभी चेतना का नया आग्राम खुलता है ।

भक्ति को जिन्होंने पूर्ण पुरुषार्थ कहा, सम्पूर्ण जीवन की समग्र क्रान्ति कहा उनका आग्राम यह है । (Elimination of the sense of me—the ego—is the essence of transformation.)

इसीलिये कबीर कहते हैं ‘कुछ भी न होकर जियो !’ अगर ‘कुछ बनने’ जाओगे तो बिगड़ गया साम्राज्य ! ‘बनना’ नहीं, बस समझना और ‘बहो हो जाना’ !]

स्वयं को ‘ब्रह्मविद्’ जानने कहने वालों के यज्ञ-दान-उप-कर्म-ज्ञानादि को एक पास के तिनके चितनी भी कीमत घेरी नजर में नहीं है ।

अर्जुन ! यदि केवल ज्ञानसे मात्र ते (the intellectual activity of knowing) मुझे पाया जाता, तो क्या स्वयं वेदों से अधिक मुझे कोई जानता है ? यदि ब्रह्म बोलने एवं मज्जन-कीर्तन से मुझे पाया जाता तो सहस्र जिह्वा वाले शेष से अधिक प्रवक्ता कौन हो सकता है ? लेकिन वह मेरी श्रद्धा बना चुपचाप पड़ा रहता है । और वेद ज्ञान की पराकाष्ठा पर भी लजा कर यही कह

कर रह गये कि—“केवल इतना नहीं, केवल यही नहीं, तत्त्व इससे भी अधिक है, उससे भी अधिक है, वह सब प्रकार के ज्ञान कराता है, पर कोई भी ज्ञानसाधन स्वयं उसे ज्ञान नहीं सकते, बता नहीं सकते।”—वेद भी वर्णन नहीं कर सके।

सनकादि चारों कुमार ऋषि एवं परमहंस शुकदेव मेरी सत्ता का अन्तर्ग्राह्य संस्पर्श पाकर उस आनन्द को सँभाल न सके, पागल थे होकर विचरण करने लगे।

तपस्या करने में शूलपाणि आदिनाथ शङ्कर से बढ़ कर तपस्वी कौन होगा? वे भी मेरी सत्ता के प्रति विनम्र भाव के प्रतीक रूप में विष्णुचरणोदक-गङ्गा को मस्तक पर धारण किये हुए हैं। अपने तप का सारा अभिमान छोड़ कर या श्रेष्ठ-तपस्वी व ज्ञानी होने का जरा भी अभिमान न रखते हुए नित्य चरणामृत मस्तक पर लिये हुए हैं।

कोई घन-सम्पदा के अभिमानो हों और सोचते हों कि अगर घन के बल पर भगवान् को प्रसन्न कर लेंगे, बँकुण्ड का जैसा वर्णन मिलता है उस प्रकार का मन्दिर घरती पर बनायेंगे, हीरे-जवाहरात के अलङ्कारों से श्रेष्ठियह को मड़ देंगे... इत्यादि। तो उनका यह भ्रम कितना हास्यास्पद है यह तू देख।

तू बता अला कि स्वयं ‘श्री’ लक्ष्मी जैसा कोई धर्मस्वयंशाली हो सकता है क्या? लक्ष्मी के घर का हाल सुन! वही ऋद्धि-सिद्धि जंजी बासियाँ भी इतनी समर्थ हैं कि बच्चों की तरह ‘घर-घर’ का खेल रचायें तो अघराघरो पुरो, उनमें गृहे-गृहियों की तरह इन्द्रादि देव-देवियाँ बनाती हैं, जिस वृक्ष की ओर देखें वे कल्पतरु हो जाते हैं और जब खेल समेटें तब सब सघात कर देती हैं; ये बासियाँ भी जब पाहें तो किसी रंक को, अविधाय समृद्ध श्रेष्ठी बना दें, और किसी चक्रवर्ती सम्राट् को दूसरे ही दिन विधारी बना दें, ऐसी बासियाँ की स्वामिनी लक्ष्मी

मेरे चरण-चाँपीनी बैठी रहती हैं; श्रेष्ठ नायिका का स्थान नहीं पाती।

अतः यह मानना कि घन के बल से कोई मुझे पा सकता है। घन-तप-ज्ञान तो क्या प्रेम का भी किसी को अभिमान हो जाय तो मैं पास आया हुआ भी उसके लिये दूर हो जाता हूँ। मोपियों को एक बार अभिमान हो गया था रास खेलते समय मुझे उनके बग में मानने से। तत्क्षण विधोष-व्यथा से तड़पने लगी; वेचना अस्पष्ट हुई और रो-रोकर अपनी मूल स्वीकार कीं तब कहीं पुनः मुझे पा सकीं।

“किसी का गर्व सहे नहीं प्रभु को अपना कुल संहारे!”  
दान-तप-योग-ज्ञान-लौकिक प्रीति—

किसी प्रकार का गर्व उन्हें सहन नहीं होता। इतलिये हे अर्जुन, सभी प्रकार का अभिमान छोड़कर अपना सर्वस्व (पूरा का पूरा चित्त) मुझे शोषकर जब अभिमुख हुईं तब लक्ष्मी को मेरी चरण-सेवा का अधिकार प्राप्त हुआ। (श्रीबी ३६८-७७)

अपनी श्रेष्ठता-महता-विशिष्टता (किसी व किसी गुण के नाते अद्वितीयता प्रत्येक व्यक्ति में होती है, जो अहङ्कार के गर्व का बीज बनती है) का मान दूर ही छोड़ दो, सर्वथा मूल जाओ। संसार में प्राणो मात्र के प्रति नम्र बनो।\*

[बहुत कठिन है यह। घर-द्वार, राज-पाट, छोड़ा जा सकता है। प्रभु तो कहेते हैं अपनी अरिभवा एवं व्यक्तित्व को ही मूल जाओ। मैं कुछ हूँ—इसी को मूल जाओ!—इसी की आहुति चाहते हैं व। यह होम दाँ ‘सर्मी स्वाहा’ कर दो। फिर चाहें महलों में रहो या जगल में कोई अन्तर नहीं पड़ता।... बस मैं कुछ हूँ—मैं कुछ कर रहा हूँ—इस भ्रम की जलाजालि मेरे चरणों में चढ़ा जा।]

जगत् में जितना कुछ है उसके प्रति अपार नम्रता हृदय से धारण होगी, सहन-बहन होगी, आचरण में आयेगी—तब कहीं अर्जुन, मेरे निकट

\*. “तूष्पाधिपु सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना। अमानिना मानवेन कीर्तनीयः सवा हरिः ॥”

आ पाओगे ! [छोटो से छोटी चोख को लेकर बढ़ी से बढ़ी तक मनुष्य अपनी अस्मिताओं का ताजा-ताना दिन भर बुनता रहता है। 'अहं' की दुर्गन्धि तो प्याज-लहसुन से कहीं ज्यादा है। 'मैं पन' की भावना को लेकर किया गया कर्म किसी भी संवेदन-शील व्यक्ति के ध्यान में आ जाता है।]

तुम जगत् के प्रति नम्र हो जाओगे तब मैं तुम्हारे निकट ही रहूँगा; आगे-पीछे घूमता रहूँगा।

"ओहों के प्रति जो नम्र हुआ,  
उसने तो प्रभु को ऋद किया।"

"सकट में जिसने पुकारा गोविन्द !

आगे पीछे उसके सङ्गे हूँ मुकुन्द।

जरा सा भी कष्ट होने न देते।

उसके सभी काम बहो कर देते।"

—तुकाराम

आधे नाम पर दोड़ आते हैं यदि सबके प्रति नम्र हुआ भक्त कभी प्रभु को पुकारे ! नम्र न हुआ वह भक्त नहीं, तब तो लालों श्रेष्ठ उपचारों द्वारा पूजित होने पर भी मानो चुनते ही नहीं।

चन्द्र की ज्योत्स्ना कितनी मधुर है; पूरी रात चन्द्र का साम्राज्य रहता है जगत् पर; किन्तु जब मानु आते हैं तब चन्द्र अपना मुख छिपा लेते हैं। इन सहस्र-रूपि भानु को अपनी ज्योति से रिशाने-प्रसन्न करने का दम क्या जुगनू भर सकता है ? जिन्हें स्वयं वेद, शेषनाम, लक्ष्मी, शुक्र-सनकादि, एवं शम्भु भी रिशाने का दम नहीं भरते, जन्हें संसारी लोग क्या अपने भजन-पूजन-यजन-स्तवन ज्ञान आदि से रिशा सकते हैं।

मूझे रिशाना हो ठी—'मैं बनो हूँ' 'मैं पण्डित हूँ' 'मैं उच्चकुलीन हूँ' 'मैं तपस्वी-ज्ञानी हूँ'—ऐसे सभी देहाभिमान, उठार कर मुझे दे दो। अपने गुणों का राई नोन उस पर कार दो। [इसी के लिये सिखाया गया था—'सर्वं खलु इदं ब्रह्म।' "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः" "अहं ब्रह्मास्मि" "तत् त्वम् असि" इसे स्मरण रख, ताकि हूँभारा परस्पर व्यवहार ब्रह्मोचित हो। सच्चीर्ण होने की वृत्ति न आवे और अल्प-तुच्छ में सुख न धारें—

"यो वै श्रुमा तत् सुखम्। पाल्ये सुखमस्ति।"

आज तो उल्टी ही शिक्षा दी जाती है—तू यह शरीर है, इसके सुख-साधन तुझे जुटाने हैं, इसके लिये चाहे जैसे उपाय लगा। झूठ बोल, बन पड़े तो दूसरे का छोन ले, नहीं तो भोख मांग ले, किसी भी तरह अपने आस-पास वालों से अधिक सुख सामग्री एवं सत्ता-प्रतिष्ठा-रोब-शाम बढ़ा ले ! किसी की परवाह न कर !.....मुफ्त का खाने-हूँघिसाने में कुछलता धानने का बीभत्स मनोविज्ञान पैदा कर रहे हैं; लुटेरे-लफंगे-भ्रिखारी-उबकके होने के संस्कार दे रहे हैं नई पीढ़ियों को ! नवे विकासशील देशों को जनता में यह चैतन्यिक बीमारी घर कर गयी है।

और यहाँ वासुदेव कह रहे हैं कि—अपने सभी गुणों व दोषों को भी मुझ पर न्योछावर करके फेंक दो ! [बड़े चतुर 'लाला' है, जरा-जरा सौ चोख भाग कर आपको 'कहीं का नहीं' रहने देंगे, 'कुछ भी' नहीं रहने देंगे। जब तक आप सर्वथा निःशेष न हो जायें, वे प्रसन्न नहीं होंगे।

(Unless you are reduced to nobod-yness and nothingness. He would not be pleased !) केवल गुण देने से भी उनका खो नहीं भरता; क्योंकि गुण न हो तो मनुष्य अपने दोषों का ही अभिमान फुलाता है, दोषों को गाने-राने में हो अहं को बनाये रखता है। इसलिये ये पक्षके परोपकारी दोषों का भी अभिमान छूटाने पर उतार है। (इसीलिये विनोबाजी कहते थे अपने भी दोषों चिन्तन न करो। अपने दोषों का अहंकार गुणों के अहंकार से भी ज्यादा गहरा व पक्का होता है जो छूटना बहुत कठिन हो जाता है।) गोपियों के बरत हरण किये थे न। बैसे आपके सभी आवरणों का हरण करके नानावृत्त चेतना को स्तोकार करेंगे। वह है नमन भाव। वह है संन्यास !

चित्तवे भी प्रकार की सम्पत्ति है तुम्हारे पास—  
शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक,—उसका मद छोड़ दो।

मुझे चाहिये निस्सीम भाव का उल्लास।  
[प्रभु के लिए उमड़ता हुआ उछलता हुआ प्यार हो, 'क्या कहे-क्या न कहे' का वेग धमता न हो।

उसका एक उल्लास है; निस्सीम भाव में कोई हिंसाब नहीं होता, जोड़-तोड़ नहीं होता] जब अन्तःकरण की सभी बिल्ली हुई वृत्तियाँ एक जगह आकर एक-रूप हो जाती हैं उसका एक उल्लास होता है। आत्मा का सहज स्वभाव है—कैवल्य दशा, निर्ग्रन्थ दशा, जीवन्मुक्त स्थितप्रज्ञ की ब्राह्मी स्थिति—जो भी नाम दें उस आश्रय को, उसमें आत्मा का वह सहज उल्लास प्रकट रहता है, प्रास परिस्थिति जो भी सुख-दुःख-रोग-शोक या हर्षकारक घटनामें सामने लाये—चेतना के उल्लास में कोई कमी या बढ़ती नहीं आती।

आत्मस्थित व्यक्ति के हृदय में सहज उल्लास रहता है, तत्त्वज्ञानकृत प्रयास नहीं। यह आत्मा का उल्लास चरम गति है जीवन की। आत्मा की रीतक है वह।

“आनन्द मनाओ हर पल में,  
आनन्द तुम्हारा नूर सदा,  
जिस हालत में राखे भगवन्,  
अलमस्त रहो भरपूर सदा।”

ऐसे निस्सीम भाव के उल्लास में भक्त कोई फल लाता है मेरे लिये, तो वह मुझ तक पहुँचे इतना धारज मुझे नहीं रहता, मैं स्वयं ही दोनों हाथ फैलाये सामने जाता हूँ कि लाओ ! उसका देने का कर्म होने से पहले मैं स्वयं माँग लेता हूँ। फिर उस फल का कोई छिलका-गुठली भी निकालता नहीं, पुरा ही पा लेता हूँ वह इतना रसमय लगता है मुझे ! मैं पगल हूँ अपन भक्तों के प्रति !

“मुझे तो भक्तों का है व्यसन !  
भक्तों का मैं करता ध्यान ।  
वे कान्ता मैं कलभ जान !  
घनचरं तु !”

[एक बार उद्धव द्वारिका पहुँचे श्रीकृष्णनिवास पर, तो मालूम पड़ा वे पूजाघर में हैं। इतने में श्रीकृष्ण वहाँ आ गये। उद्धव ने पूछा आप भला किसको पूजा करते हैं ? वे बाले “तुम्हारा ही ध्यान कर रहा था।”]

अरे फल की क्या बात है, कोई एक पुष्प ही लाकर दे दे मुझे ! वह सूँघने की वस्तु है, पर मुझे वह इतना प्यारा लगता है कि मुझ में हो ले लेता हूँ। पुष्प हो तो यह भी आवश्यक नहीं, किसी वृक्ष की कोई एक पत्ती ही लाकर मुझे दे दे, वह भी मले हूरी न हो, या शुष्क हो पण हो तो वह भी मुझे पंच-पक्वाओं से अधिक प्रिय लगता है। शुष्क पर्ण भी किसी को म मिले तो अल तो दुर्लभ नहीं, कहीं से अञ्जलि भर जल ही लाकर दे दें, पर उसमें हृदय का असीम भाव भरा हो तो वही मेरे लिए अमृत का सिन्धु बन जाता है। मैं भावप्राही हूँ, चित्तप्राही हूँ; यह नैवेद्य का उपचार तो भक्त के सन्तोष के लिये है, मेरे लिए तो केवल उसका भाव ही पर्याप्त है। भाव की अलपण्डता, चित्त की समग्रता मुझे अर्पण करो, उसी को मुझे भुख रहती है।

(ओवी ३७८-९६)

अपने चित्त की समग्रता को अञ्जलि में, दशेन्द्रियों की वृत्तियाँ समेट कर मेरा भक्त मुझे जो भी अर्पण करे, उससे मैं सन्तुष्ट होता हूँ। अच्छे से अच्छी वस्तु देते समय भी यदि उस कर्म में सम्पूर्ण चित्त समग्र भाव से उपस्थित न हो तो मैं सन्तुष्ट नहीं होता क्योंकि वह भक्ति नहीं है-।

[जिस वैष्णव पद्धति का आधिष्ठाक श्री ज्ञानेश्वर महाराज के द्वारा हुआ है, उसमें वैशिष्ट्य है। महाराष्ट्र में भक्ति अपने जीवन जीने के कर्म से अलग नहीं की जाती। सफाई करने का काम ही, रसोई करनी हो, नतन मलने हो, खेती करनी हो, बगोचे का काम हो, कुम्हार-लोहार-बढ़ई का काम हो, जो कुछ भी आजीविका हो, वह सब कर्म भक्तिमय हो सकते हैं। केवल बुद्धि से परमात्मा को समझ लिया और दो घड़ी मन्दिर में बैठ कर जप-कीर्तन कर लिया, बाकी २२ घण्टे व्यर्थहार के पुष्पक मूल्यों के अनुसार जीते चले गये—यह भक्ति नहीं। परमात्मा का भक्त हो तो वह क्या कालाबाजारी, मुषत का घन हथियाना, गरीबों का धोषण करना, रिश्वत लेकर किसी का पक्षपात व किसी पर अत्याय करना, दूसरों को हिंसा के लिये प्रत्यक्ष-परोक्ष प्रयत्न

करना, ऐसे हिंसक लोगों को प्रश्रय देना, अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये उन्हें नियुक्त करना, शास्त्राचारों के गवापार करना, पशु-पक्षी-मछली आदि की हिंसा के उद्योग चलाना—इत्यादि कर सकेगा ? जहाँ जीवन विभाजित हो जाता है, भक्ति केवल चढ़ी-दो-चढ़ी का मनोरञ्जन था बके-द्वारे मन को विश्राम देने की एक प्रक्रिया-मात्र हो जाती है—वह मनुष्य क्या धर्म-अध्यात्म-भक्ति का पथिक (उक्त प्रकार का जीवन बनाये रखते हुए) कहला सकेगा ?

वह भक्ति का स्वांग होगा, भक्ति नहीं। भक्ति जीवन जीवन जीने की शैली है। भक्ति में और ज्ञान में कोई फर्क नहीं है। आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान वही सच्चा है जिसकी परिणति भक्ति में होती है। ब्रह्मज्ञान को प्रतिफल में जीने की शैली का नाम भक्ति है जो। वह भक्ति कच्ची है जिसका अधिष्ठान आत्मज्ञान नहीं। हृदयप्रधान व्यक्ति भक्तिपथ (ब्रह्म) को भगवान् यानी सगुण साकार रूप में विद्यमान परम सत्ता-ज्ञान-आनन्द के रूप में देखना, उनके नाम-गुण-लीला का गान करना, भजन सङ्कीर्तन) को अपना सम्पूर्ण बन्धु बनाता है। बुद्धिप्रधान व्यक्ति अनेकता में अनुस्यूत एकता की पकड़ता है, उत्सव को उत्सव रूप में समझता है, उसकी भी परिणति मृतमात्र के प्रति विनम्रता, कथना, प्रेम, सत्यानिष्ठा रूप भक्ति में ही होती है। भक्ति-रूप होकर ही ज्ञान कृतार्थ होता है।

[यह सब निकल रहा है उस जलबिन्दु में व्यक्त होते हुए भक्तिभाव में से। जो मत्क प्रभु की ही अपना सर्वस्व देखते हैं, उनके नाम से युक्त विषय को भी अमृत ही मानते हैं। ५०० वर्ष पहले का मोरार का दृष्टान्त तो सुप्रसिद्ध है ही कि चरणामृत कह कर भेजा हुआ तीर्थ विषय का प्याला मोरार चरणामृत-भाव से ही पी गयी थी—यह बता दिये जाने पर भी कि वह विषय है। प्रभु का नाम जो जुड़ चुका था उसके साथ !

अभी हमारे जीवन में ही सन्त तुकड़ोजी महाराज की घटना आयी। विदर्भ में उन्हें 'देवबाबा' कहा जाता था। वे अपनी बाल्यावस्था में (आठ वर्ष के थे तभी) हमारे नानाजी के पास आये, रहे। नानाजी का बहुत प्यार था उन पर। वहीं अनुभवामृत अमंगलावली—उन्होंने लिखी थी। "उनकी आयु चौबह वर्ष की हुई तब वे चाँदा जिले के घने जङ्गलों में रहते थे। आठ दिन में एक बार गाँव-करने में आते, शिक्षा माँग कर ले जाते। बड़ी—ज्वार की मोटी रोटी आठ दिन तक, गुफा में रख कर पानी में भिगो कर खा लेते।

एक दिन वे गाँव में शिक्षा लेने गये तो एक पटेल के घर पहुँचे। उस पटेल का एक ही बेटा था, वह बहुत बीमार था, महीनों से उपचार चल रहे थे कोई सुधार नहीं था। किसी ने पटेल को कहा कि इसी के उम्र के किसी स्वस्थ लड़के की बलि दे दोगे तो तुम्हारा बेटा बच जायेगा। पटेल बड़े घनी व्यक्ति थे। (बाद

सन्त-ज्ञानेश्वर-प्रणीत भक्ति में भावनाओं की आतिशबाजी नहीं, कल्पनाविलास नहीं, वे प्रत्यक्ष जीवन जीने के कर्म को लेते हैं। प्रभु का व अपना स्वरूप समझने से कर्म करने की पद्धति में कैसे आमुलाग्र परिवर्तन आ जाता है—यह बताते हैं।]

प्रभु कहते हैं कि जिस कर्म में चित्त की समग्रता एवं हृदय के असौम्य भाव का पुट न हो वह अतीव वैभव-भरा होने पर भी मेरे काम का नहीं और सम्बन्धभाव से सुवासित एक सूखा पत्ता या अञ्जलि भर जल भी मुझे पञ्चपक्वान्न एवं अमृततागर जैसा प्रिय लगता है। क्योंकि उसमें भक्त का सर्वस्व निहित है। [यह जो भक्ति को चावी महाराज हमें दे रहे हैं, इसे पकड़ लेना चाहिये। उन्होंने कहा है कि वह शान्दिकज्ञान व्यर्थ है, वह क्रिया-प्रक्रिया व्यर्थ है जो जीवन की समग्रता को सङ्गठित करे। कोई भी जीवनरतिक व्यक्तिक हर्मशा इस ढंग से जीना चाहेगा कि जीवन की समग्रता को बीच न आये।]

मत्क द्वारा दिये गये उदकलेशा-(जल-बिन्दु) का मेरे लिये वही महत्त्व है मानो उन्होंने वैकुण्ठ जैसा समृद्ध विशाल मन्दिर बनवाया हो; कौस्तुभ से भी अधिक निर्मल-उज्ज्वल अलङ्कार बनवा दिये, अनेक क्षौरादि तुल्य शय्याओं बना दीं, कर्पूर-चन्दन-अण्डा आदि सुगन्धों के सुमेध सङ्ग कर दिये हों।

में वे ही सन्त तुकुड़ोजी महाराज के मोक्षरी-आश्रम के व्यवस्थापक बने। इस दिन महाराज पहली ही बार पटेल के द्वार पर आये थे भिक्षा माँगने। पटेल ने देखा कि ठीक उनके बेटे जितनी ही उम्र का हृष्ट-मुष्ट लड़का है। खुद बाहर आकर भिक्षा की रोटी दी, साथ में ग्लास भर दूध भी दिया और कहा कि क्या रुखी-सूखी रोटी खाओगे। यह दूध पी लो। महाराज हँसे और बोले—“आपने दूध दिया है, पीने को कहा है इसलिए प्रभु का प्रसाद समझ कर पी जाऊँगा। यह दूध आपने क्यों दिया है वह जानता हूँ, किन्तु आपकी इच्छा पूरी नहीं होगी।” इतना कह कर वहाँ के वहाँ वह दूध पी गये और वेग से वीढ़ें जंगल की ओर। खूब लम्बा ऊँचा कद था; चौकते रहे; उस शहर से बाहर आठ मील पर एक पुराना शिवालय था, वहाँ आकर शिवालङ्क को बाढ़ों में भर कर उन्हीं पर मस्तक रख कर पड़े रहे। नचपन से एक ही श्रद्धा थी कि शिव नाम एवं रामनाम में विव-हरण को शक्ति है; इसमें कभी चिन्त में दुविधा\* नहीं आती थी कि शिव बड़ा या शिवनाम बड़ा; ‘ॐ नमः शिवाय’ आप करते-करते वहाँ पड़े रहे।

इधर पटेल साहब का पुत्र गुजर गया। उधर महाराज भागे थे कि इधर घर में इसके प्राण गये। तब पटेल को पश्चात्ताप हुआ कि इसे तो मरना ही था रोग के कारण; वह गया, लेकिन मैंने उस लड़के की भी जान ले ली जो खंजड़ी बजाता भजन गाता हुआ आया था। बड़ा भारी पाप हुआ। पुत्र का अन्तिम संस्कार करने के बाद पटेल साहब वैचैन होकर मन्दिरों-घटों में भाग कर देखने-सोचने लगे कि कहीं वह लड़का मिल जाय। १९४४ पछते बाद इस शिवालय में पटेल पहुँचे तो देखा—ये बड़े प्यार से भजन गा रहे थे।

ऐसे ही भाव-भजन से सर्प का शिव उतरते हुए भी मैंने देखा है एक लोदीखेड़ के बाबाजी महाराज के घरीर में से। जबलपुर में उनके दवाँन हुए थे। मैं कलियुग में से अन्तर्विषयविद्यालयीय वाय-विद्या-प्रतियोगिता में जबलपुर गयी थी। जबलपुर-महाविद्यालय के प्रधानाचार्य के घर पर हम छात्राओं को ठहराया गया था। वे बाबाजी महाराज उनके गुफदेव थे। एक दिन वे घर के बगीचे में घूम रहे थे, हम लोग भी उस समय वहाँ थे, तब देखा कि एक बड़े विषघर सर्प ने आकर उन्हें दंश किया। वे हँसकर बोले—“अच्छा! यह प्यार करने आया था! हम इसके प्यार का उपचार जानते हैं, चलो कूँए पर चलें।” प्रिंसिपल साहब, मैं तथा और भी कुछ छात्र-छात्राएँ साथ थे। उन्हींने कहा कि “कूँए से लगातार पानी खींचते चलो और ‘ॐ नमो भगवते नारायणाय’ ‘ॐ नमो भगवते वासुदेवाय’ कहते हुए बाल्टी भर-भर कर पानी भेरे सिर पर डालते रहो। जब तक मैं मना न करूँ!”—४५ मिनट तक हम उसी प्रकार मन्त्र बोल्ते हुए पानी उनके सिर पर डालते रहे, दंश बाला पाँव लगातार जो फूलता जा रहा था, ४५ मिनट बाद अपने आप उसकी सूजन उतरने लगी। हमने आँखों देखा यह। इसका विज्ञान मैं नहीं जानती, किन्तु श्रद्धा का परिणाम देखा।

“Faith can move mountains” (श्रद्धा पहाड़ को भी हिला सकती है) इसके रूप मानने को ज़रूरत नहीं, वह जीवन का रसायन (Alchemy of life) है। मैं विस्वासपरायणता (Credulity) की बात नहीं कर रही हूँ, श्रद्धा की बात कहती हूँ।

यदि मनुष्य में श्रद्धा हो, उसके प्रेरित होकर वह कोई भी काम संप्रदाय से करता है तो भगवान् सन्तुष्ट-परितुष्ट होते हैं। कहते हैं—]

उस भक्त ने भावभरा जलबिन्दु भी दिया हो तो उससे मुझे सभी प्रकार का आनन्द (परितोष) मिलता है, (ऐसा प्रतीत होता है कि उसने मेरे लिये कल्पवृक्ष के उद्यान बना दिये, कामधेनु के गोचन-समुदाय दिए हैं; गरुड़ जैसा वाहन दिया,

इतना ही नहीं अमृत से भी अधिक सुरस श्वभञ्जन निवेदित किए हैं—ऐसा मैं मानता हूँ।

[इस वर्णन में महत्त्व के घन्ट हैं—भक्त, भक्ति एवं निस्सीम समग्र अनन्य भाव। दुविधामुक्त, संशय-मुक्त भाव।] (जोषी ३८६-९३)

\*. हमारी दरवादी करती है दुविधा याने संशय, उससे भाव की उत्कटता अनन्यता नहीं रहती।



अरे अर्जुन ! यह सब भला तुमसे कहने की क्या आवश्यकता है ? क्या तुमने अपनी आँसों से नहीं देखा ? कि मैंने सुदामा को लार्ड हुयी चिबड़े या तन्दुल को पोटीली (फटे चिबड़े की) स्वयं छीन कर वे तन्दुल मुट्टी भर-भर कर नहीं खाये थे ? क्योंकि उस पायिब पदार्थ के निमित्त से मैं वस्तुतः सुदामा के भाव का सेवन कर रहा था। असली वस्तु थी उसका प्यार ! वह तो कुछ भी माँग नहीं रहा था मले ही पत्तो ने खूब सिखा-पढ़ा कर भेजा था कि इतने महान् एवं वैभवशाली तुम्हारे मित्र है तो आओ इस घर के लिये कुछ माँग कर लाओ ताकि बच्चे व हम भूख व अतिदरिद्रता से राग पा सकें। लेकिन सुदामा द्वारिका में आये तो जो अद्रस्त्याशित स्वागठ हुआ,—‘सुदामा आया है’ इतना सुनते ही बासुदेव भी सभा में से उठ कर दीहते बाहर आये, गले से लगा लिया, अन्तःपुर में ले गये, रुमिणोजो सहित स्वयं अपने हाथों, प्रायः नयनजल से ही पाँव पछारे, पोताम्बर से पोंछे। अपने हाथ बँटाया, गुरुकुल के दिनों की मंत्री याद की ‘‘‘आनन्दविभोर सुदामा को कुछ माँगने की याद हो न रही।

मैं तो बस केवल ‘भक्ति’ ही जानता हूँ। उसमें फिर बड़ा-छोटा, ब्राह्मण-शूद्र, विद्वान्-भूखें, पनी-दरिद्र कुछ नहीं जानता। मैं तो केवल ‘भक्त’ को देखता हूँ, ‘भक्ति’ पहचानता हूँ, ‘भाव’ का सेवन करता हूँ। और कुछ भी नहीं जानता। मेरा आदिथ्य करना चाहो, तो केवल अपना भाव मुझे दे दो पार्थ !

[ भक्ति का विज्ञान भारतीय संस्कृति की अमूर्ती विशेषता है। भक्ति का आशय बाह्य उपचारों में नहीं है। वे तो केवल आत्मसन्तोष के लिये वा इन्द्रिय-मन-बुद्धि को सदाचार सिखाने के लिये, चित्त को स्थिर बनाने के लिये, मानवाओं के उदात्तीकरण के लिये, जिसको जायसम्पत्ता प्रतीत हो वह इन उपचारों को मदद ले, उसका निषेध नहीं है; किन्तु वह धर्म नहीं है वह समझे रहे।

‘‘मिटे कर्ता तो छूटे कर्म।

अर्था फहे यहि धर्म का धर्म।।’

कर्त्ताभाव छूट जाय कि ‘मैं यह प्रभु को निवेदित कर रहा हूँ’, तभी भक्ति में लिप्यवत-लुप्त-भङ्गा है। कर्त्ताभाव छूट जाय तो ज्ञान संप्रह का विषय नहीं बनता, उसमें से बोध फलता है, कर्त्ताभाव छूटे तो तप में से अहङ्कार नहीं फूटता, विनम्रता निष्पन्न होती है।

भक्ति में भावजगत्-निर्माण होता है, भावकाया को जन्म देकर उसका संगोपन (पालन-पोषण) करना होता है। वह कोई गीण वस्तु नहीं। वह भी एक मार्ग है। किन्तु भक्ति हो—नरसी भगत की ‘अखिल ब्रह्माण्ड में एक तू ओहरि!’ देखने की-दृष्टि; श्रीज्ञानेश्वर महाराज की बताई हुई निस्सीम भावा-पण व सप्रम स्वीकार की दशा हो। ‘‘मेरे तो गिरिधर गोपाल दूसरो न कोई।’’ ऐसी मीरा की अनम्यता हो!

प्रभु कहते हैं मैं एक ही आदिथ्य स्वीकार कर सकता हूँ—भाव का। इस ‘भाव’ का दुनिया की किसी भी भाषा में अनुवाद नहीं हो सकता। भाव-बन्धिर का सिहर है भावातीत प्रेम। प्रभु या सद्गुरु का स्वरूप कदा यदा ‘भावातीतम्’। भाव से रहित हों तो भावातीत का बोध नहीं हो सकता।

यहाँ विवेचन का अवसर नहीं किन्तु भक्ति के विज्ञान में, भक्ति के शास्त्र में—‘भाव का जन्म, भाव का परिपोष, इसके प्रफुल्लता—परिवर्णता में से भावातीत-प्रेम का उदय’—यह अध्ययन-चिन्तन का महत्त्वपूर्ण विषय है। पिछले शतक में इस विषय के दो अविकारो भ्यक्ति हो गये इस देव में—(१) श्रीठाकुर रामकृष्ण परमहंस, उनके जीवन-चरित का अध्ययन करे। (२) योगी श्रीकृष्णप्रेम स्वामी विवेकानन्द, ने कहा—

‘‘स्थापकाय च वर्धस्य, सर्व-धर्म-स्वरूपिणे।  
अवतारखरिछाय रामकृष्णाय ते नमः।।’’  
इसमें एक शब्द भी अतिशयोक्ति नहीं है।

इतके जीवन में देखा जा सकता है भाव का स्वरूप ! भक्ति का धर्म ! भक्ति जोते हुए, माध में रहते हुए ज्ञान को जींच नहीं आती। ज्ञान से भक्ति भिदती नहीं, ऐसा ज्ञान-भक्ति का समन्वय वं जो गये है।

दूसरे—श्रीकृष्णप्रेम रहते थे अश्वोहा के पास भोरतोला स्थान में "उत्तरवृन्दावन" में—पूर्वाश्रम में इङ्गलंड के रोनाल्ड निक्सन ! कैसे प्रभु उन्हें खींच कर भारत ले आये, यहाँ लखनऊ विश्वविद्यालय में प्राध्यापक बने, फिर 'यशोदामाई' के 'गोपाल' उन्हीं के शिष्य होकर उत्तरवृन्दावन—आश्रम में रहे ।

इन दोनों महामानवों के जीवन में देखा जा सकता है—भावकाया का निर्माण, जतन; तब समझ में आयेगा कि 'भाव' कैसा वैज्ञानिक तथ्य है ।

'भाव' अतीव सुकोमल पुष्प है ।

इसलिये प्रभु कहते हैं—हम प्रेमी हैं, कायल है—भाव के !

हम तो पाहुने हैं भाव के ! बाकी जो पत्र-पुष्प-फल अर्पण किये जाते हैं वह तो मेरा भजन करने के बढ़ाने मात्र हैं । वास्तव में तो हमारा सम्पर्क-बिन्दु या मिलन-स्थल है केवल निष्कल भक्ति-तत्त्व । पत्र-पुष्प-फल-जल-वैकुण्ठादि 'मिष' मात्र हैं ।

कहा है न !

"नाहं वसामि वैकुण्ठे, योगिनां हृदये न वै ।  
भद्रभक्ता यत्र गायन्ति, तत्र तिष्ठामि नारद !"

'अकल'—'निष्कल'—'सकल' नाथपत्न्य के धारि-भाषिक शब्द हैं । जहाँ भक्ति प्रभु को विशेष प्रिय है । सभी अभिव्यक्तियाँ निःशेष-शांत हो यथो है, केवल भक्ति का तत्त्व कायम है, यही नाथपंथ का उद्देश्य है । भक्ति में जो जो अभिव्यक्त होने के लिये आते हैं, आतुर हैं उसकी बात यहाँ नहीं है; केवल वह भाव शेष रहता है—'प्रभु ! मुझे मेरे, मैं तेरा !' ]

इसलिये हे अर्जुन ! अवधारण करो ! समग्र अवधान-पूर्वक सुनते हुए धारण करो ! यह न समझो कि अधिकाधिक ज्ञान (वसनायि का) इच्छा करके तुम बुद्धि को स्थिर कर सकोगे ! वह भ्रम है ।

[ यहीं कठिनाई है आधुनिक मनुष्य की ! हृदय में कभी भाव उछलता है किन्तु बुद्धि मानती नहीं, वह तर्क, सन्देह संशय पैदा करती है । बुद्धि चञ्चल है, वह भाव को टिकने नहीं देती । बाह्य शाब्दिक-ज्ञान जितना बढ़ेगा उतना मूल सत्य-तत्त्व से

अन्तराय बढ़ सकता है । जानने की क्रिया समझने के उदय में अन्तराय बनती है । उसी सन्दर्भ में कह रहे हैं—] तू बुद्धि को जीवने, एकाग्र बनाने के जिसने उपाय करेगा वह तेरा लक्ष्य सिद्ध नहीं होने देगे । ज्ञान से अज्ञान का निराकरण होगा मोह का नहीं, ज्ञान से क्रोधदि का धामन नहीं होगा ।

इसलिये अन्य उपायों का पीछा छोड़कर तू इतना ही कर, कि अपने मनोमन्दिर में मुझे बैठा दे । फिर मुझे छोड़ नहीं, तू मेरे पास बैठा रह ! फिर बुद्धि कोई-विषय नहीं सड़ा कर सकेगी ।

[ अपने निज के पास बैठा नहीं जाता मनुष्य से; विषयों के पास २४ घण्टे बैठ सकता है; अर्जुन ने भी कह दिया था कि 'हे कृष्ण मन बहुत चञ्चल है !' इसलिये कहते हैं कि तू अपने निरवस्थक के पास—अपने आप में स्थिर—बैठ नहीं सकता, इसलिये यही कर कि अपने मन में मुझे बैठा दे और तू वहाँ से नहीं मत जा ! मेरे पास तू बैठ जा, मेरा ही सङ्ग कर ! फिर मैं देख लूँगा बुद्धि को ! ]

यह न करेगा और केवल ज्ञान-रूप-कर्म आदि के रास्ते चलेगा तो तुझे कठिनाई बहुत होगी !

"क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तसकचेतसाम् ।  
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥"

बुद्धि को सहजरीति से पार करने, लांघ जाने का यही उपाय है कि मन में मुझे बैठा दे और फिर कभी पलमर भी छोड़ो नहीं, भूलो नहीं मुझे ! तभी एक ही छलांग में तुम बुद्धि का लांघकर पार जा सकोगे । बुद्धि की तर्क-कुतर्क की माया से बच जाओगे ।

[ मैं बचपन में ७ वर्ष की आयु में ज्ञानेश्वरी लेकर बैठी । पढ़ती गई—पढ़ती रही । मन में प्रतिज्ञा थी कि किसी की टीकाओं द्वारा अर्थ नहीं समझना है, स्वयं से शब्द मेरे लिये जो अर्थ प्रकट करें वही समझना है ।

लगातार १२ वर्ष तक पण्डरपुर की 'वारी'—आषाढो एकादशी एवं कार्तिकी एकादशी (देवरायनी देवोत्थान) की यात्रा—की है । पण्डरपुर, आठ्ठनी,

में बैठकर ज्ञानेश्वरी-पारायण करती, कभी लोनावला में एकान्त में परायण करती। एक निम्न यथा कि ज्ञानेश्वर महाराज ! मैं टीका की मदद नहीं लूंगी।

अतः मेरे अपने समझे हुए अर्थ ही निवेष्टित करती हूँ !]

सार्वभौम सत्ता के साथ भी सम्बन्ध बाँधने की अभिलाषा हृदय में रहती है; वह सम्बन्ध मन द्वारा ही नहीं शक्यता क्योंकि वहाँ अहङ्कार का राज्य है, वही कर्ता-पठार्थ-भोक्ता बना बैठा है। वह तो सार्वभौम सत्ता के ज्ञान को भी अपनी अनुसूचित-सम्पत्ति (स्वामित्व की वस्तु) बनाने जायेगा। वह अहं 'मम' के घेरे बालेगा। इसलिए अपने सर्वाङ्ग में मेरे प्रति प्यार होने दो !

एक बार प्रभु के प्रति प्यार हो जाय तो अहं के 'मम'—पाशों की कुछ न चलेगी !

परमात्मा किसी की 'कमाई' नहीं बनते, प्यार से भले दास भी बन जायें ! लेकिन 'मैंने प्रभु के दशन किये, साक्षात्कार किया'—यह शब्द वे नहीं सहते। पर अपने भक्त-सुहृद्-सखा के प्रति कहते हैं—मन मन्दिर में मुझे बैठा ले ! अर्थात् बुद्धि द्वारा जानो गई सत्ता का हृदय में—चित्त में स्वीकार हो जाय !

समर्पित के द्वारा स्वीकार का नाम है प्यार ! शून्य-सहित स्वीकार तो सौदा है। वह भक्ति नहीं !

प्रभु के विश्व में हुए ज्ञान का समर्पण चित्त से स्वीकार होना—यही भक्ति है।

"मुझे मन-मन्दिर में बैठा ले न !"—प्रभु द्वारा भक्त के प्रति यह कहलाने में अद्वैत भयुर हुआ है।]

मन में मेरा ही आसन जमाया होमा तब जो कुछ भी व्यापार (कर्म) तु करेगा; इन्द्रियों से जो भी भोग भोगेगा, जो भी आहार लेगा, या उप-दान-यज्ञादि करेगा—तब तू यही कहेगा कि यह सब प्रभु करवा रहे है। 'मैं कर रहा हूँ' यह वृत्ति नहीं

उठेगी। कर्त्ताभाव का कल्मष तेरी चेतना को छूणा नहीं। कर्म तुझे बाँधेगा नहीं।

तू धान देगा, सेवकों-सहायकों को वेतन या आजीविका देगा, उप-प्रत-साधन करेगा—तेरे स्वभाव व संस्कारों के कारण तेरे तन-मन-प्राणों द्वारा जो-जो भी क्रिया निपजोगी, इन्द्रियों द्वारा क्रियाओं की सरिता बहती रहेगी अर्जुन ! उनमें 'मैं कर रहा हूँ'—यह भाव तेरे चित्त में नहीं आयेगा। बाँधता तो बंधी है न ! कर्म तो बाँधते नहीं। और कर्म किये बिना तेरा छुटकारा नहीं है।

"कुर्वन् एवैह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।  
एवं लपि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते तरे ॥"  
(ईश० २)

कर्म किये बिना तो तू रह नहीं सकेगा !

न हि कश्चित् सगमपि जातु, तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवधः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥

(गी० ३।५)

इन्द्रियों में भरे संस्कार ही प्रारब्ध है, वे कुछ न कुछ किये बिना रह नहीं सकतीं। संस्कार व स्वभाव के अनुसार इन्द्रियाँ प्रवृत्त होंगी और तुझ से क्रियाकलाप करायेंगी वह क्रियाकलाप तू सहजता से होवे दे। बस मनमें यह न सोचना कि "मैं कर रहा हूँ !"

तब, वे इन्द्रियों से निपजते कर्म प्रकालित होंगे, पावन होंगे।

"प्रभु हृदय में बैठे हैं। वे ही सब करा रहे हैं"—ऐसे निरहङ्कारिता से प्रकालित कर्म होगा।]

इस तरह (मेरे प्रेम से भूले हुए—) सभी कर्म मुझे ही अर्पण कर देना ! मैं बैठा ही हूँ तेरा सब-कुछ लेने के लिये ! कर्म भी मेरे हाथ में दे देना ! क्योंकि किसी भी (शुभ-अशुभ-पुण्य-पाप) कर्म का फल यदि तू लेगा तो उसके कारण तुझे छिद्र जन्म लेना पड़ेगा; तेरा भय-भवात्तर (पुनरपि जनन....) का घन्टा टूटेगा नहीं !

मैं तो चाहता हूँ कि तू सदा के लिये मुझ में मिल जाय ! मैं तुझ में बना रहूँ। यह हो नहीं

पांता जब तक तुझ में कर्ता-भोक्ता भाव रहे !  
( 'मैं कर रहा हूँ ' 'कर्म का फल मुझे मिले' )

[पहले भी कह चुके हैं—

'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।'

उसी वस्तु को मयूर बना कर कह रहे हैं—] अपने सभी कर्म एवं उनके फलों का दान तू मेरे हाथों में कर दे न ! उन्हें अपने पास रखेगा तो उनमें से वासना अंकुरित होगी [कि "ऐसे कर्म मेरे द्वारा फिर से हों ! ऐसी समाजसेवा हो ! ऐसा त्याग हो, दान हो ! दूसरों का उद्वार कर सकूँ !" ... इत्यादि ।] जिस अहङ्कार से छुड़ाने के लिए तेरे मन-मनिर में आकर मैं बैठना चाहता हूँ, वही अहङ्कार वासना-बीज में बैठा रहेगा ।

इसलिए स्वभाव-प्राप्त कर्म तू जीवन भर करता चल ! पर उन्हें प्रेम में घो-घो कर मुझे देना चल ! तब कोई चिन्ता नहीं ।

[इसी कारण हम न्यूजीलैंडर हैं शानेवरमहाराज पर ! कि वे प्रेम की भाषा में—द्वैत का सम्पूर्ण स्वीकार करते हुए अद्वैत को जोने की युक्तियाँ बताते हुए चले जाते हैं । अध्यात्म के अनेकों ग्रन्थ देखे, किन्तु इस उम्र तक दूसरा ऐसा ग्रन्थ देखने में नहीं आया जिसमें सम्पूर्ण जीवन का स्वीकार रहते हुए आस्था का अधिष्ठान छूटता न हो ।]

जैसे अग्निकुण्ड में डाला हुआ बीज कभी अंकुरित नहीं हो सकता, वैसे यदि तू सभी कर्म

[प्रसिद्ध है श्री गिरोशधोष की घटना । बड़े विद्वन्म एवं संसारी दृष्टि से रसिक साहित्यकार एवं नाटककार थे । कोई ऐसा ग्यस्तन नहीं जिसका जन्मी तरङ्ग रच-पच कर सेवन उन्हावे न किया हो । उनके मन में आया कि दक्षिण का यह निरक्षर भट्टाचार्य बड़ा अपने जाल में सब को फँसा लेता है, जो जाता है उस पर अपनी मोहिनी डाल देता है, शिष्य बना लेता है । मुझे शिष्य बनाये तो देखू ।

दक्षिणेश्वर गये गिरोश धोष । रामकृष्णदेव बैठे थे । उन्हें प्रणाम करके कहा— "महाराज आपकी प्रशंसा सुनी है, आप मुझे शिष्य बनायेंगे ?" ठाकुर बोले "हाँ !" कुछ नहीं पूछा कहाँ से आये ? क्या करते हो ? सब बना लिया शिष्य । गिरोश बाबू ने मन में मुस्कुराते हुए पूछा "क्या करना होगा महाराज !" ने बोले "कुछ भी नहीं ।" गिरोशबाबू ने कहा— "आपको मेरा परिचय नहीं है—मैं शराब पीता हूँ ।" ठाकुर बोले "भले पियो !", फिर कहा— "मैं वेश्यागमन करता हूँ !" ठाकुर बोले "कोई बात नहीं !" और कहा— "किसी भी तरह मेरा जीवन शुद्ध नहीं" ठाकुर बोले— "कोई हथं नहीं !" अब गिरोशबाबू ने चकित होकर पूछा— "मैं क्या करूँ ?" रामकृष्णदेव बोले— "कुछ नहीं करना है, जैसा तुम्हारा जीवन है वैसा चलने दो ।"

और फल मेरे हाथ में दे देगा तो उनमें से फिर वासना का अंकुर पैदा नहीं होगा । वे धुभ-अधुभ कर्म फिर कभी अंकुरित-फलित नहीं होंगे ।

'मैंने कर्म किया है, इसका फल मुझे मिलना चाहिये'—यह वासना यदि तू रखेगा—कर्म रूप से या कर्ताभाव से तू खोब रहेगा—कर्म से उपजने वाले सुख-दुःख को भोगने के लिए मुझ से अलग रहेगा; तो वह मुझे सहन नहीं होगा ! [कोई प्रेमी इससे अधिक क्या प्रेम व्यक्त करेगा !] कर्म का फल भोगने के लिये कर्ताभाव खोब रख कर अर्जुन तू मुझ से अलग रहेगा ? मुझ से जुदाई रखेगा ? क्योंकि कर्ता-भोक्ता भाव को जोने के लिए तुझे फिर से जन्म लेना पड़ेगा, मुझ से अलग होना पड़ेगा ।

तू इस देह में आया है, प्रकृतिगत संरचना से बने इन्द्रिय-स्वभाव रूप में संस्कार-समुच्चय लेकर आया है; इसलिए कर्म तो होने ही वाले हैं । कर्म को रोकना देहधारी के बस में नहीं, इष्ट भी नहीं । किन्तु इन कर्मों का कर्ताभाव तथा इनसे उत्पन्न होने वाले फल यदि तू मुझे अर्पित कर देगा तो इन्हें भोगने में से तुझे मुक्ति मिलेगी ।

ज्यों ही कर्म हुआ कि तत्क्षण 'हरिः ॐ तत् सत् श्रीकृष्णाय नमस्तु' कह कर वह मेरे अर्पण कर दिया; तो उसी क्षण तेरा आत्म का जन्म-मरण पाँछा जायेगा । मिट जायेगा, स्लैट पर से भोगा कपड़ा फेरने से जैसे लिखे हुए अक्षर पृष्ठ मिट जाते हैं ।

फिर कहा—“कुछ तो बताइये, कोई माला-जप-साधन ?” ठाकुर ने कहा—“माला-जप आदि किसी की भी कोई जरूरत नहीं।” बार-बार पूछने लगे तब आखिर रामकृष्णदेव बोले—“अच्छा एक काम कर। सुबह से रात तक जो भी करोगे बस प्रत्येक कर्म के पहले व बाद कह देना—“माँ तुझे अर्पण ! माँ तुझे अर्पण करता हूँ।”—इतना कहना, बाकी कुछ भी छोड़ने की जरूरत नहीं है।” कोई यम-नियम-व्रत-प्रतिज्ञा नहीं !

गिरीशबाबू वहाँ से निकले और चले सीधे कलकत्ता, जिस वारांगना के पास जाया करते थे वहाँ बड़े टाट-बाट से पहुँचे। हँसते हुए उसे बताया कि “बढ़ी तारीफ़ करते हैं लोग उस भट्टाचार्य की ! आज मैंने ठम लिया उसे। केशवचन्द्र सेन और ब्राह्मसमाज वाले भी उसकी इतनी प्रशंसा करते हैं। मैं गया था आज उसे देखने। आधा नंगा शरीर, सीधा-साधा ब्राह्मण ! आज मैं उसे ठग आया हूँ। मैं चेला बन कर आया हूँ उन्होंने शक्तिशेखर वाले रामकृष्णदेव का !”—बले शराब डालो हमारे लिए। प्याला भरते हुए वारांगना बोली—“अच्छा ! क्या करने को कहा है उन्होंने ? क्या आदेश दिया ?” गिरीश बोले—“अरे कुछ भी करने को नहीं बताया ! कहा जैसे जोते हो वही करते रहो ! कोई नियम नहीं, व्रत नहीं !” वह बोली—“अरे कुछ तो कहा ही होगा !” गिरीश बोले—“मैंने बहुत पूछा तो अन्त में कहा कि जो भी करो उससे पहले इतना कह देना—“माँ तुझे अर्पण करता हूँ !”

यह सुनते ही वारांगना के चित्त में प्रकाश हुआ, हाथ रुक गया, वह बोली—“यह मन्त्र मिला है आपकी ! यह मन्त्र लेकर आप यहाँ आए हैं ? अब जाइये यहाँ से ! आपने उन्हें ठगा था उन्होंने आपको पूरा-पूरा ठग लिया ? अब तो कर्म ऐसे ही हो सकते हैं जो माँ को अर्पण हो सकते हैं। इतनी-सी बात नहीं समझे आप ?” खैर आप समझे हों या नहीं, लेकिन मैं समझ गयी हूँ। यह कन्धा आज से छूटा। अब माँ को अर्पण करने लायक ही जीवन बनाऊँगी। मैं आ रहा हूँ अगलापपुरो ! अब यहाँ नहीं रहूँगी।”

तब गिरीश धीरे की बुद्धि में प्रकाश पड़ा कि—“उस भोले ब्राह्मण ने तो मुझे अच्छा पकड़ लिया। अब सुबह से रात तक यहाँ कहना पड़ेगा—“माँ तुझे अर्पण !” अब तो छुट्टी नहीं !” चले वापस सीधे शक्तिशेखर की ओर ! आये थे ठाठ से घोड़ागाड़ी में, अब भागे पाँव-पाँव हो। होश नहीं रही तन-बचन की ! कहीं ज़वा कहीं टोपी ! कमीज के बटन खुले ! मागे जा रहे हैं !” उधर श्रीरामकृष्णदेव कह रहे हैं मन्दिर के सेवकों से—“अरे मन्दिर का भद्राशर अभी बन्द नहीं करना ! वह पगला जा रहा है। जाने वाला है !” रात को ११ बजे गिरीश पहुँचे ठाकुर के पास। ठाकुर बोले—“आ गये बेटा ! आओ !” अब समझ में आया ! “हाँ जी, समझ में आया।”

यही यहाँ वासुदेव अर्जुन को समझा रहे हैं—मुझे बनमन्दिर में बँठा ले, और जो कुछ भी करे वह मुझे अर्पण करता चल। और तुझे कुछ नहीं करना है। ]

कर्म एवं फल मुझे दे देगा तो बाँज को अग्नि-कुण्ड में डालने जैसा होगा; उन कर्मों से वासना रूप अक्षर नहीं उगेंगे अतः तरा जन्म-मरण समाप्त हो जायगा।  
(आजी ३९४-४०४)

अर्जुन यही संन्यास है—सब कर्मों का फलों सहित भेरे हाथों में सम्पत्क न्यास !” “तू जा विधाव से श्याकुल होकर “मूर्ख राज्य नहीं चाहिये ! मैं नहीं लड़ूँगा” कहकर नौचे उतर गया था—वह

संन्यास नहीं था। वह तुझे वस्तुतः होने वाला भी नहीं था। संन्यास की अत्यन्त सरल-मुलम-सहज धुक्ति मैं तुझे बता रहा हूँ। कर्म छोड़ना संन्यास नहीं है, कर्ता-भोक्ताभाव का तथा कर्मफल का पूरी तरह त्याग (समर्पण) ही संन्यास है।

ऐसा संन्यास होगा तो संसार में फिर वापस नहीं आना पड़ेगा। सुख-दुःख के सागर में डूबना-उतराना समाप्त हो जायगा। फिर तो तू सुख-दुःख

दे परे जो निर्दोष निरामय आनन्द है, उस मेरे स्वरूप में और तुझमें जो यह अहङ्कार का पर्दा था वह मिट जायेगा। तेरा जीवन मेरी आनन्दरूपी काया से ही बना हुआ होगा। तेरा जो यह देह रूपी सांचा है, इसमें मेरे स्वरूप—सत्-चित्त-आनन्द का ही रस डल जायेगा। ऐसे तू भी सच्चिदानन्द-स्वरूप हो जायेगा। [इस प्रकार संन्यास और आनन्द का मिलन दिखाया। संन्यास निषेधात्मक, खण्डनात्मक नहीं, संज्ञानात्मक विधात्मक कर्म है।

महाराज कह रहे हैं कि इन्द्रियों के स्वभाव के अनुसार, चित्त में समायें संस्कारसञ्चय के अनुसार कर्म तो होने वाले हैं, उनके शुभ-अशुभ फलों में तेरा चित्त अटकेंगा तो नये जन्मों की सामग्री बना देगा। इसलिए कर्म होते ही तू वह मुझे अर्पण कर देगा तो उसमें से फल-निर्वर्ति नहीं होगी। नये जन्म का सामान तैयार नहीं होगा। अग्निकुण्ड में डाले बीज जैसे विखरित हो जाते हैं वैसे तेरे कर्म मुझमें सिखरित हो जायेंगे। उन कर्मों का (मेरे प्रति निस्सीम भाव द्वारा) प्रक्षालन करके मुझे देना कि उनमें अहन्ता का कल्मष एवं दुर्गन्ध न रहे।" वे यज्ञ-दान-तप-ज्ञानादि अहन्ता में सने हुए न हों। 'हृदि ॐ तत् सत्' कहते हुए सार्वभौम सत्ता के प्रति समर्पण भाव से कर्म हों तो जन्म-मरण की मृदाला पैदा नहीं होगी, ऐसा बहुत बड़ा आश्वासन महाराज दे रहे हैं।

आत्मबोध होने के बाद ज्ञानोत्तर कर्म किए जाने चाहिए या ज्ञानोत्तर संन्यास ही लिया जाना चाहिये यह बड़ी चर्चा का विषय रहा है विद्वानों में। माने-स्वर महाराज कहते हैं ज्ञानोत्तर दया है भक्ति। भक्ति में संन्यास का अधिष्ठान होगा; सहज कर्म की सख्ता बहेगी। ऐसी विवंगी समार्थ है ज्ञानोत्तर भक्ति में। वह पूर्ण पुरुषार्थ है, पञ्चम पुरुषार्थ है। यदि भक्ति के बाद भक्ति न हो तो वह भक्ति कुण्ठित रहेगी, वैकुण्ठ तक नहीं पहुँचायेगी। 'विगत ह्रैः कुण्ठा'—ऐसी जीवन की बसा नहीं होगी।]

पार्थ ! मैंने यह जो कहा कि मनमन्दिर में मुझे बैठाना, पलभर के लिए चित्त में मुझसे दूर न होना;

कर्म करने में अहन्ताभाव न रखना, और करते समय उसका फल मुझे अर्पण कर देना, ऐसे धोकर कर्म करना। तुम पूछोगे कि वह मैं कौन हूँ, किसके अर्पण करण है कर्म ? क्या वसुदेवमुत्त या नन्दनन्दन श्रीकृष्ण ही मैं हूँ ?

तुम्हारा यह पूछना ठीक ही है, (अनेक बार बताया है, फिर भी तू पुनः सप्रश्न ले कि—) मैं सर्वभूतनिवास हूँ, सब प्राणियों व सृष्टि में समान रूप से विद्यमान हूँ। उसके अतिरिक्त भी जो मेरा (अत्यतिष्ठत् दशाङ्गुलम्) स्वरूप पुरा बना रहता है उस स्वरूप का व्यवहार भी सब भूतों के प्रति सर्वथा सम ही रहता है। एक के प्रति भुजु, दूसरे के प्रति कठोर, या एक के प्रति उदासीन और दूसरे के प्रति विशेष राग बाला मेरा व्यवहार नहीं है। वैषम्य-निर्घृण्यभाव यहाँ लागू नहीं होता। सब भूतों में सदा सर्वथा मैं समान रूप से हूँ।

[आधुनिक मनुष्य की बुद्धि इस वचन पर अटक जायेगी, कहा जायेगा कि आज के समाज में सज्जनों को तो दुर्गति है। और जो दुर्जन हैं वे सत्ता-सम्पत्ति-धारी बन कर बैठे हैं। फिर कैसे वासुदेव कहते हैं कि सब भूतों के लिये मैं समान हूँ ? खट्का उठाना, तर्क करना यह स्वभाव बन गया है। लेकिन मणाल लेकर निकलो यह देखने कि सज्जन कौन है ? वह सज्जनता पाप या सवरा उठाने के भय से है या सत्य के प्रति प्रेम के कारण है ?

सज्जनता का मूल कदाहूँ है ? व्यवहार करते हुए वृत्ति में लोभ व ईर्ष्या का सम्भार होता है या नहीं ? सदाचार कुतरे हुए किन्ना जा रहा है या उन्मुक्त भाव से ? ईर्ष्या-लोभ-भय-आसक्ति के जंजाल में बित्त जाता हो नहीं और सहज एक ही रास्ते के रूप में सदाचार हो रहा है ? जो हो रहा है उस पर श्रद्धा है हमारी ? या मन में लगाता है कि 'हृद्ये तो सदाचरण किंवा, हमारे हृद्ये में कुछ नहीं आया और जिन्होंने सत्य की परब्राह्मण नहीं की उन्हें लाभ ही लाभ मिला।'

क्या हमारा सदाचार-सत्याचरण शायन है कुछ कर्मों के लिये ? या वही साध्य है हमारा, जिसके

लिये अपने आप को धोकर देने की-नयीछावर करने की हमारी तैयारी है। क्या हम सत्य पर क्रिदा हो होकर ऊनाह होने की तैयारी है। हमारा सत्याचरण सौदा है ? हिसाबो काम है ? किसी भी अमीष्ट फल का साधन है ? या साध्य है ?—यह सब खोजना पड़ेगा। सब समझ में आयेगा कि किस प्रकार प्रभु सबके प्रति सदा समान है।

यहाँ अपना-पराया भेद नहीं है। उजब या बिदुर का एक भी अपराध प्रभु सहन न करते, और चिद्युपाल के ही अपराध क्षमा किये। वसुदेव का सारा जीवन इस दृष्टि से देखने लायक है। यहाँ वैषम्य-नैर्घृण्य का एक भी उदाहरण नहीं मिलेगा। सर्वभूतों के प्रति सदा समान व्यवहार रहा है। जिसने भक्ति का नाम लिया उसी की कसौटी पर कसा है प्रभु ने। जो पढ़ने जाते हैं उन्हीं की परीक्षा ली जाती है। कसौटी पर हमेशा सज्जन हो चढ़े हैं। मर्वाथा पुस्तोत्तम एवं सत्यजीवन श्रीराम चढ़े हैं कसौटी पर, पाण्डव चढ़ते रहे कसौटी पर। सत्य-व्याय-धर्म का आचरण करने वाले सब परीक्षाओं में से गुजरे हैं। जिन्होंने धर्म ब सत्य की ओर देखा हो नहीं, जो प्रभु

[आज की भाषा में कहें तो—वे देहभान में दिखते हैं—(He appears to be conscious & functioning on the body-conscious-level.) किन्तु उनकी समानता मेरी सत्ता के साथ जुड़ी हुई है। जिसे जीवभूमि का विदेहिता कहते हैं वही दशा है उनकी। गोपियों का चित्त घर में घर के दैनिक कृत्यों में उलझा नहीं था, वह तो सतत श्यामसुन्दर में ही बसा था। घर के सभी कार्यों चलते थे, पर चित्त उनमें चिपका नहीं था। उनका प्रत्येक श्वास श्वास के साथ था। और 'जित देखूँ तित ध्याममयी हूँ'—दशा थी।

इसे रूपक मत भानिये। यह इस देश की मिट्टी का इतिहास है। हम कहीं जानते हैं कि आज कीन-सो गोपो कहीं जी रही होगी ? जैसे लकड़ा में विभीषण जो सका वैसे आज की भारत की दुष्ट परिस्थिति में भी भक्ति जीने वाले लोग जरूर होंगे।

यहाँ आशय यह समझना है कि बहु आयामी (Multidimensional) मनुष्य देह में रहते हुए—सब प्रकार के संसार-व्यवहार संभालते हुए भी व्यक्ति की चेतना कहीं और रह सकती है।]

उनके हृदय में मैं समग्ररूप से स्वयं विराजमान हूँ। अर्थात् जो समग्रपूर्वक समग्र क्रम करते हैं वे जीतेजी प्रभु में मिल चुके हैं। परशोत्तर मोक्ष दूसरों का होता है। मेरे भक्त ती जीते जी मोक्ष पा चुके होते हैं। (ओवी ४०७-९)

[हमारे पास रहती थीं परमभक्तिमती कृष्णामाई। उनके शरीर छोड़ने के तीन दिन पहले उन्होंने कहा था—“मनुष्य देह का प्रयोजन है प्रभु का दर्शन ब साक्षात्कार, मेरे गोपाल की कृपा से यह हो चुका है यहाँ। मृत्यु को जब इस देह में से मुझे उठा लेना हो उठा ले। गोपाल से मेरी बात हो चुकी है। उसने कहा है इसी अन्माहमी से पहले आकर ले जाओगा।”

के उन्मुख नहीं हुए, उनको प्रभु ने उनके उन्माद द्वारा ही नष्ट होने दिया।]

मैं सब भूतों में समान हूँ, सबके प्रति मेरा समान व्यवहार है, और मेरे लिए कोई अपना-पराया नहीं, मुझमें यह द्विभेद भाव है ही नहीं—ऐसा मुझको जान कर जो अहङ्कार-अहन्ताभाव (‘मेरे जीवन का कर्ता-घर्ता मैं ही हूँ’ इस अभिमान) के दंश (डंक) को तोड़कर जीवभाव से कर्मरूप से या कर्म करते हुए मेरा भजन करते हैं, वे भक्त देह में दिखते हुए भी देही नहीं हैं। दो घटें हैं १—मेरे सर्वान्तर्गामी एवं सार्वभौम सत्ता स्वरूप को जानते हैं, २—सबके प्रति मेरा व्यवहार सर्वदा समान है—यह श्रद्धा है।

वे देह में रहते हुए भी विदेही हैं, उनका चित्त मुझमें ठहरा हुआ है। लोगों को दृष्टि से वे सामान्य व्यक्तियों जैसे हो रहे,—आहार-निद्रादि सबके समान है इसलिये वे देह में विराजमान हैं ऐसे दिखते हैं, किन्तु वस्तुतः वे देह में नहीं हैं, वे तो मुझमें हैं मेरे पास हैं, मेरे परम याम सार्वभौम सत्ता में बसा हुआ है उनका चित्त, क्षण भर भी वहाँ से हिलता नहीं।

सच ही पक्षी के दिन प्रमात में उन्होंने महाप्रस्थान किया। मनुष्यजन्म में आकर प्रभुसंघन—  
(अपने घट में तथा विश्व में) करना—यह प्रयोजन पूरा हो चुका।\*\*\*

ऐसे व्यक्तियों के लिए वासुदेव कह रहे हैं कि उनके हृदय में मैं समग्र रूप से बसता हूँ। वैसे तो सभी भूतों में मेरा निवास है। (The ground & essence of all existence is divinity.)

इसका अर्थ यह नहीं है कि आम का रस ही आम का सत्व है इसलिये उस पर छिलका नहीं होगा या भीतर गुठली नहीं होगी। विश्व में नाम-रूप-रस-आकारादि नहीं होते—यह अभिप्राय नहीं है, लेकिन आम का सत्व है गुठली एवं छिलके के बीच। वैसे विश्व के निखिल वैविध्य के छिलके में वह धरमसत्ता विराजमान है—“सत्तामात्रधारी” प्रथमतः गोविन्द परमानन्दम्।”

सर्वभूतनिवास वासुदेव जैसे अपने भक्तों के हृदय में हैं वैसे हमारे भीतर भी हैं ही। अन्तर केवल इतना है कि हम अपने आपको साढ़े तीन हाथ के देह में बाँधे बैठे हैं इसलिए यहाँ प्रभु की समप्रता प्रकट नहीं हो पा रही है। उस सार्वभौम सत्ता के साथ हम हृदय से एक नहीं हो पाते हैं इसलिये वह समप्रता यहाँ प्रकट नहीं हो पा रही है। भक्तों को अन्तर्बोध्य काया-व्यवहार में वह समप्रता प्रकट होती है—

“यद् यद् विभूतिस्तत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव च।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽसम्भवम्॥”

भक्तों में—सन्तों में वह विभूतिमत्त्व प्रकट हो पाता है क्योंकि वे अहं का अन्तराय रखते नहीं; हम “मैं-मैं” करते हुए ऐसी चारदीवारी (कोट) बना रखते हैं प्रभु के निवास की घेरे हुए, कि कहीं वे बाहर निकल न पायें।]

प्राणिमात्र, पदार्थमात्र, समस्त सृष्टि के हृदय में, केन्द्र में वे ही निवास करते हैं। [वही अपने जीवन का आधार होना चाहिए। यदि इस प्रकार वे ही हमारे जीवन का आधार बन सकें तो यह ग्रन्थ पढ़ना सार्थक हो जायेगा।]

बीजकणिका में जैसे सम्पूर्ण वटवृक्ष अपने पूरे विस्तार सहित विद्यमान है, उधो में से वटवृक्ष प्रकट होता है और पुनः उस विस्तार में बीजत्व कायम रहता है—वृक्ष अनन्त बीजकणिकायें धारण करता है। वैसे ही समस्त सृष्टि का, भूतमात्र का बीज, (मिठा, माठा, बाटा, मसो) मैं हूँ, और इस व्यक्त विश्व-विस्तार में पुनः बीज-रूप से विद्यमान हूँ। सृष्टि का मेरा उन्मत्त्व ऐसा ही है। मैं ही बीज हूँ, विस्तार हूँ, परिपाक भी मैं ही हूँ।

बीज और वृक्ष में परस्पर नाम एवं रूप का ही अन्तर है, तत्त्व एक ही है, तत्त्व से भेद नहीं है। वैसे ये सन्त-योगी-भक्त मेरे सुव्यक्त नाम-रूप-धारी हैं, इनमें मुझमें तत्त्वतः कोई भेद नहीं, क्योंकि वे सम्पूर्ण विषय के कण-कण में मुझे ही देखते हैं।

इसीलिये—“जहाँ जहाँ चलो सोहं परिकरमा,  
जो कुछ करतें सो पूषा\*\*\*।”

ऐसा उनका जीवन रहता है। सत्य का स्वरूप अन्त पाकर जो उसे जीने लगते हैं वे सन्त हैं, जो केवल जानने में मस्त हैं वे पण्डित या विद्वान् हैं। तत्त्वतः जो मैं हूँ—वही मेरे भक्त हैं, उनमें व मुझमें कोई अन्तर नहीं।

वे अपना जीवन कैसे जीते हैं? जैसे गरीब लोग (जिनके पास अपना कोई प्रसाधन-महत्त्वे-कपड़े आवि नहीं हैं) कोई अनिवार्य अवसर आवे पर काम-चलाऊ गहने-कपड़े किसी से उधार लेकर पहन लेते हैं। उन्हें भाऊम हे कि यह अपना नहीं दूषण का है, सम्हाल कर पहनना और काम पूरा होते ही लौटा देना है—ऐसे ही भक्त जानता है कि यह धरीरादि भी प्रभु का है, इसीलिये—

“बास कबीर जवन सौं ओड़ी,  
ज्यों की श्यों धरि दीन्हीं चवरिया।”

उस पर दाग नहीं पड़ने देते, कहीं कोई सौच-धरौच लगने नहीं देते। वहाँ ममत्वभाव नहीं, आसक्ति



नहीं। हर समय मालूम है, स्वीकार है कि यह देह चार दिन के लिए है, एक दिन घमराज यम आयेंगे, उनके हाथ सौंप देना है इसे।

प्रभु कहते हैं—यह सब कुछ (सारा संसार) मैं बना और देहाकार होकर उसके हृदय में भी मैं बसा उसके धरौरे में मैं सभी कुछ बन जाता हूँ। उसके

[इतना सुन्दर देह मिला है मनुष्य को। मनुष्य जाति चाहे जैसे Robots बना ले, Electronic Brains बना ले, superlative revolutions कर ले; लेकिन नो महीने भी के उदर में जो देह बनती है वह अद्भुत चमत्कार है। उसकी अवस्था, करोड़ों-करोड़ों औषधियों की अवस्था, नाड़ियों, स्नायुओं, मांसपेशियों, अस्थियों, रक्तवाहिनियों, जीवन-नालक विभिन्न तन्त्रों की व्यवस्था—एक देह में ब्रह्माण्ड का रहस्य मिल जायेगा। शब्द नाद-ध्वनि रूप से कानों में से अन्दर जाता है और उसका अर्थघटन होता है मस्तिष्क में! मुस से लाये हुए अन्न में से तरह-तरह के रसायन व धातु बनते हैं। इसी तेजी से मनुष्य धरौरे के electro magnetic operatus में काम होता है।] इतना सब कुछ मैंने किया, पर मुझे ही भूलकर मनुष्य अपने कर्तृत्व का अभिमान—दर्प करता है, मेरी भक्ति नहीं बानी मुझमें श्रद्धा नहीं, मुझे प्यार नहीं, मेरा स्मरण नहीं, तो पाप! उसका सम्पूर्ण जीवन स्वयं ही बया पाप नहीं है? बड़ी प्रखरता से महाराज अपनी शैली में कह रहे हैं कि जो कुछ मेरी भक्ति के बिना किया जाता है वह बड़ा पाप है। Without awareness of totality! जीवन की समग्रता का अलक्ष्यता का अनुसन्धान मान नहीं; प्रभु की दी हुई देह में कूद रहे हैं कर्तृत्वशक्ति के बल पर 'मैंने किया, मैंने किया पाया।' तहलका बचाता है मनुष्य—यही शो महापाप है। पाप शब्द का अर्थ समझ लेना!

हमारे स्वामी रामतीर्थ एक बार प्रवास कर रहे थे, जपान होकर अमेरिका जा रहे थे, पानी के जहाज से। किसी ने व्याख्या पूछी—पाप-पुण्य की। तो क्षणभर भी रुके बिना कह दिया—“That which takes you away from God is sin, & that which takes you towards the devine, is virtue.” परमात्मा की सत्ता का भान भुलाती हो ऐसी जीवन-पद्धति पापमय है और जो प्रभुसत्ता का स्मरण दिलाती हो वही जीवनशैली पुण्यशाली है। यहाँ महापाप शब्द से वही अर्थ लेना होगा। ]

हे पाण्डुसुत! उसका चित्त जब मेरे निकट आया। [ 'मेरे निकट' यानी क्या? वसुदेव-देवकी-पुत्र के? वे तो श्राप में भी गये। आप और हम क्या करेंगे? उनमें जो तत्व है उसके निकट होने की बात कही जा रही है। बुद्धि से तत्व को जान लें और चित्त से उसे पकड़ लें। बुद्धि से जानना होता है, चित्त उसका विनमर्त स्वीकार करे यही 'पकड़ना' है। ] तभी वह मेरा स्वरूप बन गया। मेरे तत्व का सम्पूर्ण स्वीकार होते ही वह मेरी प्रतिकृति (minature) बन गया।

सन्तों को क्यों प्रभुसम माना जाता था? उनकी काया को स्पर्श करना भी क्यों पवित्र माना गया—इसका रहस्य आपके सामने आयेगा। चित्त की बया

उदर में वैश्वानर बनकर वसुदेव अन्न का पचन करता है, लुधा बनता है। दूध में रोशनी बनता है; पूरे बदन में ऊष्मा बनता है। इतना होते पर भी जो मुझे याद नहीं रखता—'मैं मैं' करता रहता है, वह पापी है।

यदि वही ब्राह्मीस्थिति को चल रही है, चित्त यदि डूबा हुआ है सामरस्य रस में, तो उसके अणु-अणु पर उसका परिणाम रहेगा न! मनोविज्ञान भी बताता है कि चित्त की जैसी दशा हो, उसके धरौरे पर—अणु-परमाणु पर परिणाम होते हैं। मन में तनाव-बनाव है तो परिणाम होता है लिबर, फेफड़ों, गुर्दों पर, हृदय पर। बीमारियों की अज्ञ यदि आज मिलती है चित्त की दशा में! तो ज्ञानेश्वर महाराज यदि ८०० वर्ष पहले ही कह रहे हैं कि आई! जिसका चित्त दिन-रात ब्राह्मी-दशा में डूबा हुआ है उसकी काया भी पवित्र हो जाती है। साड़े तीन हाथ की वही काया दिखती है लेकिन तत्त्वतः यह मेरा स्वरूप ही है! तो आश्चर्य क्या? ऐसा सक्त का गौरव भगवान् के सिवा कौन पायेगा?

और मागे कहते हैं—जैसे प्रज्वलित दीपक की लौ से दूसरे दीपक की बत्ती जोड़ दी जाय—वह प्रज्वलित हो उठे—तब पहला दीपक कौन सा था—यह किसी को पता नहीं चलता। प्रकाश देने का जो दीपक का धर्म है वह दोनों में समान हो गया। जब तक एक प्रज्वलित नहीं था तभी तक अन्तर था। प्रज्वलित होने पर प्रकाश देने का धर्म दोनों में समान है। वैसे ही मेरे भक्तों-सन्तों में भी ज्ञान-प्रकाश देने की समता व धील मेरे समान हो है। ब्रह्माण्ड-भर को जैसे मैं प्रकाश देता रहता हूँ वैसे उनके देह-बाणी-चित्त ज्ञान-प्रकाश से ओतप्रोत रहते हैं, उनमें व मुझमें अन्तर कोई नहीं रहता। तुकाराम ने गाया है—“हम सदेह ही ब्रह्म है।” अहंकार से नहीं कह रहे, यथाथं बया रहे हैं। देह की मर्यादा में हों पर तत्त्वतः ब्रह्म ही है। बड़े नखरे से तुकाराम ने अनेकों अभङ्ग इसी आशय से कहे हैं, स्पष्ट बताया है कि कैसे भक्त ब्रह्मरूप ही है।—

‘गोविन्द-गोविन्द ! मन को लगा यही छन्द ! (जस्का) फिर गोविन्द बनी यह काया ! ओह हममें नहीं रहा ! उनमें मुझ में अन्तर न रहा !’

चित्त जब प्रभु से एकाकार हो जाता है तो उनमें व भक्त में अन्तर नहीं रहता। फिर भी समझदार विचारवान् लोग तत्त्व को देखते हैं; आकार शीघ्र है, तत्त्वप्रधान है। इसलिये यहाँ कह रहे हैं कि जैसे—पहले कौन सा दीपक जल रहा था, बाद में कौन सा जलाया गया इसकी जैसे पहचान नहीं होती, वैसे प्रभुमें और उन भक्तों में कौन पहले और कौन बाद में—यह कोई पहचान नहीं सकता।

यहाँ एक संकेत है नाथ भण्य का। परमात्मा तत्त्वतः कैसे है ? सर्वग्यायी हैं, निराकार हैं। यानी वे एकदैवी नहीं बन सकते, उनका अपना कोई एक निर्धारित विशिष्ट आकार नहीं है। सर्वनाम या अनाम हैं यानी उनका अपना कोई विशिष्ट नाम नहीं। उनका नाम नहीं, रूप नहीं, आकार नहीं, गुण नहीं। भक्तों ने अपनी उपासना के बल पर अनामी को नाम दिया, अरुणों को रूप पहनाया। निराकार को आकार दिया, निर्गुण को गुणनिधान

बनाया। अब कहो तो कि मैंने भक्तों को पैदा किया या भक्तों ने मुझे बनाया ? भक्तिशास्त्र का रहस्य कहना है और नाथभण्य का संकेत भी देना है (कि परमात्मतत्त्व का स्वरूप है निर्गुण-निरामय-निराकार सत्तामात्रता) भक्तों ने उन्हें सगुण-साकार बनाया, सार्वभौमता-विभूता को गौरवान्वित किया। “तुम्हारे भन्धिर तो हम ने बनाये। ये जिन रूपों में सज-पज कर बैठे हो—याँच बार आरती और नैवेद्य लेते हो,—ये रूप सज-सज्जा और भोग-राग सब हम भक्तों ने ही तो दिये !” यह महाराष्ट्र के भक्तों की शैली है प्रभु से लाड़-लड़ाने की। कमी झगड़ा भी करते हैं, प्रेमकलह मचाते हैं।

शानेवर महाराज की यह शैली बड़ी सौम्य-सुघड़ है। कहना यही है कि भक्त और भगवान् में पहला कौन ? यह नहीं कहा जा सकता, जैसे दो प्रदीपों में से पहला कौन था ? यह शिक्षा के आधार से निर्णय नहीं हो सकता। इसलिये प्रभु कहते हैं कि “ईश्वर, भगवान् कह कर जो मुझे पुकारते हो वह मैं भक्तों का सर्जन हूँ, ये मेरे सर्वक हैं। सर्वव्यापक ब्रह्म सत्ता के रूप में मैं उनका सर्वक हूँ।” तो सगुण-साकार विग्रह वाले ईश्वर का निर्माण किया मनुष्य ने। उसे अपने जीवन में दाखिल किया। रसोई बनानी है तो पहले नैवेद्य प्रभु के सम्मुख धरना है इसलिए स्वयंपाक-यज्ञभाव से, पूर्ण श्रुचिता से, सुघड़-सुन्दर-कुसुमता से करना है। शृङ्गार करना है, सुन्दर-सुन्दर वस्त्र-अलङ्कार-सुगन्ध द्रव्य-सुपनावि से खेलना है, भीतर पड़ी सौन्दर्य भावना का विनिमोग करना है तो “प्रभु के लिये” सब करेंगे। अपने धारीर के साथ जोड़ कर सौन्दर्य को ‘मोगविलास’ नहीं बनने देंगे।—ये सब सङ्कट रहे उपासना के पीछे।”

उन सङ्कटों का काब्य अब चला गया; निष्प्राण परम्परा में—लड़ियाँ मात्र रह गयीं। इसलिये वे जड़ बन गये, कठुर कठोर सम्प्रदाय बने रह गये। अन्यथा भक्ति स्वयं सम्प्रदाय नहीं है। वह तो आत्मज्ञान की चिरसङ्गिनी सखी है। इसी को अद्भुत हृदयङ्गम शैली में प्रस्तुत किया महाराज

ने प्रभु मुख से यह कहला कर कि 'ईश्वर' नाम का दीपक पहले जला और उससे भक्ति दीप जलाया या भक्तों ने 'ईश्वर' के नाम-रूप-गुण-लीला का दीपक बनाया, प्रगटया-प्रज्वलित किया ? पहले कौन-सा दीपक जला ?—यह कोई पहचान नहीं सकता। सर्वस्व से मुझे भजने वाला मेरा स्वरूप ही बन जाता है। उसमें मुझमें कोई भी—लेश भी अन्तर नहीं रहता। (ओवी ४१०-२७)

[अक्रोधमूर्ति सन्त एकनाथजी को बात मैंने आप से कही है, अक्रोधशील सन्त तुक्रोजी महाराज की बात भी बताई है। अब, मैंने जिनके चित्त में नित्य ध्याति, नित्य समता देखी है ऐसे गृहस्थाश्रमो व्यक्ति की बात कहूँ। विद्याधिनी थी मैं, नागपुर में दादा घर्माधिकारी नाम के गृहस्थाश्रमो व्यक्ति रहते थे। जिन्होंने बहुत प्रेम से, बचपन से मुझे अपनी कन्या के रूप में ग्रहण किया। उनका सबसे छोटा बेटा—'बचु' नाम से जुलाते उसे; १८ साल की उम्र होगी—वह बीमार है, मृत्युशय्या पर है। "सर्वोदय"—मासिक पत्रिका के प्रकाशन की तारीख आ गई है। (इसके सम्पादक तब दादा एवं विनोबाजी थे)। अग्रलेख लिखना जरूरी है। आज ही रात तक वह लेख बर्बा पड़ूँ बना चाहिये। उसे लेने के लिये दामोदरदासमूढा के छोटे भाई लक्ष्मी-नारायण वहाँ पढ़ूँचे हुए हैं। और मृत्युशय्या पर पड़े हुए बेटे का सिर अपनी गोथ में लिये हुए दादा अग्रलेख लिखवा रहे हैं। "बचु" कभी १०-५ मिनट में पोजी होश में आ जाय—"दादा !" पुकारे, तब बड़ी ध्याति से "हाँ बेटा !" कहते हुए उसके मुँह में गंगाजल डाल दे रहे हैं दादा। इधर अग्रलेख-सम्पादकीय बोलते जा रहे हैं। देखने वालों का जी आकुल-व्याकुल हो जाय। पर दादा पुरी स्थस्थता से दोनों छोर पर कार्य कर रहे हैं। दादा ने कहा—"यह भी घर्म है, वह भी घर्म है।"

बेटे के प्राण गये। उसका सिर गोथ से सरका कर नीचे रख दिया। और लोगों से कहा—"आगे की तैयारी करो।" पास के दूसरे कमरे में जाकर बैठे। लेख लिखवाना पालू रहा। "क्या उन्हें दुःख नहीं हुआ होगा ? जड़ थे वे ? नहीं; दुःख अवार था। दादा को जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा होगा वे जानते हैं कि वे कैसे बिलक्षण संवेदनशील व्यक्ति थे। व्यवहार में संवेह प्रेममूर्ति। जीवनप्रेमी-मानवप्रेमी ! वह प्रेम कोरा सैद्धान्तिक—Abstract Humanity का नहीं, प्रत्यक्ष जीवन-व्यवहार में व्यक्तिमात्र के प्रति हमेशा गतिशील प्रेम।"

तैयारी पूरी हुई, वमशान में गये, दाह दिया और वहाँ रहने के समय में लेख पूरा कराया। लक्ष्मीनारायण भाई ने वमशान से लौट कर बताया। जो करना था वह आवश्यक काम करते जाते। रोने वालों की पीठ पर हाथ रखते। कोई अशान्त होता आकुल-व्याकुल होता—पर ये क्या कम प्रेमी पिता हुए जो सब को सान्त्वना देते हुए, अनिवार्य प्राप्त कार्य पूरा करते रहे। यह भी एक जीवन जीने की शैली है। कोई छोटी-छोटी बात में प्रभुबन्ध हो जाते हैं और किसी के हृदय में महासागरतल जैसी ध्याति रहती है। प्रेम भरा हुआ है, रूबो-जड़-उदासीन ध्याति (Callousness) नहीं। जीवनविमुखता नहीं, जीवन-अविमुखता है। प्रेम का रस अन्तर छलीछल है, फिर भी व्यवहार में सन्तुलन और समत्व दृष्टवा नहीं—यह देखा है।

ऐसा समत्व ऐसी ध्याति भक्तों के जीवन में हो सकती है। हर बात में हड़बड़ा कर—क्षुब्ध होकर क्रोध की तेजी में आकर अपना नुकसान-दूसरों का नुकसान करने वाले भी जाते हैं। विन में पचास बार उत्तेजित होना, विषाघ में डूबना, आसक्ति-विपुलता, विषकना-भागना, ईर्ष्या-असूया के घन्के जब लगते रहते हैं तो चित्त स्वस्थ-प्रसन्न-शान्त कैसे रहे ? ऊपर कही ध्याति व सन्तुलन के ऐसे उदाहरण मैं जे कृष्णमूर्ति के जीवन में से दे

सकती है। लेकिन वे तो "जगद्गुरु" हैं! आप कहेंगे वे तो "असामान्य" हैं। पर दादा जैसे सामान्य गुरुत्व। वेडे-वेडियाँ, दामाद-बहुराएँ हैं। घर में बैठे हैं—मठ-भन्दिर में नहीं। कोई 'सन्त'—'महन्त' की उपाधि नहीं। ऐसे व्यक्ति का उदाहरण आपको बताया। ]

यह "नित्यशान्ति" शब्द, "नित्य" विशेषण ध्यान में रखने लायक है। हमने यह मान लिया है कि व्यवहार में शान्ति नहीं रह सकती, इसलिये गुफाओं की खोज में हैं, एकान्त की खोज में हैं। क्योंकि मान बैठे हैं कि मानवीय सम्बन्धों में उत्तेजना होना, प्रसूय होना, श्लानि विषाद-अवसाद होना स्वाभाविक है। और हमेशा—हूर हालत में शान्त-सन्तुलित रहना असामान्य घटना है यह मान लिया—वैसे व्यक्ति को सामान्य मनुष्यकोटि से हटा कर 'महात्मा' कह कर अलग दूर बँठा देते हैं। पता नहीं क्यों मनुष्य जाति ऐसे गलत रास्ते पर चली गयी, कि नित्यशान्ति की सम्भावना को "असामान्य" "विशिष्ट" मान लिया और विकारों के वशीभूत होना स्वाभाविक मान लिया। बड़े मूल, बुनियादी भूलकर बैठे हैं हम। इसीलिये मानवीय-सम्भवा-संस्कृति आज भी आक्रान्त है, विकारों से पीड़ित है। और "शान्ति-शान्ति" की दुहाई दे रहो है।

"विरवशान्ति" नहीं, "राष्ट्रशान्ति" नहीं, "समाज-शान्ति" नहीं, "व्यक्तिशान्ति" नहीं। सब तरफ अघात प्रसूय जीवनपद्धति है। ]

यहाँ महाराज (बासुदेवमुख से) समझा रहे हैं कि मेरे मकों के जीवन में और चित्त में ही शान्ति रहती है ऐसा नहीं, उस शान्ति को कान्ति, उसका तेज, मक के प्रत्येक कर्म में, सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार में झलकता है। नित्यशान्ति ही उसके जीवन की कान्ति बन जाती है। जैसे भीतर आरोग्य हां तो शरीर के अणु-अणु में उसकी कान्ति चमकते हैं, लावण्य-तेज-जोष निखरा नजर आता है। शरीर के हलन-चलन में, स्वावीच्छ्वास में, त्वचा के रंग-निखार में यह आरोग्य का लावण्य है। नजर में से झलकता है। नस-नस में स्वास्थ्य का सञ्चार है, रग-रग में उसका प्रवाह है। वैसे ही कह दिया—नित्यशान्ति मक की आन्तरिक बधा तो है ही, यही उसके जीवन की कान्ति भी है।

[लोग कहते हैं—"जी, मेरा स्वभाव तो बहुत शान्त है पर ये बच्चे मुझे गुस्ता दिला देते हैं, बहू मुझे अशान्त कर देती है।—तोन-तोन घण्टे में ध्यान लगाता है—इतनी शान्ति की अनुभूति होती है कि न पूछिये!"—फिर उस आसन से उठते हो, व्यवहार का—प्रत्यक्ष जीवन का स्पर्श होते ही वह शान्ति कहीं चली जाती है? ऐसी पतले काँच-सी नायुक शान्ति किस काम की भाई?....भई जरा सन्माल कर बात करो। श्याल करो कि इनको शान्ति-भङ्ग न होँ।"....ऐसा आतङ्क हो शान्ति का, सामना का, सबको घर भर की हथारी 'शान्ति' की सन्माल करने पड़े—तो ऐसा अभ्यारण किसी काम का नहीं।

"यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकान्नोद्विजते च यः।"

परिवार में, परिसर में, समाज में किसी को उद्वेग न हो हमारे कारण। किसी के व्यवहार से हमारे चित्त में खोब या उद्वेग नहीं होना चाहिये।

यहाँ 'बधा' और 'कान्ति' दो शब्दों का प्रयोग अन्तर-ङ्ग-बहिरङ्ग दोनों क्षेत्रों के लिए किया गया है। इसका एक सीन्दर्य है अपना। उपमा या दृष्टान्त कितना ही एकदेशी क्यों न हो, महाराज उसे सर्वदेशी बनाने की पूरी कोशिश करते हैं, या तो उनके लिए वह सहज उन्मेष है, उनका योग्यवर्ष है—यह कहना पड़ेगा। ]

किन्तुहना। जबिक क्या कहें, ये जोते है। बधा बहो है, कान्ति बहो है। इसके लिए उनकी पूँजी, आधार बल यह है कि मे मुझमें ही जोते है। मेरो सच्चिदानन्दमयी सत्ता का हू। आहार करते है। प्रत्येक इन्द्रिय से मुझे ही प्रहण-सेवन करते है। मैं मकों के अहङ्कार का आहार करता है, मक मेरो सत्ता का आहार करते है। इसलिये वे सतेज है, तेजस्वी है। प्यार की भाषा है यह। पति-पत्नो के लिये 'कान्त-कान्ता' शब्दों का प्रयोग होता है। परस्पर कान्ति देने वाले, परस्पर कामनाओं को तृप्त करबे वाले। वैसे यहाँ भगवान् कहते है कि अर्जुन! मुझे भी शन्येह

होता है कि पहले मैं था या मेरे भक्त पहले थे। मेरी शान्ति उनके जीवन की कान्ति बन गयी है, क्योंकि वे सर्वोन्द्रियों से मेरी ही सत्ता का आहार खेवन करते हैं।—

“विट्ठल टाळ विट्ठल विष्णो विट्ठल तोंडी उच्चागा !  
विट्ठल अवध्या मांडवला, विट्ठल बोला विट्ठल !!

तुकाराम गाते हैं—विट्ठल ही करताल है, विट्ठल ही भाषा व शब्दों है, विट्ठल का ही मुख से उच्चारण है, विट्ठल ही जीवन की अमृत पूजा है !]

हे पार्थ बहो-बही बात किसनी बार तुझे कहूँ ? यदि तुझे मूल से प्यार हो तो मेरी भक्ति न भूलना ! मेरी सत्ता के साथ का अनुसन्धान पर भ्रम ही न छोड़ना। अब कहते हैं कि भक्ति में अन्तराय कौन कौन से जाते हैं ? इतना बार-बार क्यों समझाना पड़ता है ? भक्ति की दशा क्या है ? अलक्ष्ण अनुसन्धान (ब्रजगोपालानाओं जैसा) अलक्ष्ण अनुराग बना रहना। भक्ति की व्याख्या इससे अलग नहीं मिलेगी। उस भक्ति में बाधा-अन्तराय क्या-क्या आ सकते हैं—यह समझ ले, ताकि उनसे बचा रह सके।

(श्लोक ४२८-३०)

पहला अन्तराय है—“हमारा कुल (खानदान, वंश) बहुत श्रेष्ठ है”। कुल का अभिमान ! जाति का अभिमान; कुल के अभिजात्य (शुद्धता) की श्लाघा उसमें छिपी रहती है। [आज तो (वस्तुतः कोई वंश-जाति-शुद्धता आहारादि परिषेध के कारण बचो न रहते पर भी) छोटे-छोटे जातिभेदों में भी अंतर कितने स्तरभेद; हरिजननों-वैश्यों-श्रमियों-कायस्थों में कितनी उपजातियाँ और स्तरभेद ! अरे सिद्धों में भी (बहुल मूल गुणों ने जाति मिटा दी थी वहाँ कम से कम १२ उपजातियाँ) कौन किस जाति में से शिख बना है उसी को लेकर ऊँच-नीच ! हरान रह जाते हैं। मूलमानों में शिखा-मुसी के अलावा भी कितने उपविभाग ! जनों में सभ्यताओं को लेकर भेदोपभेद। फिर श्लाघा करते हैं कि हम अभिजात हैं, वह नहीं ! अभिजात्य भी तो आधेसिक वस्तु हो गयी।

इसीलिये विनोबाजी हमेशा कहते थे कि वो चीजें यदि कार्यकर्ता छोड़ दे तो उसका कल्याण है

और उसके हाथ से होने वाला कार्य भी वस्तुतः प्रभावी होगा।—“परनिन्दा आत्मश्लाघा च !” वे कहते—“तुम द्रत ले ले ! किसी को निन्दा नहीं करनी, अपनी प्रशंसा नहीं करनी !” मनुष्य को बड़ा रोग है—“मैं मैं” का। “मैंने ऐसा किया ! हमारे घर में ऐसा होता है। हमारी जाति की यह विशेषता है... यही भक्ति में अन्तराय है। (इसके लिये कोई अलग पाप करने नहीं जाना पड़ता है। घराब-चोरो-व्यभिचार ही पाप हैं ऐसा नहीं।)

दूसरा अन्तराय—विद्वत्ता का अहंकार। रूप और शोचन का मद (मस्ती) चढ़ना। मदमाता होना। सद्गुण-विद्या-धन-रूप-शोचन से मद्योन्मत्त क्यों होते हैं लोग ? कितना भी रूप-शोचन-गुण-विद्या-धन-कुल-श्रील पथों न हों, एक मेरे प्रति मास नहीं, भक्ति नहीं—यानी परमात्मसत्ता का ज्ञान-भान-अनुसन्धान नहीं है तो सारा गुणों का पसारा व उनका अभिमान व्यर्थ है।

मर्कड़ का भुट्टा हो—ऊपर से खूब हवा-भरा विशता है। पर वह खोलकर देखा तो दाने भरे नहीं हैं, पुष्ट नहीं हुए हैं। तो वह भुट्टा जैसे बेकार होता है, वैसे मनुष्य की देह है सद्गुण-रूप-कुल-विद्या आदि से खूब सजो-सजो सुन्दर है पर भाव नहीं—आत्म-सत्ता का ज्ञान-भान नहीं, तो सब व्यर्थ है। मनुष्यता का अविद्यान है भववत्सत्ता का अलक्ष्ण भान। परमात्मा का अनुसन्धान हो, वही समस्त मानवीय मूल्यों को स्थापित संभव है। वह यदि नहीं हो तो अन्य योगियों जैसी पशुता ही मनुष्य-देह में भी बनी रहेंगे; उसी को सजाते-संवारते, खिला-पिलाकर पुष्ट करते रहेंगे। कोई मानवीय मूल्य विकसित नहीं होगा।

नगर में गधे—रास्ते बहुत सुन्दर हैं; खूब सुन्दर भवन हैं, बाजार हैं, सामग्रियाँ मरी हुई हैं दुकानों में। लेकिन कहीं कोई आदमी नहीं है। कोई रहता नहीं बहू, तो कैसा लगेगा ? ऐसे निजंन सूजे नगर की जैसे कोई कीमत नहीं; दाने भरे न हों तब तक भुट्टों की कोई कीमत नहीं—वैसे मनुष्य देहों की संख्या अगणित हो पर कहीं मनुष्यता न हो—जीवन के श्रोत ख मान न हो तो सब व्यर्थ है। मनुष्यजीवन की गंभीरी या मूलश्रोत है—आत्मसंस्मृति। आत्मविस्मृति-

बिपदा; आत्मसंस्मृतिरेव सम्पदा (बिपत् बिस्वरणं विष्णोः सम्प्रभारायणसंस्मृतिः) विष्णु का बिस्वरण कहीं या अपने आपको—सत्त्व को भूलना कहीं, बात एक ही है।

और दुःखान्त देते हैं—सरोवर का आकार है, पर पानी नहीं उसमें! कोई जंगल में भटक गया है रास्ता नहीं मिल रहा है, बड़ा दुःखी है। वही कोई सामने से आसमी नजर आया, तो वहदे उठिस हुआ कि बसो दूसरा मनुष्य तो मिला। इससे रास्ता पूछने आगे बढ़ा कि वही रोता हुआ आकर पहले वाले से पूछने लगा कि "भाई रास्ता बताओ मैं भटक गया हूँ।" एक भटके को दूसरा भटका हुआ दुःखी मिला! उससे मिलने से भी क्या फायदा? कोई किसी का दुःख दूर नहीं कर सकता। अथवा, किसी पेड़पर खूब फूल लगे हैं, पर उन फूलों में से कोई फल नहीं बन सकता—वृक्ष बीस है। वह व्यर्थ है।

ऐसे ही मनुष्य देह भी व्यर्थ है यदि उसमें भगवत् सत्ता की अभिव्यक्ति नहीं; सत्ता का भान-भाव नहीं। मनुष्यदेहरूपी वृक्ष से किस फल की को अपेक्षा है?—जिस भगवत्सत्ता का वह उद्रेक है, जिस भगवत्सत्ता के सागर पर वह तरङ्गरूप है—उस सत्ता की अभिव्यक्ति करे। आप तरङ्ग को हाथ में लेने आये तो शरङ्गरूप भले हाथ में म आये पर हाथ भीग तो जायेगा? आदंता तो जायेगी? जल का घूँट तो भरा जा सकेगा? जैसे मनुष्यता का स्नेह जो भगवत् सत्ता है उसका संस्पर्श यदि व्यवहार में न हो, तो वह मनुष्यदेह बीस वृक्ष के फूल जैसा होगा। उसका सारा वैभव, तथा कुल-जाति-गौरव भी वैसा ही व्यर्थ है जैसे पूरा सायबस सुन्दर धारी ही पर निष्प्राण हो! ऐसी ही मनुष्यता-सत्त्व से रहित मनुष्य की हालत है।

मेरी भक्ति के बिना का वह जीवन जलने लायक है। पुष्पों पर अनेक पाषाण हैं जैसे ही ये मनुष्य हैं जिनमें अज्ञता ही प्रकट होती है। [मोघर की बेचना, कल्याण भागी में प्रकृता का रूप धारण करती है तब महाराज ऐसे प्रखर प्रयोग करते हैं। यही बात है जो जे० कृष्णमूर्ति जी की भाषा में—जब वे कहते

हैं—“भाईबल को कला दो। बेदों को फेंक दो पानी में!” लोग समझते हैं कि वे अक्षरशः ऐसा करने को कह रहे हैं। इतना स्पूल अर्थ लेते हैं लोग! पर वही तो बेचना मुखर हो उठती है कि—“अरे तुम पढ़ते सब कुछ हो पर समझते कुछ नहीं! जीते जरा भी नहीं! क्या करोगे ग्रन्थ पढ़-पढ़कर! जोड़। जो कुछ समझो तो उठी। पढ़ने का व्यस्तन लगा है रात-दिन। अनेकों के शब्दों को छोटे की तरह घोहराते हैं—उन शब्दों का तुलना-बर्षा में लगे रहते हैं। उनके पास अपनी समझ की निचता नहीं रहती; समझ उगती नहीं, जीवन में सूबती नहीं। व्युत्पन्न-प्रतियों में प्रसाधित जड़ता आ जाती है। इसलिये बेचनासहित जब कल्याण व्यान्द्य करती है तब भाषा में सीधता आ जाती है। उसी प्रकार यही महाराज कह रहे हैं—“जले ऐसों का जीवन!”] “आग लगे ऐसे जीवन को! जो मेरी भक्ति बिना जो रहे है।” भक्ति के बिना जो जीवित होने का अभिमान है उसे आग लगे! जीवन जीने के नाटक को आग लगे।

अभक्त के जीवन में पुण्य व धर्म प्रवेश नहीं कर पाते, उसे छोड़ कर धर्म व पुण्य आगे बढ़ जाते हैं खोजते हुए कि किसी के जीवन में हमें रहने को स्थान मिलेगा? जैसे सेमल रुई के पेड़ के नीचे छाया के लिये कोई बैठता नहीं। अभक्त से कतरा कर धर्म-पुण्य निकल जाते हैं।

अथवा, जैसे नीम के पेड़ में फल आये। पीली निबोलियों से लय गया वह। पर उससे सुकाल तो कौनों को हो हुआ न। [धर्मोंकि साम्राज्य रूप से लोग इन कड़बे फलों का उपयोग नहीं जानते हैं। सरकार को भी पड़ी नहीं है अपने देश के अमूल्य धन आयुर्वेद का लाभ अपने देश में होने देने की। और—बाहर के देशों के लोग सोझते व उपयोग करते आ रहे हैं। Continental Ayurveda society द्वारा योरोप के १८ देशों में आयुर्वेद-केन्द्र बने हैं जहाँ अनुसन्धान, शिक्षण, प्रयोग चलते हैं। धन्य, औषधियाँ, आदि का भारत से निर्यात होता है उसमें निबोली का निर्यात होता है यहाँ से। धर्म में से वे धवायें बनाते हैं, साबुन बनाते हैं। जैसे काजू

का निर्यात हुआ। पेनिसिलीन निकालने के लिये, वैश्वे निम्बोली का बेतहाशा निर्यात होता है। सरकार भारत का बेमब बेमोल बेचती आ रही है। बाह्यी का इतना निर्यात हो रहा है कि शायद कुछ वर्षों में यहाँ बाह्यी दुर्लभ हो जायेगी। औषधियों और उपाय-विज्ञान के अक्षय-भाण्डार वाले भारत में सरकारी दुर्नीतियों और लापरवाहों के कारण यहाँ के गरीब मरते हैं रोगों से; और यहाँ की सम्पदा का असली माल जानने वाले पाश्चात्य देश मालामाल होते हैं। (‘‘खैर, निम्बोली शब्द से मेरी व्यथा बाहर आ गयी। निम्बोली से लदे नौम पर कोयल नहीं जाती, कोए हो जाते हैं। वैश्वे त्रिषिष गुणों से भरपूर चित्तु अमक के जीवन में दोष ही प्रवेश करते हैं, धर्म नहीं। मध, दर्प, उपद्रा, आक्रामकता, हिंसा, राग-द्वेष, मस्तर, ईर्ष्या-स्पर्धा, अहंकार का दरबार जुटता है वहाँ। स्वार्थी लोग घेर लेते हैं उसे। शोष वहाँ जाते हैं तो अहंभाव की ही ढाँढी पीटते हैं, जैसे निम्बोली लदे नौम पर बैठे कोए सुध होकर काँव-काँव का शोर मचाते हैं।

और दुष्टान् देते हैं—किसी ने सुब स्वादिष्ट चूरस-भरी रसोई बनाई, पर उसे मिट्टी के लप्पर में डाल कर परोस कर रात के समय चौराहे पर रख दिया। तो इसे कौन खायेगा ? उसके चूरसों की, व्यञ्जनकला की परख-प्रशंसा कौन करेगा ? उसे कुत्ते ही उड़ायेगे व। फिर आपस में खोचा-तानी करते लड़ेंगे, भोकेंगे। ऐसे ही भक्तिहीन मनुष्य के जीवन में रूप-विद्या-कला आदि गुण भी दुर्गुणों का ही शिकार बनते हैं, उसका व्यक्तित्व विच्छिन्न हो जाता है। शोष आपस में लड़ते हैं, जीवन की दुर्गति कर डालते हैं।

[एक मित्र ने १९८० के श्री जे० कृष्णमूर्ति तथा सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री रेडिङ्गन के एक संवाद के कैसेट् मुझे दिये। सुनने पर कुछ मूलभूत बातें ऐसी मिलीं जिस तरह की बात अब तक श्री जे० कृष्णमूर्ति किया नहीं करते थे; उन्होंने कई बार मीन को व्यक्तिगत मन (individual mind) का सम्पूर्ण रीति से शान्त होना कहा था और कहते हैं। उसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। लेकिन ‘‘व्यक्तिगत मन जहाँ सम्पूर्ण समग्र रीति से शान्त हो जाता है वहाँ वैश्विक मानस (Univorsal Mind) जागृत होता है।’’ यह कहा है। गुरे संवाद में Universal Mind शब्द का अनेक बार प्रयोग किया है, एक बार Cosmic Mind की कहा है। यह वैश्विक मानस (‘‘Total unconditional Energy’’) है—यह ऐसी ऊर्जा है जो पूरी तरह से संस्काररूपक

[१२ वर्ष का बालक गीता का भाष्य करते बैठता है, योगेश्वर है, प्रेमेश्वर है, कबीरेश्वर है, साध ही बालक भी है न। वह बाल्युलम निरीक्षण का कोमल निखालस कौतुक भी बीच-बीच में झलक दिखा जाता है।]

भक्तिहीन के चित्त में दोषों की इतनी भोड़ हो गयी है कि वह स्वप्न में भी सुकृत नहीं कर पाता। चूरस जैसे मिट्टी के पात्र में डाल कर चौराहे पर रख दिये जायें तो कुत्तों का भोग बनते हैं, वैश्वे मनुष्य देह रूपी मिट्टी के पात्र में भीतर अमृतस भरा है पर उस देह से होने वाले कर्म भगवत्सत्ता के अनुसम्भान से रहित हों—बीधे अहंभाव से भरे हों तो दुर्गुणों की भोगस्थली बनता है औषध। रात्रि की नीरवता यानी अज्ञान के अन्धकार में, तन्त्रा-भूच्छा-जड़ता की रात में बहि-भुंकी इन्द्रियों के चौराहे पर—विषयों के सम्पर्क में—गुणों की रसता है तो वह मनुष्य मानों संसार के सब दुःखों की पुकार कर निमन्त्रण देता है कि घेरे यहाँ आओ।

उपर, कुल उत्तम नहीं, अत्यन्त के यहाँ जन्म हुआ हो, व्यथा पशु की ही देह क्यों न मिली हो। पर मेरा स्मरण करें तो मैं दौड़ कर जाता हूँ; सिंह ने हाथी के बच्चे को पकड़ा हो—यह आकुल-व्याकुल होकर मुझे पुकारे तो क्या मैं नहीं जाऊँगा ? क्या यह देखूँगा कि वह मनुष्य नहीं हाथी है। उसके प्राण मुझमें समायेने ही।

कहना यही है कि उत्तम कुल आदि सहजों गुणों की खान होने पर भी अन्तर्गत का जीवन व्यर्थ है, और पशुदेह में भी यदि मेरा स्मरण है तो उसका जीवन कृतायं हो जाता है। (श्रीवा ४३१-४०)

चेतना-रूप है। यह उन्होंने मीन का आशय बताया। फिर वे कहते हैं आने—कि यह जो वैश्विक मानस है, इसके भी आने कोई बीच है जो कार्य-कारण-सम्बन्ध (causation) में नहीं आती; उसके लिये शब्द का उपयोग किया है—“Which is the causeless ground of Existence.” यह जो सृष्टि की उत्पत्ति और संरचना है इसका अनादि, कारणरहित कारण जो मूल स्रोत है; वह समय और देश से परे है, कह कार्य-कारण-सम्बन्ध से परे है। वह ऐसी सत्ता है जहाँ न व्यक्तिगत मानस पहुँच सकता है न वैश्विक मन पहुँच सकता है।

यहाँ हम जो ज्ञानेश्वरी में भक्ति की बात सुन रहे हैं उसके साथ J. K. की इस बात का अनुबन्ध बैठता है, कि परमात्मा की जो सत्ता है, उसमें कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं है। हम अपने व्यक्तिगत चित्त से घटनाओं का अर्थ लगाना चाहते हैं, तो कार्य-कारण को बर्थादा में मानेवाली जो भौतिक जगत् को—नामरूप-आकार-युक्त जगत् में हमें वाली जो घटनायें हैं, व्यक्तिगत मन से एक हृद तक उनका अर्थ लगाया जाता है, पूरा अर्थ नहीं लग पाता। तो जो मीन में मुनि अवस्था तक गये, जहाँ वैश्विक चेतना उपलब्ध रहती है, वह जहाँ जिन्हें नित्य उपलब्ध है—ऐसे लोग घटनाओं का कुछ अर्थ लगाते हैं—अव्यक्त में छिपे हुये कारण कार्य को सामने लाते हैं। लेकिन सभी घटनाओं का पूरा अर्थ वैश्विक चेतना भी नहीं लगा पाती। जो कार्य-कारण-सम्बन्ध के क्षेत्र से बाहर (beyond the orbit of causation) है। यानी कार्य-कारण-सम्बन्ध के क्षेत्र से बाहर जो सत्ता है उसका अर्थ बुद्धि नहीं लगा पाती। अनेक घटनाओं के कार्यकारण-सम्बन्ध संसार के बड़े से बड़े विद्वान् या महा-योगी भी लगा नहीं पायेंगे ऐसी घटनायें होती हैं। वे ground of Existence में होती हैं। जहाँ आप कारण नहीं पूछ पायेंगे कि यह क्यों हुए ? और सवाल पूछने पर जबाब नहीं मिलता।

यह जो आद्य-अनादि विस्वोत्पत्ति का मूल कारण (causeless cause of creation) है, उसको यहाँ हमारे पूर्वजों ने परमात्मा कहा है। कारणरहित कारणरूप (causeless cause-ground of Existence) से जिसे जे० कृष्णमूर्ति कह रहे हैं, उसे ज्ञानेश्वर सार्वभौम सत्ता कहते हैं। प्यार से उसे परमात्मा, प्रभु, विष्णु कहा गया, वह कोई विशिष्ट आकार-नामरूप में समाई हुई व्यक्ति-विभूति नहीं। उपासना के लिए उसका किसी विशिष्ट नामरूप में अभ्यास कर लिया जाय यह विषय स्वतन्त्र है। यह जो परमात्मा के शरय में जाने की बात है—बहु कोई व्यक्ति नहीं जिसके घरणों में मस्तक रख कर आप शरण लेंगे। नहीं, वह जो सत्ता है—उसका भान कायम रहे। हम जो भी कर्म करते हैं, सम्बन्धों में व्यवहार करते हैं तब ऐसे कुछ फल, परिणाम आ सकते हैं जिनका हमारे कर्म से कोई कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं बैठता। ऐसे समय मनुष्य नञ्च होकर यही कह सकता है कि यह कैसे हुआ मेरे ध्यान में नहीं आता।—इतना कह कर व्यक्ति उन घटनाओं का स्वीकार करे—इसका नाम शरणगति है। समग्र जीवन का सम्पूर्ण स्वीकार ही अभ्यास है, यही भक्ति का मर्म है। जिसमें अपने चित्त में कोई शिकायत न रहे। जीवन की सभी घटनाओं का मर्म-अर्थ तो बुद्धि पकड़ नहीं पाती। भगवान् कह रहे हैं—“सभी कर्मों का फल तू मुझे अर्पण कर।” हमारे सामने तो कोई व्यक्ति नहीं है—तो किसे अर्पण करेंगे ? अर्जुन के सामने तो बासुदेव खड़े थे। वह अर्जुन और कृष्ण के बीच हुआ द्वारपर युग का ही संवाह होता—जिसकी आज के जीवन के साथ कोई संगति नहीं होती, तो न गीता पढ़ी जाती न ज्ञानेश्वरी कही-सुनी-पढ़ी जाती।

हमारे सामने वे एक शरीरधारी बासुदेव भले ही न हों, पर “सर्वभूतनिवासी बासुदेव” तो हैं ही हैं। जब जीवन में कहीं कोई अर्थ नहीं लगा पाते, कार्यकारण-सम्बन्ध नहीं बैठता पाते तब “जिसे हरबरेच्छा !” कह कर स्वीकार करें। ईश्वर को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र कहा है तो उनकी सत्ता में जो घटित होता है उसका स्वीकार करें। वह मृत्यु हो, विमोग हो, दुःख हो, अपमान हो ! स्वीकार करना यानी चित्त में कटुता न रहे, विषाद न रहे, आत्मग्लानि न हो, आत्मदया न हो। किसी के प्रति प्रतियोग की भावना न हो ! यह “स्वीकार करना” बहुत बड़ी बात है। भक्ति नाम से यहाँ जिस तरह का उल्लेख ही रहा है, उसका मर्म में यह “स्वीकार” !



इसका यह अर्थ नहीं कि अन्वय का प्रतिकार न करें ! पर मन में धिक्कावत न हो कि “मेरे साथ यह अन्वय क्यों हुआ ? या सज्जनों के साथ अन्वय क्यों होता है ?” ऐसी सिकावत चित्त में हो, या प्रतिघोष की भावना हो तो प्रतिकार को धत्त घट जाती है ।

आज चल रहे विषय में—सर्वभूतनिवासी परमात्मा की सत्ता, उसका वरण, उसकी धारण—की ओर चित्त की भाषा है वह आज के आधुनिकतम विज्ञान के साथ एवं आज के सर्वश्रेष्ठ अनुभवी दार्शनिक चिन्तक के साथ भी कैसे मेल खाती है—यह संक्षेप में आपके सामने रखा । पहले भी एक दिन प्रसंग आया था कि जिसे ब्रह्म पदार्थ—matter, substratum of matter कहते हैं वह क्या है ? इसमें से energy कैसे निकलती है ? तब वैज्ञानिक ने कहा कि—“A particular particle of matter gets activated by its own will !” मैंने पूछा कि मत जह पदार्थ में अणु में “will” (इच्छा) कहाँ से आई ? तो वे बोले कि हमारे पास इसका कोई शब्द नहीं है कि क्यों कोई अणु क्रियाशील हो जाता है ।

“In the substratum of the matter some particles on their own, of their own free will, get activated,” उन्हीं में से फिर manifestation होता है । आप Physicist की बात लें या Metaphysics की बात लें या फिर हमारे सन्तों की भाषा लें—एक ही सत्य तक पहुँचना पड़ता है कि जीवन की सभी घटनाओं के अर्थ हमारे कार्यकारण-सम्बन्ध की मर्यादा में नहीं बैठ पाते । वहाँ व्यक्तिगत चित्त तक की बातें आती हैं, लेकिन उससे परे, बुद्धि से परे वे लागू नहीं पड़ती हैं । तर्क-युक्ति वहाँ नहीं चलती । इसलिये वहाँ के सवालों को फिर “गलत सवाल” (wrong question) कहना पड़ता है ।

बच्चिये भावस चलें ज्ञानेश्वर महाराज के पास । आठ सौ वर्ष पहले की भाषा, तबनुरूप दुष्टान्त-उपमा-रूपकादि में गुंथा हुआ जीवन का अहान्-तत्त्वज्ञान है ज्ञानेश्वरों, और उसके द्वारा अद्वैतमृतवर्षियों भगवद्गीता का मार्गचं सामान्यजन तक पहुँचाना गया है ।]

हे किरिटी सभाजि जिन्हें अक्षय से अक्षय कहूंगा ऐसी शक्ति में उस व्यक्ति का जन्म क्यों न हुआ हो ! जिनका नाम लेने से भी दाभी भ्रष्ट हुई—ऐसा माना जाता होगा ! ऐसी वापयोनि में जन्म हो, पत्थर जैसे जड़ मूर्त हों ! उनको भी पता नहीं कैसे संयोगवश मेरी सत्ता का भाग हो जाता है और मेरे प्रति प्यार हो जाता है । तो वे अवमाषम जाति के हों, मूर्ख, नादान, पत्थर जैसे जड़मति हों, लेकिन उनका सब प्रकार से दुर्बलाव मेरे प्रति हो जाता है कि “प्रभु मेरे हैं मैं उनका हूँ” वे प्रभु ओ भी करें हमारे जीवन के साथ बह मंजूर है । ‘प्रभु जो चाहें वह करें’ ऐसे सर्वभाव से वे दुर्बल हो गये हैं । और फिर जिनकी बाणी में मेरी ही बात रहती है । मेरे ही नाम का उच्चारण होता है । उनके सामने जो भी आ जाये उसमें उन्हें मेरा ही रूप दिखता है ।”

[अनेक ऐसे महात्मा होंगे, मैंने जिन्हें बचपन में जब से समझ लगी तब से यानी आधु के तीसरे-चौथे

वर्ष से देखा—वे मेरे मातामह (नाना) परम भक्त थे । उनके सामने हमारी नानीजी आतीं तो कहते “कहो रामप्यारे ! क्या कहना है ?” नौकरानी आतीं तो भी यही कहते “कहो रामप्यारे क्या काम है ?” उनके बेटे (हमारे मामा) उनके पास जाते तो “कहो रामप्यारे ! कैसे आना हुआ ? क्या बात है ?” और नौकर या माली, सर्वसंजता तब भी “कहो रामप्यारे क्या बात है ?” उनके मुँह से दूसरा सम्बोधन कभी मैंने सुना ही नहीं । मैं ७-८ वर्ष की हुई तब एक बार उनसे पूछ ही लिया कि “नानाजी ! यह क्या ? आप हरेक को ‘रामप्यारे’ कहते हैं !” तो वे हँस कर उत्तर देते “हरेक की आँख में मुझे मेरे प्यारे राम दिखते हैं इसीलिये मैं सब को रामप्यारे कहता हूँ ।” बड़े प्यार से कहते ।]

[“उनकी बाणी में मेरा ही नाम रहता है” इसका यह अर्थ नहीं कि हर समय हाथ में माला लिये बैठते हैं । नहीं, वे तो हर समय सामने बाया काम करते रहते हैं, खेती, मजदूरी, धन्या, जो भी

आधौबिका-साधन हो वह मलीमाँल करते हैं, कैफ़िन की-की काम सर्वेन्द्रियों से वे करते रहेंगे उद्यम मान है प्रभु का; अनुभवान हैं प्रभु के साथ। उसी को हर रूप में देखने की साधना है।—

“मोठा तेरा रूप, मोठा तेरा नाम।  
देते मुझे प्रेम, सर्वकाल ॥”—

पाते है। उन्त एकनाथ सब आहू प्रभु का मधुर रूप कैसा देखते थे—जानते हैं न ! काशी से गंगाजल काँवर में लिये जा रहे थे रामेश्वरपुर पर बढ़ाने। बाधा रास्ता तप कर चुके है। गर्मी के दिन है, रास्ते में देखा एक गधा प्यासा है छटपटा रहा है। तो वहीं गंगाजल उस गधे को पिला दिया। साथ के लोग चिल्लाये लगे “अरे-अरे ! यह क्या किया ? गधवान् को बढ़ाने ले जा रहे थे वह गंगाजल गधे को पिला दिया ?” बोले—“क्या कर्के धरे प्रभु से यह गधे का रूप ले लिया !”—छटपटाते गधे में भी प्रभु का रूप देखने की शक्ति ! यह बहुत बड़ी शक्ति है। हम पागलों की बिराहरी का यही रास्ता है।

“तेरा रूप मधुर, तेरा नाम मधुर !” कहने में किसी मन्दिर में बैठ कर मूर्ति को नहीं सुनाना है। हर नाम में, हर रूप में प्रभु का माधुर्य देखने की शक्ति है वह। इत्येक सम्बन्ध में, मानवीय-अध्वहार में उस माधुर्य का अनुबन्ध जोबे का यह पथ प्रशस्त किया गया है। बाणी में मेरा ही आलाप रहसा है, जहाँ भी दृष्टि जाती है वहाँ मेरे ही रूप का सेवन होता है। जिनका मन मेरे ही विषय में संकल्प करता है, जिनकी इच्छायें, विचार मेरे ही लिये उठते हैं। मेरे ही संकल्प का बहान करते हैं यानी—“हैं प्रभु सामने आया कार्य मेरी पूरी शक्ति-बुद्धि से जैसा समझ में आया और बन पड़ा वैसे किया है, आगे आपकी जैसी इच्छा हो—वही हो।” यह नहीं कि प्रयत्न किये बिना हाथ पर हाथ धरे निठल्ले बैठे रहें। प्रमादी व्यक्ति को प्राणना का अधिकार ही नहीं है। भक्त शक्तिपर प्रयत्न कर लेता है, उससे काम न बने और शक्ति भी न रहे उस अधोर होकर कट्ट नहीं बनता। आत्मपथा में नहीं जाता। आनन्द से मस्तो से कहता है कि “यहाँ तक आ

पाया—अब आगे आपकी मर्जी, जो करना हो सो कीजिये !” यह कहने की ताकत (Robustness) आनी चाहिए मनुष्य में। अपनी तन-मन-बुद्धि की पूरी शक्ति लमा दें, फिर जहाँ वे ठिठक गये वहाँ यह कहे कि—“अब आपकी जैसी मर्जी !” तो व्यक्ति भीतर सिक्कड़ नहीं जाता—(Life does not get closed in) अपनी मर्जादाओं में छटपटाते नहीं, बल्कि मस्तो से कहते हैं कि हम से जो हो सकता था कर गुजरे, आगे प्रभु जानें। (Do the best & leave the rest to the Devine) यह जो एक शैली है जीवन जीने की—उसे भक्तियोग नाम दिया गया। उसी शैली का वर्णन चल रहा है।]

जिनके कान मेरी कीर्ति के सिवा कुछ सुनते नहीं। प्रभु के बारे में मा प्रभु के भक्तों के बारे में ही सुना करते हैं। हमारी आनन्दमयी भी कहा करती थी—“हरिकथा क्या अन्य सब बुधा अय्या” हरिकथा ही कहने-सुनने योग्य बात है, अन्य सांसारिक बातों या गपधप से कष्ट ही होने बाधा है, उसमें जीवन नष्ट मत करो। जीवन में बुधा कष्ट मत सहन करो। तुम सरसङ्ग किया करो ! हरि का नाम गाओ, हरि का रूप देखो, हरि की बात कहो-सुनो !

“सन्त चरित परम पवित्र प्रेम से वर्णन करो !”

उससे चित्त की गुड रखने में मदद मिलती है। जैसा संग-बैसा रंग चित्त पर चढ़ता है।

“ससङ्गत्वे निरसङ्गत्वम् ।

निरसङ्गत्वं निरमलत्वम् ।

निरमलत्वे निश्चलबुद्धिः ।

निश्चलबुद्धौ चित्तं धृष्टिः ॥”

निरसङ्ग होबे पर चित्त कहीं चिपकता नहीं। सुख में नहीं, दुःख में भी नहीं। दुःख में चिपक कर आत्ममलानि-आत्मबया नहीं, और सुख में चिपक कर उसमें से उन्माद नहीं। यह निरसङ्गता का अर्थ है।

वैतमय जगत् में रहते हुए भी कहीं न कहीं चिपक कर, द्रन्द बनाये बिना (यह पदन्त यह नाप-

सन्द, यह माता है वह नहीं।” आदि राग-द्वेष का जाल पसारा खड़ा किए बिना) भोज से चले जा रहे हैं। रास्ते में जो आया—सुख या दुःख, उसमें से धान से गुजर रहे हैं—“सत्सङ्गत्वं निस्सङ्गत्वम्” सत्सङ्ग करने से ऐसी निस्सङ्गता से जीने की शक्ति आती है। ऐसा निस्सङ्ग जीवन जीने से निर्मलतत्व का बोध मिलता है। [१”]

जिनके अङ्गों का भूषण है मेरी सेवा। जिस रूप में भी सामने जो भी दिखे उसकी सेवा करने में शरीर की कृताघंता अनुभव करते हैं।

मदर टेरेसा घूमती हैं न सड़कों पर। कि जो बरणोन्मुख अशुद्धाग्र पड़े हों उन्हें गान्ति से मरने की सुविधा कर दें। अन्त समय कष्ट सहने में मदद कर दें, कोई उनके पास बैठना पाना का बूट पिलाने वाला हो। [१”] जो भी कर्म प्रभु की सेवा की भावना से किया जाता है उसे भक्ति कहा। भक्ति को व्याप्त जीवन-व्यापिनी है।

जिनका ज्ञान (विषय नहीं जानता) मुझे ही जानता है यानी जिनकी बुद्धि रातदिन विषयों का चिन्तन नहीं किया करती, [विषयों का ज्ञान जितना शरीर-धारणा के लिये आवश्यक है उतना सुसम्प-सुसंस्कृत रीति से मनुष्य ले; पर उन्हीं के चिन्तन में लमा न रहे। विषयों की आवश्यकता इन्द्रियों को बहुत धोड़े समय के लिये रहती है। शरीर के लिये अन्न, वस्त्र चाहिये, सुषुप्ता से वह यथासमय दे दें। फिर दिन भर उन्हीं का चिन्तन न चले। आहार-बिहार-निद्रा-कामोपभोग सभी उपभोगों की इन्द्रियों की शक्ति मर्यादित है। लेकिन बुद्धि व मन उन विषयों का चिन्तन रातदिन करते रहते हैं, मर्यादित उपभोग-शक्ति वाली इन्द्रियों के विषयों में विविधता पैदा करने के जोड़तोड़ में शक्ति खर्च करते रहते हैं।

Proliferation in the consumer goods is the content of the human consciousness today in the industrialised civilisation.

तथाकथित औद्योगिक विकसित संस्कृति वाले उन्नत समाज में एक ही वस्तु है दुनियाँ में कि शरीर और मन को अधिक सुख-सुविधा कैसे दें? तो जो इन्द्रियों के विषयोपभोग के सामान हैं उनको अधिक-अधिक निमित्त में, उनके आधार में, उनके बाजार बनाने-बनाने में, उनकी मण्डियाँ खोजने में, दुनिया लगी हुई है। आर्थिक साम्राज्यवाद में पड़ा हुआ है मनुष्य।

मन और बुद्धि जो विषयों का चिन्तन करते रहते हैं उसी में बन्धन है। इन्द्रियों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में बन्धन नहीं है। यह तो मर्यादित है, सीमित है। लेकिन मनुष्य की बुद्धि उसे बढ़ाती रहती है, दूसरों को उसमें प्रवृत्त करने के लिये। उद्योग-धन्धे व्यापार-व्यवसायों को ही-व्यापार बना कर खड़े है। उपभोगपरायण, पचासपरायण संस्कृति है—इसमें जोवन की रसिकता लीन होती गयी है। यह नहीं कि आवश्यकता की पूर्ति कर ही और चित्त उससे मुक्त हो गया—विश्व के बारे में, विश्वाधार के बारे में चिन्तन करने लगा। विश्व के साथ अपने सम्बन्ध को सोचने के लिए समय ही नहीं है। २४ घण्टे बर्हा चक्र चल रहा है। कोल्ड में बेल की तरह मनुष्य घूमता है। उसी में और बढ़ावा देते हैं प्रचार-साधन—विज्ञापन, साहित्य, रेडियो, टी० वी० इत्यादि।

इधर भक्त की बात कही जा रही है कि जिनका ज्ञान विषयों का चिन्तन अनावश्यक-अनुचित रीति से करना जानता हों नहीं। जरा समय मिला कि विश्व के बारे में तोचता है—यह कैसा अद्भुत खेल है प्रभु का! कैसा अद्भुत शरीर और निसर्ग बनाया है प्रभु ने! इस अद्भुत रंगमहल में जीवों का अपने को अवसर मिला है कैसी अनुकम्पा है प्रभु की। जीवन जीने का अवसर मिलना, जीने का सामान उपस्थित मिलना, जीने के लिए इन्द्रियों की मरब मिलना, कितना बड़ा अनुग्रह है प्रभु का। चित्त-बुद्धि-इन्द्रियों-सुन्दर संरचना से सजा-भजा शरीर और संसार! यह यदि अनुग्रह नहीं हो तो और क्या अनुग्रह होगा? इन सबके साथ और इन्हें बनाने

वाले परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को खोजने में मनुष्य लगे। यह संस्कृति कहती है कि अपने भीतर चली और जीवन के रहस्य खोजो !

आज क्या खोज रहा है मनुष्य ! विज्ञान की धौड़ किधर है ? कैसे इस घरीर को अधिक जिलाया जा सके ? इन्द्रियों को भोगभ्रमता कैसे बढ़ाई जाय ? ...कल एक समाचार पत्रा अमेरिका का—एक तीन महीने की बच्चों का हृदय खत्म हो रहा था तो ऑपरेशन करके उसे निकाल दिया, उसकी जगह बन्दर का हृदय लगा दिया ! बन्दर के बच्चे को मार दिया, उसका हृदय उस बच्चों में लगा दिया ! किसी के गुर्दे, किसी की आँखें, किसी के फेफड़े, किसी का लिम्बर निकालकर और कहीं लगा दो, भेद-बकरी-कुत्ते से भी ऐसे मोतरी 'अंग निकाल कर कहीं बँटा दो ! किसी का पून ले लो ! यह भी कोई जीवन जिलाना हुआ ? मनुष्यों को जिलाने के लिये मारने हेतु खास बन्दर पाले जा रहे हैं । ...दूते जिजीविषा कहना है ? कैसी लालसा है देह की अवधि बढ़ाने के लिये ? ऐसे यह पदार्थ-वराण संस्कृति एक नोभरसता की तरफ ले जाती है ।

जीवनपरायण संस्कृति कहती है—चित्त व बुद्धि को शुद्ध करने, इनके कारागार से मुक्त होकर, संस्कारों से भी मुक्त होकर आगे चलो । ऐसे जीवन को ही वे जीवन समझते हैं अन्याया परण ही मानते हैं ।

जिस मनुष्य को सत्सङ्ग न मिले, मेरे बारे में सोचने-समझने-सुनने को न मिले उसे लगता है कि इस जीवन से तो भीत बपछो । हे पार्थ वें किसी भी मोति में अन्ने हों सर्वभाव से मुझमें जो आश्रित रहते हैं वे मद्गुरुप हो गये हैं । उनमें व मुझमें कोई अन्तर नहीं । मेरे ही आचार से उनके पञ्चप्राण टिकते हैं । वे पापयोगि में हों—धृतापोत न हों, लेकिन मेरी तुलना में वे मुझसे न्यून नहीं । उनमें ऋटि नहीं; मुझसे कुछ विशेषता ही उनमें मिलेगी । क्योंकि मैं तो सर्वव्यापी हूँ—वे बेचारे साठे तीन हाथ के देह में बैठे हैं, उसमें बैठे हुए उन्हें किसना सहन करना पड़ता है तब भी उनका मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सब अभि-

मुख हैं—व्याप्ति के; वृत्तवर्णता के अभिमुख नहीं । यहूराचार्य ने आत्मा को व्याख्या में कहा है कि अत्मभाव के सञ्चाप से अहंमन्य का निर्माण होता है । व्याप्ति की तरफ जाना यानी अहं के उच्छेद को ओर जाना; और अहङ्कार को पालने-पोसने-लाह लड़ावे की ओर जाना यानि अहङ्कार को ग्रन्थि, बुद्धि का कारागार और मन नाम के कारागार-अमुख के अधीन रहने को बात है ।

देह में, मन में, वैदिक मन में भा रहते हुए उससे आगे जाने की यह नाश है । आज यह भारत में देखने को नहीं मिलता है, लेकिन वैदिक संस्कृति अवश्य मनुष्य को सद्गुण स्वाध्याय-वेत्तना को स्वाध्याय-ध्यानता को संस्कृति रहो होगी । जिनको चेतना स्वाध्याय नहीं, जिनको चेतना, मन-बुद्धि, बद्ध-वराध्याय है, कारागार में है, उनका रात्रनेतिक स्वाध्यायता किस काम को ? यह चैतनिक स्वाध्यायता ही मानविय संस्कृति और उन्नति का रहस्य है । ]...मेरी तुलना करने जाओगे तो वे मेरे मक हो श्रेष्ठ निकलेंगे । क्योंकि मैं तो सर्वव्यापी निर्गुण निराकार हूँ । मुझे कुछ भी सहन नहीं करना पड़ता । लेकिन उन्हें तो मेरा नाम लेवे, मेरी बात करने से भा (भकां का) अपार कष्ट सहन करना पड़ता है, सब मा वे मेरा नाम, मेरी कथा छोड़ते नहीं ।

[क्यों शूली पर चढ़ाया गया ईसा को ? यही तो कहा था न कि "मेरे प्रभु का पिता" का यह साम्राज्य है, मैं और मेरे पिता एक हैं ।" वे अपने पिता-परमात्मा की ही बात करते थे । सुरात को जहर पिलाया गया क्यों ? वे भी यही कहते थे कि सभी साम्राज्यों से और सरकारों से बहकर ऐसी एक परम-ब्रह्म सत्ता है जहाँ सरकारों को सत्ता नहीं पहुँच सकती । वे युवकों को यही तो समझा रहे थे ! स्वाध्यायता का—लोकतन्त्र का अर्थ क्या रहे थे । ... यही तो कहते थे गांधीजी कि विज्ञान से पहले जो कुछ था इस देश में उस पर हक है मुसलमानों का ! तो ५२-५५ करोड़ उनको मिलने चाहिये । झगड़ा करके वे अलग हो गये तो क्या ? देव की पूंजी में से उनका हिस्सा उन्हें मिलना चाहिये । समता की ही

तो बात कर रहे थे ! लोगों के मन में हिन्दू-मुसलमान का भेद था, बापू के मन में दोनों भाई थे, और भाई को भाई का हक मिलना चाहिए—यही कहना उनका गुनाह हो गया ! ]

ऐसे मेरे भक्तों को कितनी सजा भुगतनी पड़ती है पार्थ ! मुझे कुछ भी भुगतना नहीं पड़ता ! इसीलिये कहता हूँ कि मुझसे मेरे भक्त श्रेष्ठ हैं । (ओवी ४४१-१०)

प्रह्लाद का जन्म दैत्यकुल में हुआ था, लेकिन उसको पुकार कर मैंने नृसिंह-देह धारण की । आधा पशु आधा मनुष्य बन कर मैं प्रकट हुआ । देवों को सहायता के लिए भी मैं उस प्रकार नहीं गया जिस प्रकार दैत्य-बालक के लिये दोग कर चला गया । मेरी भक्ति की बात नहीं, मेरे प्रह्लाद का चरित्र जो गर्वशा उसको भी बड़ी फल मिलेगा जो मेरी भक्ति या सेवा करने से मिल सकता है । मैं तो अव्यक्त-अनाम अरूप हूँ, मेरी भक्ति तो केवल अनु-सन्धनात्मिका हो सकती है; मेरे भक्त तो प्रवक्ष्य देहधारी हैं ।

इन्द्र देवराज होने के बावजूब मुझ से वह न पा सका जो प्रह्लाद ने पाया । इसलिये कहता हूँ कि जाति अप्रमाण है । यहाँ तो एक भक्ति ही काम करती है । मेरे पास कबर-कीमत बरण धारणागति की है, अनन्यता की है; और किसी चीज की नहीं ।

चमड़े के टुकड़े\* पर भी राजाशा के अक्षर मुद्रा अंकित हो तो वह चमड़े का टुकड़ा ही मूल्यवान हो जाता है । उस मोहर की छाप को कीमत होती है जिससे सोना-चाँदी खरीदने के लिये भी वह चमड़े का टुकड़ा ही काम आता है । मेरे भक्त भी तो और सब मनुष्यों के समान हाडू-भांस के शरीरधारी ही होते हैं पर उनके हृदय में मेरा नाम-मेरी श्रद्धा-मेरे प्रति प्रेम अङ्कित रहता है इसलिये उनके कुल जाति आदि की कोई पर्यादा नहीं रहती—वह मेरा सत्त्व उनमें अङ्कित होने से मेरे सद्गुण ही से होते

है । मेरे भक्त का जो मोल है वह और किसी में नहीं; शैलेश्वर का वैभव एवं समस्त सद्गुणों-विद्याओं-कुल-शील आदि का भाण्डार मेरे भक्त के सामने तुच्छ है, नगण्य है । जिसके चित्त पर मेरे नाम की मुद्रा अङ्कित है बड़ी श्रेष्ठ हो गया, वही भक्त है, शिष्ट है, कुलोन्न है, सब प्रकार की उत्तमता उसी में है ।

संसार तरने के लिए देह की उत्तमता काम नहीं आती । वह तभी काम लगेगी यदि चित्त पर मेरे नाम की, मेरे प्यार की मोहर लगी हो । तभी सर्वज्ञता काम आयेगी । सम्बन्धों की लहरों तूफानों में से सहोत्सलमत पार उतरना हो तो कोरी सर्वज्ञता बिफल रहेगी, वह तभी सम्भव होगा यदि चित्त पर मेरे नाम की, मेरे प्रेम की मोहर लगी हो ।

अद्वैतबोधोपनिषत्कथास्याः

वेदान्तसिंहासनलक्ष्यगोठाः ।

शठेन केनापि वयं हृटेन

वासोक्ताः गोपबधुषिटेन ॥

—मधुसूदन सरस्वती

[अद्वैत की गलियों के पथिक (साधक जिज्ञासु) जिनकी उपासना करते हैं, वेदान्त के सिंहासन पर जो सुप्रतिष्ठित हैं—ऐसे हमको भी किसी शठ ने, जो गोपबधुओं का लम्पट है उसने हठपूर्वक हमें अपना वास बना लिया !] वाराणसी में संन्यास समग्र गङ्गा-तट पर धूमते हुए मधुसूदन सरस्वती के उत्तरीय को एक शटका देकर विषय नील तैजोमय कोई बालक (नटखट नन्दलाल) भाग गया ! और शरमवेदान्ती संन्यासी का हृदय व्याकुल होकर उसका वास ही बैठा ।

नटखट नन्दलाल सीधे से टी आते नहीं, चलते नहीं ! सदा बाँकी नजर तिरछी अदा ही तो रहती है । ऐसी ही अदा से उत्तरीय को शटका देकर एक झलक दिखा कर फलते बसे ! और वृद्ध संन्यासी का शरमवेदान्ताचिन्तन ठिठक गया । व्याकुल हृदय पुकारते

\*. धामय उस समय चपड़े के टुकड़ों का शिकका चलता हो, या एक बार के मिश्रती के राजा का दृष्टान्त लिया ही ।

लगा—यह कौन ? यह कौन ? उत्तरीय को तो क्या उनकी चेतना को ही झटका लग गया ! दूसरे दिन पाठशाला में आसन पर पहुँचते हैं तो, 'नन्दलाल' 'नीलम्बोधि !'—'बनस्पति' के सिवा कुछ बोल नहीं पा रहे हैं। वह कौन था ? कैसा बाया ? जरा सी भुख को झलक दिखाई न दिखाई कि अन्तर्धनि हो हो गया। (सच ही तो उन्हें प्रकट होने से अन्तर्धनि होने की कला ज्यादा सघी है।) 'बरा' रह गया वेदान्तचिन्तन। 'अद्वैतसिद्धि' ग्रन्थ का उत्तरार्ध लिखने बैठे तो मंगलाचरण में लिखा गया—

“बंशोत्रिभूषितकरासवनोरश्वाभत्  
पोताम्बरापदरगविम्बकलाधरोष्वात् ।  
पूर्णसुन्दरमुखादरविन्दनेनात्  
कृष्णात् परं किमपि उत्तमहं न जाने ॥”

इससे पहले भी तो नबहीप के प्रकाण्ड नैयायिक निमार्शपूर्णपिंड का बहो ह्याल-बेहाल हुआ ही था।

“मूँब मूँहाय बीच कटि बोरी भाये मोहन टोपी,  
कृष्णचन्द्र बन गये हरि गौरा चैतन्य नाम पराय रे ।  
अब तो हरि नाम लो लागी रे लागी ।  
हरिनाम लो लागी !”

...ज्ञान के भाये एक ऐसी सत्ता है प्रेम की ! उस प्रेम की सत्ता का स्पर्श होता है तो मनुष्य को चेतना का हो कयापलट हो जाता है।

(The human consciousness changes radically.)

...यह सब याद आता है—महाराज के 'सर्व-जता' शब्द से। कहते हैं—] सर्वज्ञता तभी काम आती है जब मेरे प्रेम का स्पर्श होता है। देह के उत्तमत्व की भीतर से नाम का स्पर्श होता है। मेरे प्यार से मन-बुद्धि छलछल मर कर छलकने लगते हैं। अपनी मर्यादाओं को समझ लेते हैं मन-बुद्धि। इससे अपार विनम्रता, श्रद्धा आ जाती है, बहो प्यार की तरफ उंगली पकड़ कर ले जाती है।

बुद्धि को जब तक अपनी मर्यादा मालूम नहीं, तब तक वह अहङ्कार की उद्वृष्टता का षण्ड लेकर घूमती है कि मेरे जैसा कोई नहीं। पर जहाँ अपनी

मर्यादा का भान आगा कि वह उद्वृष्टता काफूर होकर विनम्रता आती है। Uncultivable humility ! वह जो नम्रता, निश्कलता श्रद्धा (innocency) है। बहो प्रेम का स्पर्श है। अपने से आने कोई है—इसका भान मिला। मैं यमार्थित हैं मुझसे कहीं अधिक व्यापक कुछ है—यह मालूम हुआ, यानी उस व्यापि की आहट लग गयी न ! उसके पगरव सुनाई दिए।

—इसी को कहा है कि] हे अर्जुन जब मनबुद्धि मेरे प्यार से भर जाते हैं तभी सर्वज्ञता काम आती है। देह का उत्तमत्व काम आता है। तब तक सब व्यर्थ रहता है। सार्वकता एक हो बीच से होती है—'मेरे हो जाना !' जो अपने मिट गये, मेरे हो गये ! अपने मिट जाना यानी क्या ? 'मैं मैं' करने वाली 'अहंघ्निय' का पिघल जाना। वह अहंघ्निय ही इन्द्रियों द्वारा विषयों तक जाकर 'इयं मम' 'यह मेरा, वह मेरा' का पसारा बटोरती है। अहं की बटोरना अच्छा लगता है, आत्मा को लुटाना अच्छा लगता है। वह अहंघ्निय पिघल कर विषयों को बटोरने के बजाय एक बार कह देता है—'प्रभु मेरे मैं प्रभु का !' तब जीवन सार्थक होता है। 'प्रभु को जो करना है वह मेरे जीवन के साथ करें। उन्होंने जो दिया है उसका उपयोग मैं शक्तिभर करटा रूँगा।' ऐसे जो निरिचन्द, निभय, अभय हो आते हैं।

यह भक्ति का अर्थ कोई बताता नहीं। सामान्य रूप से यही कहा जाता है कि भंभीरा-करताल-चौलक लेकर मन्दिर में बैठे कीर्तन किया करो; धर की उपेक्षा करो, काच की उपेक्षा करो, सारे जीवन का उपेक्षा करो। और 'प्रभु' के नामों-भूतियों या गृह-सम्प्रदायों के नाम पर झगड़े-क्रुसाद किया करो ! मेरे गुरु बड़े, मेरे भगवान् बड़े !...ऐसा भक्ति का अर्थ बिकृत हो गया है। शब्दों पर शतकी की, परम्पराओं की धूल षड़ गयी है। इसीलिए फिर कोई कहते हैं फेंक दो इस सबको।

नहीं, भक्ति का अर्थ-उत्त्व सम्भो, उस पर चढ़ो धूल की ट्टा दें। शून्य एकनाथ महाराज का हो, सुकाराम की गाथा हों या सन्तज्ञानेश्वर के शून्य हों !

उन पर बड़ी परम्परा की घुल झटक कर मूल अर्थ-  
आशय को प्रहण करे।] (श्रीकी ४५१-५६)

चाहे जिस जाति-वर्ण के वे हों; वे जब अपने  
मन-बुद्धि को लेकर मुझमें प्रवेश करते हैं, तो पहला  
सारा भूतकाल घुल जाता है। पहले जो मूलें हुई  
हों, अपराध हुए हों, सब घुल जाते हैं। भक्ति के उदय  
के पूर्वक्षण तक जो कुछ किया गया उसको भूलने की  
शक्ति भी तो होनी चाहिए। हम ठो पकड़ कर रखते  
हैं भूतकाल की!—“मेरे साथ ऐसा हुआ था, मैंने  
यह नहीं किया था, मुझे वह भोगना पड़ा……”  
—ऐसे अपने भूतकाल को—वहकार को चेष्टाओं या  
पकड़ कर रखते हैं वे भक्ति में प्रवेश नहीं पाते।  
प्रभु कहते हैं जिन्होंने मन-बुद्धि-सहित मुझ में प्रवेश  
किया उन्होंने भूतकाल में क्या किया था यह पूछने  
में जाता ही नहीं। उनका वर्तमान ही मैं देखता हूँ।  
वर्तमान को देखते हुए ही उनके लिये जो करना है  
वह मैं करता हूँ। उनके हाथ से पूर्वान्धन में क्या  
हुआ था उसको याद नहीं करता। (लग प्रारम्भ  
की बात करते हैं, उसमें से लघुताग्रन्थ बनाते हैं,  
यहाँ महाराज कह रहे हैं कि एक बार जो मनुष्य  
जाग गया उसने आगने से पहले जो किया था वह  
उसके धर्म में बाधा नहीं बनता है। परमात्मा का  
नाम लेने पर मनुष्य शुद्ध हो जाता है—यह जो  
कहते हैं वह तब जब मनुष्य प्रभु का नाम लेकर  
उसमें मन-बुद्धि-सहित लीन हो जाय, तो प्रभु उसके  
पहले के कृत्यों की कीमत नहीं आँकते है।

अर्जुन! गंगा में कितनी उपनदियाँ, मिलती  
हैं रे! कितने झरने, नाले आ मिलते हैं। उनके  
कितने स्थानीय नाम होते हैं पहले; लेकिन जब वे  
जाकर गंगा में मिल गये तो सब गंगा रूप हो गये।  
“हरिता जब सागर में आ मिलती है तब उनका  
‘नदी’ नाम मिट जाता है”—वैसे जिन्होंने मेरा  
नाम लिया, मुझ में लीन हो गये वे भक्त हो गये।  
“भक्तों की सत्तों की जाति न पृच्छे”—इसीलिये कहा  
जाता है। क्योंकि वे तो हाररूप हो गये।

बबूल-नीम-खैर-खन्वन-आदि काष्ठों की पृथक्ता  
ब भेद तभी तक रहता है—जब तक अग्नि में पड़ें

नहीं। तब तक उनका जो गुणवर्णन व मूल्यांकन  
करना हो वह कर लें। जब अग्नि में उन्हें डाल  
दिया तो सभी समान अग्निरूप हो गये।

सन्धिव-वैष्य-शूद्र-त्रिद्या-अन्यत्र ऐसे अलग-अलग  
जाति कर्म या रूप का निरूपण तभी तक किया  
जा सकता है जब तक मेरे नाम में उनका प्रवेश  
नहीं हुआ। मेरे प्रेम में उनके हृदय-मन-बुद्धि निमग्न  
हो जाने पर तो वे रहे केवल ‘भक्त’। भक्ति की  
अवस्था से पहले की उनकी विभिन्नतायें नगण्य हो  
जाती हैं। उनकी जाति और व्यक्तिगत गुणदोष  
शुण्य हो गये, उस सबको कोई कीमत न रही, घुल-  
पूछ गये।

अरे पाप! जैसे सागर के पास नमक के डले  
लेकर गये; वह लाहौरी नमक है कि पहाड़ी है या  
सैन्धव है—ये सब भिन्नतायें तभी तक देखी जा  
सकती हैं जब तक नमक सागर में पड़ न गया हो।  
फिर तो वह सागररूप हो गया।

नद-नदियों के नाम, उनके आने की पूर्व-  
पश्चिमादि दिशाओं का भेद तभी तक है जब तक  
वे सागर में मिल न गये।

कोई लोहे के टुकड़े पड़े हैं, उनमें से किसी को  
कोई बड़े प्रेम से पारस से छुआ देता है और कोई  
क्षोष से लोहे को पारस पर पटक देता है—दोनों  
ही समान रूप से सोना बन जाते हैं। ऐसे किसी  
भी निमित्त से मन-बुद्धि मुझ में आ लगे, मेरा नाम  
किसी भी भाव से लिया जाय—प्रभु से या द्वेष से;  
एक बार नाम का स्पर्श हो गया कि परिणाम भक्ति  
होने ही वाला है। लोहे का टुकड़ा पारस पर पटका  
जाय या प्रेम से छुआया जाय—परिणाम एक ही  
होगा—लोहे का सोना बनना। क्योंकि वस्तुशक्ति  
अपना काम करती है। भैसे ही मेरे तत्त्व की वस्तु-  
शक्ति है जो काम करेगी ही। मुझ से सम्बन्ध  
बाँधो—वैर का या प्रेम का। किसी भी तरह से  
सम्बन्ध बाँधोगे तो चित्त मुझ में प्रवेश कर जायगा।  
बस इतना ही मैं चाहा हूँ कि किसी भी निमित्त  
से मेरी सत्ता का उसे मान हो जाय। बाकी त

करने के लिये मैं समर्थ हूँ। [अर्थात् प्रभुसत्ता का मान Awarenesses या जाय इतना ही काफी है, बाकी तो उत्पत्ती की वस्तुस्थिति स्वयं कर लेगी जिसे हम प्रभुसत्ता का अनुग्रह कहते हैं। परमात्मा का अनुग्रह (Grace of God) और कुछ नहीं, उसकी वस्तुस्थिति के साथ सम्बन्ध आते ही वह काम करने लगती है। The existential essence begins to operate as soon as there is a point of contact. बिजली का Contact डीला हो तो तो काम नहीं चलता।] सम्पर्क-सम्बन्ध पूरा-पूरा होने भर की देर है, फिर तो मेरी सत्ता काम कर लेगी। मेरे अभिमुख बने, मेरी सत्ता का मान ही जाय, बस और प्रभुत्व को कुछ नहीं करना पड़ता।

पारस पत्थर और लोहे के टुकड़े के मिलन के

क्षण में ही लोहा सोना बन जाता है वैसे चित्त जब अभिमुख होकर मानसहित मेरी सत्ता को स्पर्श करेगा कि तत्क्षण वह मद् रूप हो जाता है उसका परिवर्तन हो जाता है। The very moment of Contact becomes the moment of transformation. आमुलाग्र परिवर्तन होता है, आंशिक नहीं। जैसे लोहे का टुकड़ा जिस तरफ से पारस से छुआ हो बस उतनी सतह सोना नहीं बनती पूरा का पूरा टुकड़ा या वस्तु सोना बन जाती है। ऐसे ही मुझ से सम्पर्क में आये—मेरा संस्पर्श पाये चित्त का मद् रूप हो जाना अनिवार्य—युनिवित्त है। 'भक्त अपने चित्त का सोल मुझ पर चढ़ाते हैं'—यानी उनका चित्त मुझ से भी अधिक व्यापक हो जाता है। सर्वात्मभाव उनमें होता है, शोक-मोह-संसारव्याधियों से मुक्त होता है। (ओवी ४५७-४६४)

[इस देश में जो आध्यात्मिक विरासत हम सबको मिली है उसकी विशिष्टता है—

“साधनानामनेकता, साध्यस्य एकता।”

साध्य एक है, उसकी उपलब्धि या सिद्धि के लिये जितने व्यक्ति उतने साधना के पथ हो सकते हैं।—“जैतो धत ततो पैय”। मनोविज्ञान का अग्न्यास और अनुभव हमारे पूर्वजों को विशेष रूप से हुआ होगा तभी उन्होंने यह नहीं रखा कि प्रत्येक को एक ही मार्ग से प्रभु के पास आना चाहिए। एक ही मार्ग होगा, एक ही पद्धति होगी—यह नहीं कहा। यह कहा कि जो व्यक्ति जहाँ खड़ा है और अपने-अपने संस्कारों के अनुसार प्रभुसत्ता के साथ जिसका जो सम्पर्कबिन्दु होगा—वहाँ से वह प्रभु की ओर बढ़े। सबको एक ही बिन्दु पर आना चाहिये, एक ही पद्धति से व एक ही मार्ग से चलना चाहिये ऐसा आग्रह इस देश में रखा नहीं गया था। चाहे वह बह-बहानों का विषय हो, चाहे योगमार्ग की विभिन्न पद्धतियाँ आविष्कृत करने वाले ऋषियों की बात हो।

यहाँ व्यक्ति की विशिष्टता का हनन है, और उसकी संस्कार की जो मूकिका या आघार होगा उसकी भी उपेक्षा नहीं—समान है। एक ही शक्ति है कि वह अभिमुख हो सत्य के। जो जीवन का परम सत्य है, चरम अर्थ है उसे समझने की आकांक्षा हो। असत्य से सत्य की ओर जाने की आकांक्षा हो। तमस् से आलोक में जाने की अभिलाषा हो, वासना हो, और मृत्यु से अमृत की ओर चलने की तैयारी हो। ये तीन बातें यदि हैं तो व्यक्ति चाहे जिस मार्ग से चले—प्रभु कहते हैं कि वे मुझमें आकर विलीन होने वाले हैं। (इन दस ओक्तियों में यही विषय रखा है—इतिहास-पुराण के दृष्टान्तों द्वारा।) बस साध्य एक हो और उसकी ओर बढ़ने के लिये जो मार्ग अपनाया जाय उसके बारे में कोई भ्रान्ति न हो। निःसंशय चित्त हो और निर्भ्रान्त-बुद्धि हो, विशुद्ध ध्यान हो, द्विधा, सन्देह न हो। जिसे वासुदेव ने अनन्यता कहा है। साध्य का अभिसन्धि है, चित्त अनन्य है; बुद्धि में कोई भ्रम नहीं है। फिर वह व्यक्ति नाशयोग से चले—लययोग से चले या ध्यानयोग का रास्ता पकड़े, छन्द का रास्ता पकड़े, सगुण भक्ति का पथ ले या ज्ञानमार्ग से चले!... चिन्ता नहीं है। होना इतना चाहिये कि जीवन का यही निश्चित साध्य है और उसके लिए मेरा यही माध्यम है—यही मार्ग है। इतनी बात ध्यान में रख कर आगे देखें।



प्रभु के प्रति अनुराग को उपमा ही दी है मक्ति सुनों में—“यथा ब्रजगोपाङ्गनानाम् !” बल्लभभाष के व्याख से ब्रज की गोपाङ्गनाओं के पञ्चभाग भुस पर केन्द्रित हो गये। उन्होंने मुझे ही अपना प्राणनाथ कान्त माना। उठते बैठते उन्हें दूसरा कुछ दिखता ही नहीं। सभी तो कह सकें उड़ब से कि एक हो तो मन या वह तो प्राणनाथ के चुरा लिया अब ईश्वर की आराधना, ध्यान कौन कैसे करे ?” बल्लभ धानकर उन्होंने सर्वस्व से मुझे प्यार किया; लुटा दिया पूरा अपने आप को। प्यार में अपेक्षा नहीं होती दूसरे पक्ष से कि इतना प्यार करे तो उतना मुझे मिलेगा। अपेक्षा नहीं रखूंगा—ऐसा संकल्प भी नहीं करना पड़ता। प्यार नाम का उत्त्व ही ऐसा है कि निश्चय उदय होते ही चित्त में से अहंकार का केन्द्र हट जाता है। ज्ञान में यह शक्ति नहीं। सच्चे प्यार की यह बात है। आसक्ति नहीं! आसक्ति तो आज है, कल न भी रहे। या जिस शक्ति पर आसक्ति है, उससे अपेक्षा पूरी न हो तो कल उससे द्वेष भी हो सकता है। “Love & hate relationship”—नाम दे दिया है पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों ने! वह वास्तव में Love नहीं Attachment की बात है। हम जो चाहते हैं वैसा प्रतिसाद न मिले तो कल आसक्ति को जगह वितुष्णा भी पैसा हो सकती है।—प्रेम में यह सम्भव नहीं।

ब्रजगोपाङ्गनाओं ने पञ्चप्राणों से, सम्पूर्ण मन-बुद्धि-चित्त से, सर्वेन्द्रियों से अपना जो निजत्व था वह मुझे दे डाला था, दान दिया था। आधुनिक मनुष्य नहीं समझ पाते हैं अमूल्यमय को रासपञ्चाध्यायों को, गोपाल कृष्ण के जीवन में नृन्द-नवलला का जो पर्व था उसे स्थूल बुद्धि से समझ नहीं जा सकता। इतोलिये आधुनिक लोग उस पर स्थूल कामना का आरोप करते हैं। वे ‘लोग्ना’ को नहीं समझ पाते। लीला उसे कहते हैं जिसमें हेतु नहीं, वाचना-कामना नहीं। यह मानना कि पात्रिकायें स्थूल कामनासभा से मांछित हुईं गोपाल कृष्ण को चाहती थीं—मेरी दृष्टि में अशुभ है। इतिहास पर अशुभ है; गोप-गापियों पर अशुभ है। वासुदेव पर तो अशुभ कौन कर सकता है? वे न्याय-अशुभ से परे हैं। उस रूप में तो एक विमूर्तितमन्त्र का सहस्रदल कमल जैसा भारतभूमि पर खिल उठा था। हजार लक्षशत आर्य तो भी भारतवर्ष में द्वापर में श्री वासुदेव कृष्ण नाम के एक मानव जो गये—इस लक्ष्य का इन्कार नहीं किया जा सकेगा। इतिहास को पोंछा नहीं जा सकता। यह कोई पौराणिक गल्प (Mythology) नहीं है। इस देव को मिट्टी के कन-कण में आंकृत यह इतिहास है।]

ब्रजगोपाङ्गनाओं के अपना निःश्रेय—श्रावण स्वप्नरुग्ण भवित होने को अस्मिता-अहंभाव-का ही सहज दान हो गया था। यह करना नहीं पड़ता, प्रेम में यह हा जाता है। प्रेम को पराकाष्ठा ही तो शक्ति कहलाती है। प्रेम का परिपूर्ण विकास ही शक्ति है।]

देख तो सही पार्थ। ब्रजाङ्गनाओं ने अपना निजत्व मेरे स्वरूप में मिला दिया था। देह से भुस से जलम रहें। जैसे नदनदी सय ओर से आकर सागर में मिल जाते हैं वैसा उनको सभी भावनायें, सब वृत्तियाँ भुस में सम्पित हो गयी थीं। इसीलिये वे गोपिकायें मेरी ही प्रतिमूर्तियाँ बन गयी थीं। [उड़ब का अभिमान मिटाने के लिये उन्हें गोपियों के पास भेजा वासुदेव ने, कि जाओ—गोपियों मेरे विवाह में दुःखो होंगे। उन्हें ज्ञान हो। उड़ब गये तो प्रेमयोग को महिमा अर्जित देखी। अथ सब पुरुषार्थ तो निरर्थक को कायम रखते हुए किये जा सकते हैं, पर इस प्रेमरूपी पञ्च पुरुषार्थ में, शक्ति में, अपनी विशिष्टता का “अपनेपन” का

शक्तिता का सम्पूर्ण विलोपन है। यह आत्मविलोपन-योग है। प्रेम में अत्यन्त सहज रूप से अनायास ही आत्मविलोपन हो जाता है।] ऐंशो वे ब्रजाङ्गनाओं क्या मेरा हो स्वरूप नहीं बन गई थीं?

यह तो प्रीति को रोग बढाई। इससे विपरीत कंस को देखो। वह भुस से डरता था। उठते-बैठते, खाते-सोते, सब समय उसका आकाशपाणो से सुना हुआ काल—देवकी का आठवाँ पुत्र में दिखता था। मेरा जन्म होने से पहले और बाद में भी उसने गोकुल-नृन्दावन और आसपास के सेकड़ों बालकों को—धिष्णुओं को मरवा डाला। उसे एक ही निधिष्णव लगा था। मय के कारण ही सही—पर उसे एक मेरा ध्याव लगा था; जल में धल में नम में

दीवारों में एक में ही बिल्ला था उसे। मोति के कारण कंस का चित्त मुझ में लगा रहता था, दूसरा कुछ

सूझता नहीं था। इसीलिये अन्त में कंस भी आकर मुझ में ही लीन हो गया। (ओबी ४६५-७४)

[यह बात आधुनिक मनुष्य को समझने में कठिन पड़ती है। यहाँ की संस्कृति में, यहाँ के सनातन धर्म में "शैतान" की, दुष्टता की Devil की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गयी। शुभ और अशुभ (Good & Evil) की दो समानांतर स्वतन्त्र चार्यायें हैं ऐसा माना जाता है अन्य संस्कृतियों में, वैसा यहाँ नहीं माना गया। यहाँ दुष्टता करने वाला प्रभु से वेर, प्रभुसक्तों से वेर करने वाला भी अन्त में आकर प्रभु में समा जाता है। वृत्ति विकृत होकर सत्य-शिव-सुन्दरम् को पकड़ नहीं सकी—इतना ही यहाँ दुष्टता का अर्थ है। और आधुनिक मना-विज्ञान को यहाँ आना ही पड़ेगा बाध नहीं तो कल। अब तक अशुभ की स्वतन्त्र सत्ता मानी जायेगी, उसका स्वतन्त्र पुष्पायं का क्षेत्र माना जायेगा, तब तक मानवीय जीवन में शुद्ध-हिंसा-संहार अनिवार्य माने जाते रहेंगे। एक तरह Survival of the fittest और struggle for existence के सिद्धान्त और दूसरी ओर धर्म के नाम से 'अशुभ'—'शैतान' 'पापवृत्ति' की स्वतन्त्र सत्ता का प्रतिपादन—ये दो ऐसी चीजें हैं अन्तरीय संस्कृतियों में जिनके कारण युद्ध अनिवार्य बन जाते हैं और हिंसा अटल बन जाती है। इसीलिए इस देश में अहिंसा का विचार आ सना। प्रत्यक्ष व्यवहार में हम उससे योजनों दूर हैं, और दूर जा रहे हैं—हम भी अन्तरीय संस्कृति को लपेट में—लपेट में आ गये हैं और Strong Military को आर, तीव्र से तीव्र अस्त्रशस्त्रों की ओर जा रहे हैं। पर कभी न कभी लोटेंगे वापस अपनी मौलिक विरासत की ओर, जब समझ पायेंगे सत्य को। तब 'यदहरेव विरजेत् सद्गुरेव प्रब्रजेत्' होगा।

यहाँ कही जा रही है अभाव-विज्ञान की बात। Spirituality is a science—as precise if not more as Physics & Mathematics। यह हमारी प्रतिभा है। यहाँ शैतान की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी गयी। राघ-रावण-युद्ध में भी रावण की मृत्यु के समय जो ज्योति निकली वह आकर राम के हृदय में समा गयी। उससे पहले रावण भरणीमुख पड़े हैं तब राम अपने अनुज लक्ष्मण से कहते हैं कि जानो राजनीति का धर्म व सिद्धान्त रावण से सीख लो।

इसीलिये बासुदेव कहते हैं कि जैसे अनन्य प्रीति के कारण ब्रजाङ्गनायें मुझमें समा गयीं वैसे उसन्त मोति के कारण मेरे निविध्यास द्वारा कंस भी अन्त में मुझमें समा गया। कौन किस तरह मुझे याद करता है, किस निमित्त से मुझमें अनन्य लयलीन होता है—इसका प्रश्न नहीं, चाहिये इतना ही कि समस्त वृत्तियाँ मुझमें केन्द्रित हो जायँ। वह हिरण्यकशिपु चार तिरस्कार करता था मेरा। कहता था प्रह्लाद से कि क्यों तू उसका नाम लेता है? उन देवों में रखा क्या है? तुच्छ भाव था। शिशुपाल भी मुझसे वेर रखता था। पर उन द्वेष भावों का भी लक्ष्य अनन्य रूप से मैं ही था। अतः वे भी अन्त में मुझमें ही समा गये। और मेरे पिता-भाता वसुदेव-देवकी एवं अन्य सभी सगे-सम्बन्धी यावर्षों को मेरे प्रति प्रमत्त से सायुष्य प्राप्त हुआ।

नारद-मूव-अक्षर-शुक्-सनकादि को मैं जैसा प्राप्य रहा वैसा ही गोपियों को कान्तभाव से, कंस-शिशुपालादि को घातक भाव से अनन्यता के कारण प्राप्त हुआ। मान लो कि गोपिणी अक्रुष्ण के प्रति कामवासना से आकृष्ट थीं—लेकिन उसके लिए तो एकदेशी-एक व्यक्ति होना चाहिए। वे तो सर्वदेशी सर्वव्यापी हैं। काम के लिये तो अहंकेन्द्र में बँठ कर, दूसरे व्यक्ति से भी अहंकेन्द्रित अपेक्षाओं रखते हुए सम्बन्ध बाँचना पड़ता है।—बासुदेव का तो सारा विषय ही केन्द्र है। (Totality is the centre of Devine) सर्वभूतानिवास है—“ईशावास्यमिदं सर्वम्। यत्किञ्च जगत्यां जगत् !” जगन्निवास है। किन्तु बस्तुषक का परिणाम होता है इसलिए श्रीकृष्ण का जो कामगन्धर्वाती व्यक्तित्व था, उनके पास जाते ही—दृष्टिमान्त्र से ही वह वासना घान्त हो गयी या विकार की सन्तुष्टि परितृप्ति हो गयी यह मानो। यह भी रसिक-सूक्ष्म संकेत हो सकता है कि आये वे 'काम'

लेकर और अहाँ पास में खड़े हो गये कि वह रूपान्तरित हो गया प्रेम में। इसलिए कामवासना से आयी हुई भी गोपिकायें प्रेमयोगिनी बन गईं !]

सय का, शत्रुत्व का, घातक का मनोघर्म लिये आए हुए कंस-शिषुपाल आदि सबको मैं ही प्राप्त हुआ। अर्जुन ! कोई किसी भी निमित्त से एक बार मेरे अभिमुख होकर चलने लगे कि वह एक कदम रखे तो मैं दस कदम उसकी ओर बढ़ता हूँ। जिस मनोघर्म के निमित्त से वह अभिमुख हुआ है उसी की अधिक-अधिक बढ़ाने की मैं युक्तियाँ करता हूँ जिससे उसका मेरा निदिध्यास उत्कट होता चले। ताकि जल्दी-जल्दी उस भाव की पराकाष्ठा होकर उसका मेरा मिलन हो जाय। अतः भक्ति, वैराग्य, विकार या वर किसी भी बहाने जिन्होंने अपनी दृष्टि-चित्त-वृत्तिमा—मुख पर एकाग्र कर दीं उनकी गति एक ही होती है—मुखमें मिलन।

इसमें से बोध यही लेना है कि चाहे जिस

[यही भाँति-भाँति से समझा रहे हैं कि पापों ! मेरे पास आने के लिये उपायों की कमी नहीं है। चाहे जो रास्ता ले लो ! कितना बड़ा आवसासन है ! चिन्ता न करो कि बुद्धि अच्छी नहीं, तोष नहीं, ज्ञान नहीं, तो हरिनाथ लो; उससे सन्तोष नहीं तो प्रतिमा-विग्रह ले लो, सम्ब्यापी के प्रतीक ले लो। चाहे तन्त्र-मन्त्र-यन्त्रादि या हठयोग की प्रक्रियायें ले लो। करना है केवल तन-मन की शुद्धि के लिए, चित्त की एकाग्रता के लिये। शुद्धि होती है तो भ्रान्ति मिट कर तत्त्व स्वयं प्रकाशित हो जाता है। Purification is accompanied by Illumination, or illumination is the byproduct of purification. साक्षात्कार तो शुद्धिकरण का आनुषङ्गिक परिणाम है। इसलिए प्रभु कहते हैं कि चाहे जिस निमित्त से मेरे पास आवें—अन्यचित्त हों।

किसी भी जाति में अन्य हुआ हो, मेरे भक्त बनें या मेरे वैरी बनें, अनुराग रखें या विरोध करें—मैं बस चाहता बही हूँ कि किसी भी तरह से वे इतना कह दें कि “मैं प्रभु का” — “मेरा प्रेमी”, “मेरा वैरी”, “मेरा घातक”, “मेरा भक्त” किसी भी तरह से ‘मेरा’ हो जाय, कोई भी नाता जोड़ ले ! सम्बन्ध जोड़ना है; केवल जानने से काम नहीं बनता। जो जाना गया उससे सम्बन्ध जुड़ जाय चित्त का ! चित्त का सम्बन्ध जाने हुए सत्य के साथ हो जाय ! बुद्धि ने जाना, चित्त ने स्वीकार किया, उसका सम्बन्धी बन गया ! बल चाकी सब प्रभु देख लेते हैं। वहते हैं—वैरी हो, विरोधी हो, निन्दक हो या प्रेमी—किसी भी तरह वह ‘मेरा’ हो ! यह वायुदेव ने कहा।

गान्धी जी के पास आन्ध्र से एक बहुत प्रामाणिक नास्तिक गये थे। प्रामाणिक आस्तिक भी दुर्लभ हैं और प्रामाणिक नास्तिक तो उससे भी दुर्लभ हैं। नहीं तो अधिकांश अपने को नास्तिक मानने वाले भी, उरा-न्हा कोई घर में बीमार हुआ या और कोई भारी सङ्कट आया कि लोग मान्त्रिक-टांत्रिक के पास आगते हैं। किसी ने किसी साधु-सिद्ध का नाम-पता बताया कि वहाँ भागें जायेंगे। सब अपनी सब नास्तिकता, बुद्धिनिष्ठ, आधुनिकता लपट कर रख देते हैं खूटी पर। अपने चित्त की समझता से नास्तिक होना भी बीरों का काम है, आस्तिक होना भी बीरों का काम है। अधिकतर लोग तो त्रिंशुकु की तरह बीच में लटक रहे हैं।

बीर, तो उन प्रामाणिक नास्तिक ने बापू से कहा—“मैं नास्तिक हूँ, मैं किसी ईश्वर या प्रभु को नहीं मानता।” बापू हँस कर बोले—“ठीक है, लेकिन मेरे प्रभु तो तुझे जरूर मानते होते। तुम भले न मानी। कोई बात नहीं।—My Lord is the atheism of the Athiest as he is the theism of the Thiest.” ये गांधीजी भी बड़े जबरदस्त व्यक्ति थे। योद्धा थे साथ ही कवि भी। कइ दिवा कि ‘मेरा प्रभु जैसे आस्तिकों को आस्तिकता है, वैसे नास्तिकों को नास्तिकता भी वे होते हैं। आप उन्हें मर्ने न मानें वे तो आप को मानते हैं। आप न देखें वे तो देखते हैं!’—इसका नाम है अट्टा। यह ३० वर्ष पहले की बात है, जब मैं गृहण आन्दोलन में काम करती थी। आन्ध्र में मेरा प्रवास था, संयोग गारा जो के हाथ में था, (उन्के पुत्र लक्ष्मण जी अनुवाद करते थे) तो उन्होंने मुझे यह सुनाया। कइ कि मैं मुह्र हा गया था गांधीजी के इस जबाब पर। उन्की ऐसी स्वस्थ हूड-पूड आस्तिकता था।—इंग्लान्ड में उन्के साथ काम करने की राजी हो गया। गांधीजी ने कहा—“बलो, तुम नास्तिक, मैं आस्तिक। दोनों हाथ से हाथ गिलते साथ काम करेंगे। देश का काम करना है।”

यही यहाँ कह रहे हैं कि किसी भी तरह से किसी भी नाते से जो ‘मेरा’ हो गया उसको परिणति (Culmination) एक ही है कि वह मर्कुर बनगा। उसके चित्त का लक्ष मुझ में होने ही वाला है। उसको मालूम ही नहीं पड़ेगा कि उसके जीवन के साथ क्या-क्या होने वाला है। जो मेरा बन गया वह मुझ जैसा होने ही वाला है।”

यह कथा कह रहे हैं—व्याख्यान कर रहे हैं आठ ती वर्ष पहले सगार में पण्डितों को सुना कर। जिनकी दृष्टि से स्त्रियों के लिए भुक्ति नहीं है; शूद्रों को, नीच जातियों को ज्ञान का अधिकार नहीं है। उन पास्त्री पण्डितों को सुना रहे हैं बासुदेव के बचन कि ‘कैसी भी पापघाति में जन्म हो, स्त्रा हो या पुत्र हो, पशु-पक्षी ही क्यों न हो, किसी भी कारण से मेरा स्मरण करे तो उन्हें मेरा साक्ष्य-साधुय निकेया।

जब ऐसा है, तो आगे चलो। जो चातुर्वर्ण्य में छत्र-चापर जैसे अग्रगण्य हैं उन ब्राह्मणों को तो बात ही क्या? ब्राह्मण यानी—“ब्रह्मणि चरति” ब्रह्मभाव में ही जो नित्य लोन हैं, सभी कार्यकलाप ब्रह्मभाव-ब्राह्मणो दया में ही जो करते हैं, ब्रह्मविषयक ही विद्याध्ययन-अभ्यापन जिनका कार्य है। तपस्या ही जिनकी धर्मा है, निःस्पृहा ही जिनका धर्म है। “निःस्पृहस्य तृणं जगत्।” सारा जगत् जिनके लिये तिनके जैसा है। “सकल जगत् है जुटन-सा, अथवा त्वन समान”-कहने वाले श्रीमद् राजचन्द्र (जैन वैश्य) भी वस्तुतः ब्राह्मण रहे। (केवल बंध जाति से ब्राह्मण कहलाने वाले अपने में उस वर्णन को लागू न मानें!) यों तो दोनों वैश्विकों (ब्राह्मण-साधिव-वैश्य) के लिये समस्त जीवन एक यज्ञकर्म था। भारत में जीवन की धारणा एक यज्ञ के रूप में थी कि प्रभु ने हमें यह काया दी है, मन-बुद्धि-चित्त, इन्द्रिय किये हैं, इन साधनों का सदुपयोग करें। संस्कारों के अनुगार देहवारण के लिये आवश्यक उपभोग करें बाकी सब लुटाते चले। जीवन एक यज्ञ है। Acquisitive tendency was not regarded as a normal tendency in the vedic Psychology. संग्रह-परिग्रह को वृत्ति को वैदिक मनोविज्ञान में सामान्य वृत्ति नहीं माना गया था। जिस मनोविज्ञान के आधार पर ये सब ग्रन्थ लिखे गये हैं—वह आधुनिक मनोविज्ञान नहीं है। अहंकार (Ego, self, me) गिलहरी की तरह कमाना-इकट्ठा करना बढोरना चाहता है, वन सम्पत्ति-भौतिक सुखसाधन इकट्ठे करो। धन्यज्ञान इकट्ठा करो। अतोमिद्व अनुभूतियाँ मो इकट्ठो करो। सब इकट्ठा करते चलो। “मेरा ज्ञान, मेरी सम्पत्ति, मेरी अनुभूति।” इतना ही नहीं ‘मेरा साक्षात्कार, मेरी भुक्ति।’...ऐसी वृत्ति को आज का मनोविज्ञान स्वाभाविक मानता है। और यह जो संग्रहण मनोवृत्ति है यह आक्रामक बने बिना, ईर्ष्यालु हुए बिना, तुलनात्मक हुए बिना रह नहीं सकती। मेरे पास कितना—उसके पास कितना? मेरे पास कम क्यों? फिर स्वर्ण को बीड़। धक्तियों में, जगतों में, राष्ट्रों में।...भारत की

संस्कृति में यज्ञ और तप को मानवजीवन का सत्य माना गया था। उसमें भी ब्राह्मण का जीवन तपोमय माना था। उन्हें संग्रह नहीं करना था, बहों नौकरी करके बेतन नहीं लेना था। विद्याध्ययन और अध्यापन करना था। विद्यार्थी जो भी मन-वाच्य-वस्त्रादि दैने उसी से जीविका चलानी थी, यथा लाभ सन्तुष्ट एवं अव्यक्त रहना था।

“मुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ !” “अनिकेतः स्थिरमतिः भक्तिमान् न प्रियो नरः”

ऐसे उनको जीना-रहना था। यहाँ जिस “ब्राह्मण” शब्द का प्रयोग हो रहा है वह उस प्रकार का जीवन जीने वालों के लिये है, आज के ब्राह्मणनामधारियों के लिये नहीं।] (ओबी ४६५-७४)

कहते हैं स्वर्ग जिन्हें अप्रहार (जागीर-दान) में मिला। वेद जिनके कण्ठ में आश्रय लेते थे। विद्या-म्यासी ब्राह्मणों से जिनका प्रत्यक्ष परिचय हो वे समस्त सभते है कि एक-एक मन्त्र को सुद्ध ‘स्वर’—सहित कण्ठस्थ करने में कितना और किस स्तर का परिश्रम करना पड़ता था। आज तो बौद्धिक-मानसिक श्रम भी drugery कहलाने लग्य; खरासा जोड़-चाकी-मुणा-आग करने को भी computer चाहिये बच्चों तक को। विद्यालय के पाठ्यक्रम को भी पूरा कौन पढ़े—बाद करे? उसके भी बुराने प्रश्नपत्रों के अनुमानित अंशों के उत्तर रट लो, बल्कि वे Notes-Guides भी पढीसा भवन में साथ ले जाने दो! याद रखने की drugery कौन करे?... अरे गर्भ को नौ महीने पेट में क्यों ढोयें? दोन महीने के भ्रूण को कृत्रिम-यन्त्र-गर्भाशय में रख दो!... ऐसी ही कृत्रिम सुविधाभोगी उपभोग-यद्वाच्य संस्कृति हो गयी है आज। यं कैसे समस्त सकर्गे कि वक्षयय, तपोमय जीवन क्या होता है? आशय-कष्टाओं को बढ़ाना ही जहाँ प्रगति का चिह्न माना जाता है, वहाँ आशयकताओं को घटाते जाने में जो गौरव है उसको तो कोई गान्धी किनोबा ही समझ सकेंगे।]

ऐसे वैराग्यशील तपोमय जीवन जीने वाले ब्राह्मण क्या मुझे नहीं पायेंगे? जिनकी दृष्टि को गोद में सारे जीवन की मंगलता खेलतां रहती है, वे मुझे हैं क्योंकि वे निर्वर हैं, निष्पक्ष हैं यानी उनका अपना कोई मताग्रह नहीं। साधक के लक्षणों में अपना कोई पक्ष न होना यह श्रीमद् राजचन्द्र ने

[ ऐसे पागल होते है जीमे बाले। ऐसे एक पागल के जीवन को निकट से देखा है। पहले भी उनका नाम यहाँ आ चुका है—दादा यमाधिकारी। मेरा विद्यार्थी-जीवन था। नागपुर शहर। (पहले वह Central

आत्मसिद्धिशास्त्र में भी लिखा है, ऐसे ब्राह्मण होते थे—निर्वर निःस्पृह, सभी के द्विवाभिलाषी - इसीलिये उनको दृष्टि-गोद में शुचिता पलती थी, खेलती थी। जहाँ उनको दृष्टि पड़े वहाँ मंगलता की वर्षा होती थी। ऐसे ब्राह्मणों का क्या कहना। वे तो जोसे जो मुझमें हो रममाण है। वे तो पृथ्वी के देव है—जिनका जीवन ही सदा प्रकाशमय है। वे नित्य सत्यस्थ है। अनामय हैं। सब तीर्थों का तीर्थपना उनके कारण है, उनके मुझ से निकला शब्द अवयय फलता है। कभी उनके चित्त में सकल्प उठे तो वह साकार होगा ही। मानो सत्य को पृथ्वी पर कहीं जगह नहीं मिले तो वह ब्राह्मणों की संकल्पशक्ति में जाकर उठर गया है। सत्य सू-देवों के संकल्प के आशय से बरती पर रहता है।

वे ब्राह्मण मेरे पास आये तो मुझसे एकस्पर् होंगे ही इसमें क्या बड़ो बात! अरे, वे मेरे पास आये तो यह जो लक्ष्मी मुझे इतनी प्रिय है—उसे हटा देता है, बस पर झूलते कौस्तुभ की भी हटा देता है। वे नू-देव यदि मेरे बस पर लात भी मारें तो उनके चरण-चिह्न की कौस्तुभ से भी अधिक प्रिय मानकर बस में धारण करता है, वह मेरा ऐश्वर्य है, गौरव है !... क्रोध को बरीसा करने गये भ्रूण वे विष्णु के बस पर लात मारा तो वे संग्रम से उठ बैठें और भ्रूण के चरण सहलाने लगे कि ‘अहो नू-देव ! मेरे बज्रकठोर बस के आघात से आपके कोमल चरण को कष्ट पहुँचा होगा ! अपराधी मैं अवयय हूँ कि आपके स्वागत के लिये द्वार पर आकर मस्तक नहीं झुकाया; चरण-बन्दन समय से नहीं किया। क्षुसे क्षमा करें !’

Provinces & Berar—आज के मध्यप्रदेश के अन्तर्गत था) C. P. & Berar की Assembly में दादा के वक्तूत्व का बेजोड़पन सर्वमान्य था। बहुत से आचार्य थे उस समय—आचार्य जावहरकर, आचार्य शङ्करराव देव, आचार्य विनोबा भी। पर वक्तूत्व दादा का जगमोग माना जाता था। किसी ने सोचा कि ये दादा वर्माधिकारी जब तक है तब तक कांग्रेस को हराना सम्भव नहीं है (बापू के कहने से दादा कांग्रेस को मजबूत करते थे, स्वयं उसके सदस्य नहीं थे।)—तो दादा को मार ही दिया जाय। एक घड़यन्त्र रचा गया। दादा को मरवाने का काम एक व्यक्ति को सौंपा गया। नागपुर में तब अखाड़े बहुत थे। पता नहीं कैसे दादा के कानों तक भनक पहुँच गयी कि अमुक व्यक्ति को काम सौंपा गया है दादा को मरवा डालने का। दादा हमेशा मकान के बाहरी बराम्बे या 'पीच' में सोते थे, घर के भीतर कभी नहीं सोते थे। १९४७ से १९९० तक तो मैंने उन्हें कभी घर में अन्दर छोटे नहीं देखा। उस दिन रात १० बजे तक लिखने-लिखावे का काम चला था और दृष्ट सब—(मैं, दादा के लड़के-बहुएं, सब लोग) बराम्बे में सोये थे। अचानक रात १२ बजे भाइयों में स कीर्ई आया और देखा कि दादा बिस्तर पर नहीं है। मुझे जगाकर पूछा कि दादा कहाँ हैं? मैंने कहा—माफ़ूम नहीं, मैं तो १० बजे सो गई थी। दादा के सभी मित्रों के यहाँ फोन करके पूछा गया, वे कहीं नहीं थे। और बाबा! वे उठकर चले गये थे ५-६ मील दूर उस व्यक्ति के घर पर जिसे इन्होंने मारने का काम सौंपा गया था। बरवाज खटखटाया, वही व्यक्ति उठकर आया कि रात १२ बजे कौन आया है? द्वार खोलकर देखा तो दादा खड़े हैं! खबर आया वह! दादा ने बीमो से कहा खबरआओ मत! इधर आओ मेरे साथ। उसे घर से थोड़ी दूर एकान्त में साथ लाकर दादा बोले—अरे मुझे मारने के लिए पैसा, छुरी और लम्बी धीजना की, या किसी को नियुक्त करने की क्या जरूरत है? तू मुझे कट्टा तो मैं चला आया तेरे साथ। ले अब ले चल जहाँ मुझे मारना हो—यह मेरा पत्र अपने पास रख, मैं लिख कर लाया हूँ कि स्वेच्छा से आत्मविसर्जन है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह आदमी पानी-पानी होकर दादा के पीब छूने लगा; कहने लगा कि "बड़ी शलती हो गयी—राजनीतिक दाँव से यह घड़यन्त्र रचा गया था।" इधर घर में घूम मची थी, मित्र वर्ग में से बड़े-बड़े ४०-५० लोग इकट्ठे हो गये थे, सब चिन्ता में थे। और डाई बजे दादा चले जा रहे हैं घूमते हुए। घर में यह सब देखा तो पूछा "यह क्या उमाचा मचा रखा है? मैं क्या कोई छोटी लड़की हूँ कि कोई मुझे भगा ले जाय?" फिर सब कहानो सुनो उनसे! वे व्यक्ति तो परम मित्र बन ही गये।

यह तो कोई पुराण की बात नहीं। महात्मा गांधीजी जैसे विप्रसिद्धत्व की बात भी नहीं। मैं यह सब सामान्य गृहस्थाश्रमियों की बात इसलिये सुनाती हूँ कि यह ब्राह्मणत्व है। इस युग में भी यह जिया गया है। प्रसन्न निकला है तो और एक घटना भी कह ही हूँ। जब मन्त्रिमण्डल बनाने लगे तो सरकार पटेल नागपुर पहुँचे। बापू ने कह दिया था कि दादा नहीं मानेगा। सरदार ने सोचा मनाऊँगा कि "दादा! इस मध्यप्रदेश का मुख्यमन्त्री आप को बनना है।" दादा नहीं मानने वाले थे सो नहीं ही माने। उठ कर खड़े हो गये—बोले—"ब्राह्मण की सन्तान है राजगद्दी पर नहीं बैठीया। इस मुँह से विद्या देनी है। इस चित्त में सत्ता और वन का स्वर्ण होगा तो विद्या की पवित्रता नहीं रहेगी।" ऐसे ब्राह्मण होते थे। (ओवी ४७५-८१)

वासुदेव कहते हैं—कि ऐसे ब्राह्मणों की चरण-रज लेने के लिये मैंने अपना वक्षःस्थल सामने धर दिया। इतने वे मुझे प्रिय हैं। सायुष्यमूर्ति को तो बात ही क्या? उनकी ठोकर को मुझ को बस पर धारण किये हुए हूँ—वह मेरे लिये गौरवचिह्न है, ऐश्वर्य का लक्षण है।

[ज्ञानेश्वर अद्वैतसिद्धान्त समझाने बंटे हैं रज्ज-नात्मक शैली में। जनमानस में वे बहुरहस्य पहुँचाना हैं मतः लोकमुलभ दृष्टान्तों—उपमाओं—कथा-आख्यानों के उदाहरणों को लेकर उन्हें भी और रज्जक बना कर कहते हैं। इन तथ्यों को पकड़ कर शय्य का निरूपण-उद्बोधन करते हैं।] ऐसे जो अतीव पावन पुण्य-

पूर्व ब्राह्मण है, विद्याओं में अतिविपुण है—उनके लिये मैं सुलभ हूँ इसमें कहना क्या ?

उद्यान में चन्दन के वृक्ष हैं। पास में नीम के भी वृक्ष हैं। चन्दन वृक्ष की ओर से पवन आता रहा, उस सुवास के पुट नीम-वृक्ष को लगते गये। तो उस नीम को लकड़ी में भी इतनी सुगन्ध आ जाती है कि उससे देवप्रतिमा को बैठाने का आसन बनाया जा सके। जिस चन्दन के सम्पर्क वाले पवन के संसर्ग से नीमकाष्ठ भी सिंहासन बनने योग्य हो जाता है, उस मूल चन्दन का प्रतिमा के सर्वाङ्ग में लेप हो सकने में आश्चर्य क्या ? [यानी भक्तों को भगवान् अपने सर्वाङ्ग का आभूषण मानते हैं, उनके प्रेम का सर्वाङ्ग से स्वीकार करते हैं—यह कहना है।] क्या इसमें चन्दन की श्रेष्ठता वर्णन करनी पड़ती है कि यह देवप्रतिमा पर चढ़ सका ! भगवान् ने चन्दन को स्वीकार किया ! शीतसागरमन्थन के समय निकले हलाहल विष के पान से हुई जलन मिटाने के लिये शिशुंकर ने चन्द्रमा को मस्तक पर रखा और चन्दन सर्वाङ्ग में रचा लिया। ऐसे ही ब्राह्मण मुझे प्रिय है। इन मेरे भक्तों के जीवन का मैं सर्वाङ्ग से सहण करता हूँ यही कहना है। [वासुदेव ने यह सब भले कहा न ही, हमारे ज्ञानेश्वर महाराज को यह शैली है। एक बार तो वे शीघ्र भी गये हैं अर्जुन पर कि दूतनी सी बात उन्हें समझाने के लिये वासुदेव का इतने प्रकार से कहना पड़ता है। मैं होता तो उन्हें 10 अध्याय नहीं कहने पड़ते ! दूसरे अध्याय के स्थितप्रज्ञ लक्षणों से ही मैं तो सब समझ आया। यह अर्जुन ऋजू भले ही पर मन्दबुद्धि था, जो मेरे प्रभु को उसने इतना कष्ट दिया।"—यह सन्त ज्ञानेश्वर का प्यार बोलता है। कहते हैं अर्जुन को कि तू क्यों बार-बार इतने प्रश्न उठाता है। इन "ज्ञानमुद्रा वाले श्रीकृष्ण" को साक्षात् सामने देख कर भी तेरा अज्ञान नहीं जाता है ? उलाहना देते हैं।" 11 अध्याय में तो व्याकुल हो जाते हैं कि अभी भी यह नहीं समझ रहा है। भगवान् को पूछना पड़ता है कि क्यों अर्जुन ! अब बात समझ में आयी ?...ऐसी इनकी शैली है।]

(ओपि—४८२-८५)

इसलिए, राक्षस हों, तपस्वी हों या ब्राह्मण हों, व्यक्ति कौन है ? किस स्तर का, किस पद का है ? ज्ञानी है, अज्ञानी है, बाल है वृद्ध है, स्त्री है, पुरुष है—यह प्रश्न नहीं। व्यक्ति जो कोई भी हो जिसकी बुद्धि को गति मेरी तरफ है, गति-भक्ति से मेरी वरण है, बुद्धि से जिन्होंने मेरे तत्व को जाना—यह उनका जानना ही वरण करना हो जाता है। [बुद्धि ने जान लिया और चित्त ने स्वीकार कर लिया, कि वरण-शरण-समर्पण हो गया, चित्त में सम्पूर्ण स्वीकार हो गया। हमारी कठिनाई यह है कि परमात्मा को हम सम्पूर्ण स्वीकार नहीं करते। दुःख के समय याद करते हैं—“हे प्रभु तू ही दुःख दूर कर ! तुम्हारे बिना कौन करेगा ?” और सुख के समय—“मैंने किया इसलिए यश मिला।” “मैं धनी हूँ, मैं बुद्धि-शाली हूँ, विद्वान् हूँ, ज्ञानी हूँ, तपस्वी हूँ।” और यदि जो चाहते थे उससे विपरीत कुछ हां गया तो परमात्मा को ही कोसते भी हैं कि “कैसा अन्याय अन्धेरे हैं भगवान् के यहाँ ? सज्जनों को कष्ट होता है, दुर्जन आराम से रहते हैं !”

परमात्मा की सार्वभौम सत्ता का सम्पूर्ण स्वीकार हो जाय कि जो कुछ होता है संसार में यह परमात्मा की सत्ता के कारण होता है, उनको सत्ता में होता है। दृष्टान्त दिया था कि जल में उठने वाले तरङ्ग जल की सत्ता पर उठते हैं। तरङ्गाकार में भी जल ही है। उठे जल में, रहे जल में, लीन होंगे जल ही। बुद्धि की मदद से जिसने इतना जान लिया, यह सारा का सारा सर्जन (सृष्टि) प्रभु को सत्ता के कारण है, सत्ता में है और उठी सत्ता में लय होने वाला है। यह यदि स्वीकार हो जाय तो मनुष्य को सुख में उन्माद नहीं होगा और दुःख में विषाद नहीं होगा। बिना किसी शिकायत के जीवन में जो भी आया उसे हँसते-हँसते लेगा। सुख आया तो प्रभु को कृपा है, दुःख आया तो भी प्रभु का प्रसाद है। अपनी शक्ति भर पुरुषार्थ से प्राप्त कर्तव्य करते थले, उसके फल को अनुकूलता को चाह न रखें। प्रभु जो भी सामने लायें उसका सम्पूर्ण स्वीकार जिसकी गति-भक्ति में रहे, वही गति-भक्ति से प्रभु के शरणगत है। उनके

लिये चिन्ता का कारण नहीं है कि मृत्यु के बाद वे कहाँ जायेंगे ? मेरे पास जायेंगे या और कहीं ? उनका तो जीते जी हो बहानिर्वाण हो गया है जब उन्होंने चित्त मुझे समर्पित कर दिया ।

[गीता में हो एक स्थान पर (१७वें अध्याय में) बासुदेव कहते हैं कि अपने प्रारम्भ-संस्कार के अनुसार जो भी प्राप्त कर्म हो वह करो, लेकिन प्रारम्भ में मेरा स्मरण करो, मध्य में मेरा स्मरण करो और अन्त में भी मेरा स्मरण करो । 'हरिः ऽ तत् सत्' कहते हुए अपने स्वभाव के अनुसार सब कर्म करो । कर्म यदि प्रभुसमर्पित हो जाता है तो देह में रहते हुए ही निर्वाण जिवा जाता है । उसी को अन्य प्रकार से यहाँ कह रहे हैं कि—] जिनका चित्त-पति-मति मुझमें समर्पित है उनको मुझमें ही स्थिति है, मुझमें ही निर्वाण है । उन्हें चिन्ता नहीं करनी पड़ती ।]

अरे अर्जुन ! कोई नौका में बैठा है (पञ्चमहा-भूत के शरीर को नौका कहा है) और नौका में सैकड़ों छेद हैं, ज्वर है । 'वीर्यते प्रतिक्षणमिति शरीरम्'—प्रतिक्षण शीर्ष होने (खरता चिसता जाने) वाला है इसीलिए देह को शरीर कहा गया । प्रतिक्षण इसकी शक्ति षट्ती जाती है, फिर इसमें जो मन है, उसमें तो हजारों छेद हैं—प्रतिपल उठने वाली परस्पर विरोधी या अलग-अलग दिशाओं में खींचने वाली वृत्तियाँ-दृच्छाएँ । इनसे भी शक्ति ज्वर होती है । किसी एक विद्या में टिकती नहीं । हुमेया दुविधा, भ्रान्ति सन्देह, शीर्षाश्लेषन रहता है । ये ही सब छेद हैं । ज्वर नौका में धीरे-धीरे पानी भीतर भरता जाता है । बंधे ही काल धीरे-धीरे इस शरीर में प्रवेश करता जाता है । ऐसी ज्वर नौका में बैठे हुए सवार क्या निश्चिन्त रह सकते हैं ? यह शरीर तो कल तक भी जीवित रहेगा या नहीं इसका कोई भरोसा नहीं । पर इसमें बैठा अहङ्कार तो ऐसा फूला रहता है मानो अमरपट्टा लेकर आया हो । देखता है रोज लोगों को मरते हुए, लेकिन अपना मरना भूल रहा है । किसी पर आसक्त होना, किसी पर क्रोध-द्वेष करना—! अब कि काल लगी पानी बढ़ी-यड़ी

अन्तर आ रहा है । एक दिन बीता कि काल उदना जीवन ले गया । पर कैसे निश्चिन्त रहते हैं लोग !

“मां बाप मरे तब खुब रोये  
कुछ अपनी फ़िकर करो बाबा !  
भौत सिरहाने आन सखी अब  
कफ़न - बतन कर लो बाबा !”

दूसरों को मरते देख कर रोते हैं पर अपनी तरफ़ नज़र नहीं जाती कि एक श्वास बाहर गया, तो दूसरा श्वास भीतर आयेगा या नहीं ? इतना जहाँ जीवन अनिश्चित है, वहाँ कैसे जीवन में प्रभाव किया जाता है ? धर्म का आचरण कैसे होना चाहिये ?—यह देखते समझते हुए कि मृत्यु के हाथ में चोटी है—अपने जीवन में स्वधर्माचरण होना चाहिये ।

समराज्जग में खड़े हों, यह जानते हों कि शस्त्रों की बर्षा होने वाली है, और शरीर पर कोई बख़्त तक न पड़ना हो—ऐसे खुले बदन जायेंगे क्या ? [जीवन तो सम्बन्धों का युद्धक्षेत्र है । यहाँ अच्छे-बुरे-खट्टे-भीठे-तीले-कड़वे सब तरह के सम्बन्ध आयेंगे । तो चित्त को कोई शक्ति नहीं देते इनसे पेश आने के लिए ? सम्बन्धों के बीच सद्दोसलाहत जीने की तैयारी के बिना आया हो तो] उसे नावान हो मानेंगे न ! पत्थर बरस रहे हों और कोई ढाल न उठाये ! शरीर में व्याधि घुसे हों और कोई औषधि लेने में बेपरवाह हो, औषधि लेता न हो । ऐसे इस ज्वर देह में बैठ कर हरिनाम-रूपी औषधि का सेवन नहीं करते । “बन्धो नारायणो हरिः” उन वैद्यका का कहना नहीं सुनते ! घर में आग लगी हो तो क्या उसमें से निकलने का रास्ता नहीं खोजेंगे ? चारों तरफ़ आग लगी है लेकिन कोई अपनी जगह बैठे हैं निश्चिन्त होकर कि यहाँ बाप आये तब देखा जायेगा । क्यों नहीं उससे पहले बाहर निकलने का रास्ता मनुष्य हूँ बं ले ! शीते जो उस जल सकेने वाले घर को छोड़ कर सुरक्षित बाहर क्यों न निकल आए ?

“भीते जो मर जावे जो नर, सोई आवे तैरे द्वार ।  
साई तैरो बना रहे बरबार !”

अपने मित जाना—प्रभु के होना—यही तो जीते जी मरना है ! [आत्महत्या नहीं ! वह तो पलायन



है। और उससे कोई सम्पत्ति हल नहीं होगी। जिन मुकाम पर नरे होंगे, ठोक वहीं से प्रारम्भ करके दूसरी काया में जोना पड़ेगा।]

आश्चर्य प्रकट कर रहे हैं कि यह मनुष्यजाति कैसी है कि चारों तरफ से अलते घर को देख कर भी इसमें से बाहर निकलने की इच्छा नहीं हो रही है? मनुष्य अपने आसपास कितने उपद्रव देखता है—आधिदैविक, आधिभौतिक, आध्यात्मिक! फिर भी उसे मेरी शरण में आने की, मेरा भजन करने की बुद्धि नहीं होती। वे सोचते हैं अमुक दिवार से अमुक प्रक्रिया से सुखो हो जायेंगे। सुख के साधन जुटा लेंगे, धन जमा करेंगे, सत्ता कमायेंगे; शास्त्राल्म बढ़ायेंगे; भौतिक सुखा के उपाय करेंगे। परमात्मा के सिवा और तरह-तरह के आश्रय बनाता है जो मस्तुतः दिक्ने वाले नहीं हैं।

अरे अर्जुन! मनुष्य में ऐसा कोन-सा बल है कि मेरी श्रावभोग सत्ता का भान भी रखे बिना ये भान लेते हैं कि केवल इनके पुण्याय से सब काम चल जायेगा?... पक्षियों के जैसे दो पंख होते हैं, वेते मनुष्य के जीवन के लिए भी पंख हैं—पुण्याय और प्रपत्ति; पुण्याय और प्रणति या शरणागति। लेकिन मनुष्य का अहङ्कार हर समय डंक मारता रहता है—मैंने यह किया है, मैं यह करूँगा!—पछा नहीं मनुष्य के पास ऐसा कोन सा बल है कि वह एक ही पंख से उड़ने का दम भरता है, मेरी शरण में नहीं आना चाहता। नव्वर उपभोगों में निश्चिन्त होकर पड़े हुए हैं, मुझे स्मरण नहीं करते।

इन प्राणियों को मेरे भजन के सिवा भरोसा किसका है? बिधा का? कौशल का? कल किसी दुर्घटना में या भीतर से उठे रोग के कारण अस्थिरक बधिर हो जाय तो कहीं रहेंगे बिधा या कौशल? रूप, धन-योगन-परिवार-सत्ता सभी तो नश्वर हैं। इस देह के पात्र में काल की सरिता आयु को बहाये लिये जा रही है, देखते नहीं है? कैसा इन्हें भरोसा है? मेरे सिवा वास्तव में इनका बल, जायय, कोई नहीं। पर ये नाशान समझते नहीं, सभी सुखों महत्त्वाकांक्षाओं की पूति को अपने एक देह के भरोसे

देखते हैं, समस्त भोग्यजात इस देह के लिए ही है न। जब कि वह देह काल को धुँदो में है, देह को बनाये रखना इनके हाथ में तो है नहीं।

यदि ये मेरा स्मरण करें तो देह काल के मुख में जाने से पहले व्यक्ति के चित्त में क्या होगा?—एक तो काल का भय न रहेगा; क्योंकि मृत्यु में भी परमात्मा की ही सत्ता है ऐसी श्रद्धा होगी। दूसरे—किसी भी विन भरना ही है, यह याव रहे तो पाप करके, चोरी करके, अन्याय करके धन कमाने और इन्द्रियों के सुख भोगने-बटोरने की इच्छा नहीं रहेगी। वह समझ लेगा कि जब किसी भी समय सब कुछ छोड़ कर खाली हाथ चल देना है, तो क्यों किसी को दुःखो कर्क! देह की जितनी आवश्यकता है उतनी पूरी करने जितना ईमानदारी से—धर्म-न्याय से कमाऊँ, वह भी न जुटे तो न सही, किसी को दुःख तो न दूँ! अपनी शक्ति-बुद्धि से जितना हो सके उतना जीवन-साधन कमायेगा। यह नहीं देखेगा कि औरों के पास कितना है। यह तुलना-स्पर्धा में नहीं पड़ेगा। शोषण-अन्याय नहीं करेगा।

[यह एक लोकमानस बनाने की पद्धति है। सन्त लोग जो गाँव-गाँव घूमते थे—हरि-कथा का कोई ग्रन्थ लेकर उसको रत्नात्मक व्याख्या करते हुए अनायास शुभसंस्कारसिद्धन करते चलते थे। वही तो शिक्षण का अर्थ है।]

अनेक सुख-दुःख भोगते-भोगते, ८४ लाख मोनियों में घूमते-घूमते मनुष्य-देह मिली है। यह विषय-सुख भोगने के लिये नहीं है।

अज्ञातगत ने गावा है—

आत्मा की पहचान लो! अबसर पाया आज।  
इसे छोकर खाली जाओगे, तो क्या रहेंगे लाज!  
मनुष्य देह मिली है—आत्मा को परमात्मा को, अपना उनसे ब जगत् से क्या सम्बन्ध है यह पहचानने के लिये! उस सम्बन्ध को जोने के लिए यह देह मिली है। और मनुष्य होकर विषयों का बाजार बढ़ा रहे हैं, उसी में 'चकितचित' 'दृढ-उत' मँडरा रहे हैं कि यह ले लूँ—वह भी ले लूँ। किसी भी

उरहूँ धपट लूँ। धर्माचरण के लिए मिली हुई देह पाकर भी विषयों के बाजार में घूम रहे हैं। १००-१०० साल तक पैसा कमाने और उससे जीने के सुख-साधन जुटाने में लगे रहते हैं। फिर अगर समय बचा तो इसकी रखशाली करी, सम्भालते रहो! आधी जिनगी कमाने में, और बाकी उसे सम्भालने में गंवाते हैं।

महाराज सपना रहे हैं पण्डितों को—कि केवल धन्यज्ञान कमाने के लिये, अनुभूतियाँ कमाने के लिये मनुष्य-देह नहीं है। धर्म क्या है यह जानकर उस रहस्य को जीने के लिये यह देह मिला है। यह हाथ से चला गया तो फिर स्वधर्माचरण के लिए दूसरा साधन नहीं मिलेगा। “शरीरसाधं श्लु धर्म-साधनम्”—इस एक शरीर-मन-बुद्धि को या तो विषयों की खरीद-बिक्री में गंवा दो या अपना धर्म प्रभु का स्वरूप समझने में लगा लो! १००

भासित देहाध्यास से आत्मा देह-समान।  
पर ये दोनों भिन्न हैं जैसे अति और म्यान ॥

(श्रीमद् राजचन्द्र)

देह और उसमें रहने वाला आत्मा उतने ही पृथक् हैं जैसे तलवार और म्यान! ध्यान का आकार तलवार जैसा होता है, वंश देह में रहने वाले आत्मा को हम भ्रान्ति से देह ही मान बैठते हैं।

यह श्रीमद्भगवद्गीता ‘इन्द्राविद्या-योगशास्त्र’ है। जीवन जीने का योग सिखाती है। महाराज ने कहा है कि यह केवल धर्मों का शास्त्र नहीं, संसार को जीत लेने का शास्त्र है। १०० इसीलिये समझा रहे हैं कि इस देवदुर्लभ मनुष्य देह से आकर क्या उन्न भ्र विषयों के गोष्ठे हो भागते-भटकते

फिरोगे? १०० अरे बुझी हुई लकड़ी की राख फूँकते रहने से क्या दीपक जलेगा? चूल्हा जलेगा? वैसे ही विषयों को बटोरते से आत्मा का नित्यानन्द मिलने वाला नहीं। सच्चिदानन्द का दीपक विषय-लम्बि से नहीं जलेगा!]

अरे पार्थ! विषयों में भासित होने वाला सुख तो परम दुःख है! क्यों? सुन्दर रसोई बनाकर भोजन किया। भूख लगी थी वह भलोभाँति दान्त हुई; तृप्ति हुई। यहाँ तक तो ठीक! भूख का और अन्न का सम्बन्ध हुआ; यहाँ दोनों का चिन्तन विसर्जित हो गया, सब तो दुःख नहीं है। पर बात वहीं रुकती नहीं। यह जो स्वादिष्ट भोजन अभी मिला वह फिर मिलेगा या नहीं?—इसकी चिन्ता होती है; बारम्बार यह स्वाद-सुख मिले इसकी लालसा होती है। “अनुकूलवेदनीयं सुखम् प्रतिकूल-वेदनीयं दुःखम्” स्वादिष्ट भोजन करते समय जो अनुकूल संवेदन हुआ, उसकी याद चित्त में लिये हुए बार-बार उसकी जुगाली करते हैं, (चवित चर्वण करते हैं।) उसी में से सारा प्रपञ्च खड़ा होता है। विषययोग के समय हुए सुख का एक चित्त आँकते हैं चित्त में, फिर जब समय मिले तब उसकी देखते रहते हैं। उसमें समय नष्ट करते हैं। फिर यह दुबारा कैसे मिले उसकी चिन्ता, किसी तरह मिले इसके लिये प्रयत्न करते रहना, फिर भी न मिले तो क्रोध आना, दुःख होना। यही चक्र चलता है। जिस सुख का उपयोग किया उसके स्मरणमात्र से मनुष्य में आवेग उठता है। उससे चित्त में आक्रामकता आती है—“किसी भी सूरत (उपाय) से वह सुखसाधन मुझे चाहिये ही।” धर्म-अपमं की परवाह नहीं रहती।

[ अभी विसम्बर (८४) में मैं पंजाब में थी। वहाँ होशियारपुर में लाला देकचन्वजी के पास ठहरना हुआ था। उन्होंने अपने पक्कोसी परिवार की घटना सुनाई। उन पक्कोसी भाई का सात साल का बच्चा एक दिन लालाजी के पास आया। बोला: “बाबाजी दस रुपये दो।” इन्होंने कहा “बेटे तुम अभी बहुत छोटे हो, एक रुपया ले लो”, वह बोला “नहीं मुझे दस रुपये चाहिये”। लालाजी ने कहा “क्या करोगे दस रुपयों का?” वह बोला “एक छुरा खरीदूंगा”। चौके लालाजी, पूछा—“छुरा लेकर क्या करोगे?” बोला “बेटे को मार डालूंगा”

लालाजी—“अरे क्यों? बेटे को क्यों मारोगा?”

बच्चा—“कितना कहता हूँ कि टी० वी० खरीद दो, डेढी नहीं खरीब देते हैं; मेरे सब दोस्तों के घर टी० वी० हैं हमारे घर नहीं है।”

उसके पिता को आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं थी कि टी० वी० खरीद सकें। “लालाजी ने कहा “अच्छा; डेढी तो बहुत बड़े हैं तुम कैसे मारोगे?” यह बोला “जाग रहे होंगे तब नहीं मारूंगा, सो आगेमें तब मारूंगा।” —सहम गये लालाजी सब मुनकर। “कैसे हम बच्चों का मानस विकृत कर रहे हैं? तरह-तरह के विषयों का बाजार खड़ा करते हैं; उनकी ज़रूरत पैदा करते हैं, देखा-देखी से होड़ पैदा करते हैं? लालसा जगाते हैं। उन विषयों को पाने के लिये नीति-धर्म को परवाह न करना, कैसा भो पाप करके लालसा पूरी करना—यह सब देखते हैं बच्चे।” १९५५ वर्ष के वृद्ध लालाजी की आँखों से ज़ामू बह चले मुझे यह सुनाते हुए। यह सात साल का बच्चा—टी० वी० न मिलने से बाप को जान से मारने को बात सोचता है और विकृत तरीका भी गड़ लेता है। बच्चों के मानस को ऐसा विकृत हम कर रहे हैं।

यह छोटा बच्चा बोल गया सब। पर बड़े भो तो यही कर रहे हैं। देश को बेचने बैठे हैं जासूसी जाल में। वैसे के लिये, घराब के लिये... जिसकी लालसा उठी वह सोचे नहीं मिल सकता तो बहाने करेगा, बापक को मार डालेगा, कानून से धरबायेगा! उपभोग-परिपण संस्कृति मनुष्य को क्रूर बना देती है।

यहाँ जो महाराज बह रहे हैं कि विषयसुख वास्तव में दुःखरूप ही है। इसका मनोविज्ञान की दृष्टि से अर्थ देखिये। यदि यह मालूम हो कि हर सुख के पीछे दुःख बौड़ता है, सुख को छाया में दुःख पलता है, तो मनुष्य कहेंगा कि भाई! देह में आये हैं, इसे सम्हालने-खिलाने-बहानाने के लिये जितना ज़रूरी है उतना करेंगे, पर बाकी समय तो उस प्रयोजन को साधने में लगायेंगे जिसके लिये यह देह मिली है। व्यर्थ की आवश्यकतायें पैदा करके अपनी ब माल-बच्चों की आदत नहीं बिगाड़ेंगे। Proliferation of the consumer goods is the content of the modern civilization, & that is the curse of it. १०-१५ साल पहले बच्चों की जो ज़रूरतें नहीं थीं वे आज हमने पैदा कर दी हैं। मुझे तो घूमना पड़ा है विश्व के तीर-प्यालसे देशों में; अतिविकसित देशों की हालत देखी है, भौतिक सुखों की पराकाष्ठा है, लेकिन मनुष्य अतिशय दुःखी है।” नहीं तो क्या इस देश में इतना भ्रष्टाचार होता! घर-घर में किसी न किसी तरह की पूजा होती है, लाखों मन्दिर-मठ-देवस्थान हैं; मागवत-रामायण-गीता तथा अन्य धर्मग्रन्थों के हजारों पारायण-कथा-कीर्तन चलते रहते हैं, लाखों लोग सुनते हैं। फिर क्यों इतना भ्रष्टाचार-दुराचार है? क्योंकि पदार्थपरायण-भोगपरायण मानस बन गया है। क्यों न हम बच्चों को समझायें कि स्वस्थ-मुन्दर जीवन जीने के लिये अतन्ता वस्तुओं की आवश्यकता है उनको अच्छे तरह पुरां करेंगे, पर उनके पीछे दौड़ना नहीं है। जीवन एक मज है। धारो मिला है उसमें बहुत ही शक्ति! मिली है, उनका उपयोग करना है। आवश्यकता के लिये जितना चाहिये उतना लिखा, बाकी लुटा दिया—समय भी, शक्ति भी, धन भी। लुटाने में जीवन को कृताघंता है, लूटने में नहीं। बटोरने में नहीं। अपनी संस्कृति का सार एक शब्द में कहना हो तो यह लुटाने की संस्कृति है। ] (ओबी ४८६-५००)

आगे कहते हैं—अज्ञारों या विच्छुओं को शय्या बनाकर कोई उस पर लेटे और कहे कि सुख की नींद सोऊँगा तो अर्जुन! यह होगा क्या? ऐसे ही जिन विषयों में अत्यन्त अपूर्णता, नववरता का ढंक लगा हुआ है, उन विषयों की सेज पर सोकर कोई कल्पना करे कि सुख मिलेगा तो वह उलका भ्रम ही है न!

अरे जिस लोक में चन्द भी क्षयरोगी है।—  
दुःखलक्ष में प्रतिपदा से पूजिमा तक प्रतिदिन चन्द-

कलायें बढ़ती हैं; सोलहवाँ कला तक पहुँचता नहीं कि फिर कृष्णपक्ष आ जाता है—१५ में से भी प्रतिदिन क्रमशः एक-एक कला घटने लगती है और अमावस से तो चन्द दिखता ही नहीं। अरे सूर्य का भी उदय होता है अस्त के लिए! ‘उदय’ शब्द ही अस्त के सापेक्ष है। जन्म शब्द मृत्यु-सापेक्ष है। यहाँ तो गर्भ में जन्म हुआ—सभी से मृत्यु का प्रास आरम्भ हो जाता है। प्राणी गर्भ में आया कि निश्चित है एक

दिन उसको मृत्यु होगी। इस लोक में प्रत्येक मज्जल पर अमज्जल की छाया पड़ती रहती है। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।" यही न जन्म अकेला है न मृत्यु। दोनों साथ चलते हैं। सुख आता है तो गर्म में दुःख को लिए आता है।—

यही परब्रह्म लिखा था न गौतम बुद्ध ने—“सर्वं साणिकं, सर्वम् अनित्यं, सर्वं दुःखम्”—यह जो संसार है नित्य परिवर्तनशील, जिसमें नाम है, रूप है, जो आकार में—व्यक्त में आ गया है। वह ठहरने वाला नहीं। आकार में आना यह परिवर्तन का ही प्रकार है।

“अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।

अव्यक्तनिचिन्तायेव तत्र का परिवेदना ॥”

आकार में आए, व्यक्त हुए, तो नाम दिया, उसके साथ गुण आये। यह नाम-रूप-गुण को सरिता बहती ही चलती है, कभी ठहरती नहीं। इसलिए भगवान् बुद्ध आगाह करते हैं, चेतावनी देते हैं—कि यह जो परिवर्तनशील है—यहाँ चिपकना नहीं, यह अनित्य है। यहाँ रहना, सब साधनों का उपयोग करना, पर कहीं आसक्त मत होना। सुख से नहीं चिपकना, दुःख से भी नहीं चिपकना। प्रतिष्ठा से नहीं—अपमान से नहीं। दोनों को समान मानते हुए इस द्वैत में से गुजरते चले जाना बड़ी शान से। न इसर भटके न उचर भटके, न इसर चिपके न उचर के। सुख आया धुस्कुरा दिये। दुःख आया रो लिये। न धुस्कुराने की धारम न आसुओं की। लेकिन उन्हें बाँध कर न रखो। इस क्षण के दुःख को शिकायत अगले क्षण तक न ले जाना, इस क्षण के सुख की वासना अगले क्षण तक न लम्बाना! यह जीवन जीने की कला है।

इसो की यहाँ समझा रहे हैं, कि अर्जुन! यह जो मेरी पञ्चतर्कों—तीन गुणों से बनी हुई सृष्टि है—यह बदलने ही वाली है। यह ठहरेंगी नहीं। इसे देखते चलो, इसके बदलने का भी आनन्द लो; इसमें अटकने की, रुकने की मुवतान न करा। इतना अर्थ लेना है। इन विषयों से, सुख-दुःखों से, या

धरौ से भागना नहीं; चिपकना भी नहीं है। बस इनमें रहना है, इनमें से गुजरते जाना है। यह गुजरने के लिए संसार है। यह कर्म का प्रवाह है। इसके साथ चलना है।

[अब आता है कि हम कैसे दुःख पैदा कर लेते हैं।]

मनुष्य का स्वभाव है कि जो नहीं है उसका चिन्तन करते हैं। जो मिटा है उसका आनन्द नहीं मनाता। डेर मिला है उससे प्रपन्न नहीं रहता, जितना था नहीं मिला उसी को सोच-सोच कर मनुष्य दुःख पैदा करता है। जो नहीं है उसके चिन्तन और जलन में, जो हाथ में है उसका आनन्द खे ले नहीं सकते। जो नहीं है, और प्राप्त होने भी नहीं वाला है—देह के संस्कारों के कारण, आनुवंशिक प्रारब्ध के कारण, स्वयं देह ही ता प्रारब्ध है, संस्कार-राशि और स्वभाव प्रारब्ध ही है। पहले से आरम्भ हो चुका है। इस प्रारब्ध में आपका संघाष नहीं है कुछ प्राप्त होने का जो आप चाहते हैं, और अन्यो के तन-भन-बंध के संयोग ऐसे हैं कि वह बस्तु उन्हें प्राप्त है; आपके अदृश्य प्रारब्ध में वह नहीं है। तो आप क्या करते हैं कि जो नहीं मिला उसी का रोना रोते रहते हैं शिकायत लिए रहते हैं कि “मुझे यह नहीं मिला, वह नहीं मिला, इतना नहीं मिला जितना दूसरों को मिला।”

अरे भाई, जो नहीं है वह तो मिलने वाला भी नहीं है, क्यों कि यदि वह आपके प्रारब्ध में होता तो वंसा संयोग आ ही जाता! आपके प्रयत्नों के बावजूद जो नहीं मिला है, उसका पीछा छोड़ कर, आपको जितना मिला है उसका तो सहृदयता से आनन्द लूटिये। वह नहीं लूटिये। जो नहीं मिला उसको लालसा के कारण जो मिला है उसका आनन्द बिगड़ गया! जितना आपको मिला है उतना भी तो लाखों लोगों का नहीं मिला। आपको पसज्ज मिला। आपके कुछ पुण्य जागे कि चित्त भजन-पूजन में लगा, अन्य सांसारिक विषयभोग को और नहीं आये; इससे ध्यान्ति तो मिले न। पर “—यह ध्यान्ति मिले तो

तो क्या, समाधि तो नहीं हुई त! थोड़ा स्वभाव बदला पर सम्पूर्ण परिवर्तन तो नहीं हुआ न !...” यही शेष-अफसोस लिए जाते हैं। जो मिला है उसकी दूसरों से तुलना में, जो नहीं मिला, न मिलने वाला है, उसकी लालछा में चिन्तनी खराब करता है—यह मनुष्य को कैसी नदानो है ?

हम मान लेते हैं कि जो संसार से आ चुके उन महान् भक्तों को सबने सहायता ही की होगी। प्रेम-सम्मान ही दिया होगा। क्योंकि वे तो कहने नहीं आने हैं कि उन्हें कैसे-कैसे कष्ट सहने पड़े ? वे ईसा ही, सुकरात ही, गांधी ही !...अरे स्वयं भगवान् बासुदेव की बात लो ! आप क्या मानते हैं कि उनके जोतेजी सब लोगों ने उन्हें अच्छा कहा होगा ? उन्हें सबने सुख ही दिया होगा ? मैं तो मानती हूँ कि बासुदेव परम सन्यासी व्यक्ति रहे होंगे। उनके समान कष्ट किसी को भी पड़ा नहीं होगा। हमेशा दूसरों पर होने वाले अन्याय के विरोध में वे लड़ते रहे। अपने लिये राक्षपाट या कुछ भी कमी नहीं चाहा उन्होंने। कृष्ण के जीवन में उन्हें क्या-क्या सहन करना पड़ा होगा—यह कहने तो नहीं बँटे वे।

हम कहते हैं कि ब्रह्मा को आयु हजारों वर्षों का है, फिर भी वह सीमित है, संख्या में है। अर्थात् जो भी जीवन में आया वह अमर्याद नहीं हो सकता है। देह की, देह में इन्द्रियों द्वारा मिलने वाले सुखोप-भोगों की भी मर्यादा है, सीमा है। वे अनन्त शाश्वत नहीं हो सकते। देह अनित्य है, विषय परिवर्तनशील है। इन दोनों में शाश्वती का आधान न रहे। देह को अनित्यता, विषयों की परिवर्तनशीलता को समझ कर, स्वोकार करने हम दैनिक जीवन की अनिश्चय आवश्यकताओं को पूरी करते रहें—बुद्धि व इन्द्रियों का पुष्पांश उसमें खपायें, बाकी बची धार्मिक-सद्य और चित्त को मुक्त में (परमात्मा में) लगा दो। मैं जो नित्य शाश्वत अमर्याद आनन्दस्वरूप हूँ—चित्त मुक्त में लीन रहे।

अनित्य देह में बँटे चित्त में वासना है नित्य आनन्द की। वह तृप्ति वा सन्तोषी केवल परमात्मा

में। सद्य-प्रेम-कृष्णा की प्यास प्रत्येक मनुष्य के हृदय में है। सब हम से सच बोलें, हम से स्नेह रखें, हमारी कोई भूलें हो जायें तो कृष्णा से क्षमा कर दें। यह प्रत्येक मनुष्य चाहता है। भले कितना भी पापी हो, चित्त में यही प्यास है। हम व्यवहार के नाम पर भले करते कुछ और हों, पर भीतर अभीप्सा रहती है सत्य को, शुभ की, स्नेह की। यह जो अनित्य-सद्यभंगुर देह में रहते हुए अमृतत्व की, नित्यता की प्यास है, अमङ्गल में रहते हुए मौल्य की प्यास है—वह परिवर्तनशील विषयों के प्रवाह में तुम होने वाली नहीं। यह तो तृप्त होगी मुझ में आकर ही।—मैं जो चिरशाश्वत, परम आद्य, वेद प्रतिपाद, स्वसंवेद्य हूँ, सच्चिदानन्द हूँ—मेरे साथ उस प्यास को जोड़ दो। तभी वह सत्य-प्रेम-कृष्णा की प्यास तुम हो सकेगी। देह के इन्द्रियों की भाषत नहीं, बुद्धि के सम्बन्धान व विचारों की भाषत नहीं, चित्त के विचारों की भाषत नहीं। सन्तुष्टि-परितृप्ति मिलेगी—मुझ एक-अविभाज्य-अखण्ड में आकर ही। अतः अपने चित्त को मुझ से जोड़ दे न पायें ! [मार्ग रहे हैं भक्त के पास] “अर्जुन मुझे तो भक्तों का व्यसन है। मैं तो भक्तों का ध्यान करता हूँ। वे मेरी कान्ता हैं मैं उनका क्लेश हूँ। भक्त मुझे कान्ति प्रदान करते हैं—तू समझ ले !”—मह आगे १२वें अध्याय में कहने वाले हैं। मेरे साथ चित्त को जोड़ दो, मेरा स्मरण करो। उस रास्ते से जो सुख मिलेगा, जो आनन्द मिलेगा वह शाश्वत होगा, स्थायी होगा। यह कहना चाहते हैं। (श्रीवै ५०१-७)

संसार में रहने वाले लोग विपरीत ज्ञान के कारण भ्रमित हो जाते हैं और भ्रम में ही प्रभु के दिव्य जीवन को खो देते हैं। जो फल सामने नहीं है—दृष्टि हा अदृष्ट ही, उसे प्राप्त करने के लिये करोड़ों राशि व्यय करते हैं। हाथ में धन है खतमान, आज का दिन, अभी का द्वाप—ये हैं हमें मिले हुई पूजा। देह, इन्द्रियाँ, इनकी धार्मिक, प्रारम्भ से मिला हुआ काल ! (समय भी एक प्रकार का ब्रह्म ही है।) यह सब प्रभु ने हमें दिया है जीवन की पंजी रूप में।

इसे मनुष्य खर्च करते हैं भविष्य की भाषा में। भविष्य के लिये मनोरथ रचते हैं, आकांक्षायें, सपने संजोते हैं। और उस काल्पनिक राज्य के लिये वर्तमान की शक्ति खर्च करते हैं। कैसे पूरा है ये ?

‘दृष्ट-अदृष्ट’ में एक दलेख है, कि चिर वर्तमान कौन है ?—परमात्मा की सत्ता। उसकी तरफ ध्यान नहीं दे रहे हैं। उसने तो कृपा करके नाम-रूप भी धारण किये। विषयों तक का रूप धारण करके आस-पास चारों तरफ उपस्थित हैं, भीतर-बाह्य सब ओर वे ही वे छाये हैं। आँखों में दृष्टि बन कर, उपर में षटराशि बन कर वे ही विराजमान हैं। घारे शरीर के अवयवों में वे ही तो बँठे हैं। उन चिर-उपस्थित की तो हम उपेक्षा करते हैं, और—बाह्य कहीं से—प्रेम की कायना, सत्ता की—प्रतिष्ठा की—बन की—इन्द्रिय-विषयोपयोग की कामना, परलोक में क्या मिलेगा—उसकी कामना—इन सब में पागल होकर मनुष्य ढोड़ता है, और जो सामने है, हाथ में प्राप्त है उसको उपेक्षा करता है। यह कैसी विपरीत जीवनपद्धति है अर्जुन !

यहाँ तो सर्वस्व से हानि है—जगत् के विषयसुख की—काल्पनिक सुखों की भाषा में भी जीवन की पूंजी खर्च करेगे; और परमात्मा को स्मरण नहीं करते। पुण्य कमावे के लिये भी कहीं नथो पर घाट या कूड़ा या विद्यालय में काँई करार, घर्मशाला में कमरा बनवा देंगे तो उसमें भी परिवारसहित अपने नाम का पत्थर ज़रूर लगवायेंगे कि हमेशा सब जानते रहें कि यह किसने बनवाया था। पुण्य कमावे को धन खर्च किया, पर प्रतिष्ठा की लालसा इस तरह नाम खूबसा कर पुण्य भी होने नहीं देती। लेकिन प्रभुभक्ति के लिये तन-मन-बन में से कुछ भी खर्च नहीं करेंगे। कैसे नाशन है ये मनुष्य।

और क्या विपरीत है यहाँ पर ? जो विषयों के विलास में अपने को गुंथ देता है, उसी में निमग्न हो जाता है उसे वे सफल मानते हैं। और जो अमिलाव के भार से खबे रहते हैं—वे सत्ता-सम्पत्ति-विषयवर्ग की अमिलावा वाले बड़े-बड़े पण्डित-विद्वान्-महन्त हों या अन्य पारिवारिक-सामाजिक-सांसारिक अभि-

लाषाओं महत्कांक्षाओं से लदे गृहस्थाश्रमी हों—अमिलावा का मल दोनों के चित्त पर समान है। इन लोगों को बड़े सम्बन्धवार और ज्ञानी माना जाता है। अरे, जिनके चित्त में मोह हो, क्रोध हो, ईर्ष्या हो उन्हें क्या ज्ञानी कहेंगे ? [ बड़े-बड़े वैज्ञानिक बँठे हैं विदेशों में, रूस अमेरिका में। अरे विज्ञान का काम है सत्य का अन्वेषण करना, मनुष्य के जीवन की हिसकारी साधन देना शान्तिमय बनाना। बड़े-बड़े प्राकृतिक विज्ञान के अधिकारी विद्यालय अमला-कैला लिये बँठे हैं। उनके नये-नये प्रयोग-आविष्कार-जाँच-परख चलते रहते हैं। और उनका व्यक्तिगत जीवन देखो तो इतनी पामरता—इतनी लुब्धावा—यह कौन सा विज्ञान है ? जो घर में आने पर ठिठक आता है और प्रयोगशाला में काम करता है ? वैज्ञानिकों, साहित्यिकों, कलाकारों के आपस में कितने झगड़े रहते हैं ? और ये तथाकथित साधु-सन्त-महत्तों के झगड़े देखने हों तो आश्चर्य कुम्भ मेले में। कितने लठु चलते हैं, चिर फूटते हैं, दिन-रात अलग-अलग अपने-अपने बँठकर एक-दूसरे की निन्दा चलती है। 'ऐसे अमिलाव के भार से जो दब जाते हैं उन्हें दुनिया सजान कहती है।

‘सजान’ शब्द में और एक कटाक्ष है। घराठी में ‘सजान’ कहते हैं बयस्क, बालिग व्यक्ति को, २१ वर्ष के होते पर जब उसे कानूनी अधिकार प्राप्त होते हैं। उसी को लेकर कहते हैं कि २१ से २५ वर्ष की उम्र तो “गवाच-चौरी” होती है, अमिलावाओं का उद्गम वेग बढ़ता है फिर पर, उसको ये कहते हैं “सजान” हो गये। जितना विषय-विलास में उलझे रहते हैं, परिग्रह का पतारा सम्भाला नहीं जाता—उतना उन्हें सफल व्यक्ति मानते हैं।

और देखो, ज्यों-ज्यों आयु कम रहती जाती है, शरीर-बुद्धियों की शक्ति और प्रज्ञा का बल क्षीण होने लगता है—

“अङ्ग गलितं पलितं पुण्ड्रं दशनविहीनं जातं तुण्डम् ।  
दुद्धो माति गृहीत्वा दण्डं तथपि न पुञ्जति आशापिण्डम्”

ऐसे लोगों को कहते हैं इन्हें प्रणाम करो, चरण छुओ, ये गुरुजन हैं, पूजनीय हैं। उनकी राय या

मनुष्य को प्रमाण माना जाता है। किन्तु कितने वर्ष कौन जिया इसका क्या महत्व ? [ज्ञानेश्वर महाराज के ये शब्द बड़े भाविक हैं। उन्होंने आठ-नौ वर्ष से १२वें वर्ष तक को पीण्ड-किशोर वयस् में ही वेवोप-निषर्षों का, दर्शनशार्पों का अध्ययन किया था, इसी बीच साधना भी पूरी कर ली थी, १२ वर्ष के होते ही ज्ञानेश्वरी कहने बैठे थे। इसलिये वे कहने के अधिकारी बने कि नमस्कार का अधिकार केवल शरीर की वृद्धता से नहीं आता।] केवल शरीर की आयु प्रामाण्य का निमित्त नहीं होना चाहिये—यह उनका अभिप्राय है।

अरे, घर में बालक है, दिन-दिन बढ़ रहा है। माता-पिता प्रसन्न होते हैं, प्रतिवर्ष उसका जन्म-दिन मनाते हैं उत्सव करते हैं। किन्तु वह तो एक-एक वर्ष अपिक-अधिक काल के समोप जा रहा है इसकी खुशी क्या मनाना ? उसको तो आयु घटती जा रही है। [बिनीबाजी भी ऐसा ही कहा करते थे।] यह याच नहीं आता ! बड़े बचनवार-दीर्घ लगते हैं। यह नहीं मालूम कि उसका काल भी उस उत्सव में शामिल होता है।

और—‘मरो’—यह शब्द सहन नहीं करते; मरते पर रोना आवश्यक मानते हैं। भले ही जीते समय उस व्यक्ति को कितना ही दुःख दिया हो। मरते पर रोने बैठेंगे। ‘जीते बाप को रोटी न देवें मरे उपर पछिताने। मुट्ठी चावल हाथ में ले के कीआ माप पुकारे।’ ‘अनाही दुनिया; भजन बिना कैसे तरिये।’ ‘वांके का एक नाग बनाकर पूजत लोग-लुगाई, सच्चा नाग निकल जब आवे दे लाठी धकियाई।’  
(सन्त तुफङ्गोजी)

अपनी आयु भी रोज-रोज एक-एक दिन घटती जा रही है इसका क्याल नहीं रखते, परनिन्दा में और प्रमाद में समग्र नष्ट करते रहते हैं। गया किन तो बापस आता नहीं। पर पूर्वस मनुष्य चेतता नहीं। [और एक उपमा देते हैं—] एक साँप के मूँद में भेड़क आवे से जयाथा चला गया है; पर इसने में भेड़क को सामने कोई मक्खी उड़ती दिखती है तो

उसको पकड़ने-खाने के लिए वह भेड़क जीम लपलपा कर कोशिश कर रहा है—जब कि साँप को पीछे से साँप ने पकड़ ही रखा है बस निगलने की देर है।—ऐसी यह मनुष्य की दुनिया मूख है। उसके सामने जो विषय दिखते हैं उनकी ओर जीवन के अन्तिम क्षण तक मनुष्य लालसा की जीम फैलाता रहता है।

भला किस लोभ से मनुष्य विषयों की तुष्णा बढ़ाता है ? जितना विषयभोग करें उतनी इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती है—बर्षों लोग यह समझते नहीं ?—‘कामाः न युंता बभवेय युंताः’ दमन-निग्रह-वीक्षण में जबर्दस्ती इन्द्रियों को कस कर रखा जाय तो हृष्य का रस सूख जाता है और अधिक विषयभोग से इन्द्रियाँ शिथिल पड़ जाती हैं।

(ओवी ५०८-१४)

अर्जुन कितना वर्णन करे ? इस मृत्युलोक में लोगों के जीने की पद्धति सब उलटी है। इस लोक में संयोगवशा भले ही तेरा जन्म हो गया, पर मुझे तेरा प्रेम है न। झटपट इसकी सब रीति-पद्धति झटक कर तुम दूर कर दो। विपरीत ज्ञानवालों की खड़ी की हुई माया में से तू जल्दो बाहर निकल। और मेरी भक्ति में लग जा। मैं तो अनादि नित्य स्वयम्भू सबमें अंतर्प्रोत उत्त्व हूँ—मुझे तू पकड़ ले, तो सारा विपरीत ज्ञान मिट कर यथार्थ ज्ञान हो जायेगा। संस्कार-समुच्चयस्थ तेरे मन को विपरीत संस्कारों से हटा कर तू इसे मेरी भक्ति के संस्कारों से भर दे। यदि तेरी कोई शक्ति है तो वह मेरे भजन में रखना। भजन में—स्मरण होगा, अनुसन्धान होगा, भाव होगा। और जो कुछ तुझे काप करना है उसमें बुद्धि का, चित्त का अनुसन्धान मेरे साथ रहेगा, भले ही इन्द्रियों को प्रारम्भश्रास कर्म करते दो। मन मुसमें लगा दो, मुझे साथ चो। [यही तो मनुष्य करना नहीं चाहता। वह कहता है ‘तुम घर ले लो, परिवार ले लो, शरीर भी ले लो। पर मन नहीं माँगना।] इसे तो साठ पेटियों के भीतर सम्हाल कर रखूँगा।’ और ज्ञानेश्वर महाराज बारम्बार वही पर प्रहार करते हैं—[मन मुझे दे दो फिर तुम भले

संसार में रहे। जैसे नौका पानी में रहती है। मन-मन्थिर में मुझे बसा लो, कर्मों का फल भी मुझे ही वे दो। फिर तेरी इन्द्रियाँ दिन भर कर्म किया करें—वे कर्म तुझे नहीं बाँचेंगे।

मन मुझमें रख, मेरा ही भजन कर, सर्वत्र एक मुझे नमस्कार कर। [इसका यह अर्थ नहीं कि केवल देवकीपुत्र को ही नमस्कार करना ! सत्य तत्त्व के प्रति—परमात्मा की सत्ता के प्रति नमन करने को कहा है।] तू अहाँ भी पाँव रखेगा वहीं मैं हूँ। मुझे भूलना नहीं। मुझे मन्थिर में सीमित न समझना। तू जिस व्यक्ति से बोलेगा वह व्यक्ति भी मैं हूँ। यह स्वरूप रखना कि संसार में सर्वत्र मैं ही हूँ, मुझको छोड़ कर और कोई नहीं है। "द्वितीयाद् वै भयं भवति।" दूसरा कोई हो, सब तो भय लगे त ! सर्वत्र परमात्मा ही है—ऐसी त्रिसको बुद्धि हो जाय—उसको कहते हैं भक्त। [मनुष्य तो परमात्मा की सम्प्रदायों में बाँधना चाहते हैं, दिनोंदिन सम्प्रदायों की संख्या बढ़ती जाती है—भगवान् छोटे होते जाते हैं, अब तो जितने साधु जतने सम्प्रदाय और उतने ही भगवान्। भगवान् की एकता लुप्त कर दो—उपाकथित भक्तों ने !—अपने मार्गदर्शक के प्रति विशेष प्रेम होगा इसका इन्कार नहीं किन्तु मूल तत्त्व को न भूलें।]

यहाँ "नमन" शब्द के दो अर्थ हैं। तू मुझे मन देकर 'न मन' (मन रहित) हो जा। तेरा मन तो 'मन्मथ' हो चुका है। पहले एक अध्याय में कह चुके हैं—नमन यह है कि प्रणाम करके उठे तो आप 'अ मन' हो गये। मन का अभाव हो जाय तो वह नमन सार्थक है। "और एक अगह महाराज ने कहा है कि

[नरिक्त का गुणत अर्थ लगा रखा है हुनिया ने—'सांगते एतना'—'मुझे यह बोलिये, ऐसा कर दीजिये, वह कर दीजिये, संकट मिटा दीजिये, बुझ हटा दीजिये।' हृत्पार मांगना ही श्रम नहीं होता प्रभु के पास। मैं जो बना चाहते हूँ सो वे नहीं सकते हैं, क्योंकि हृत्पार मांगना श्रम नहीं होता। अब हृत्पार मांगना श्रम होगा तब इनका बना मुक्त होगा। जो हृत्पार हित उन्हें दिखाता है वे तब बगे न। जब हृत्पार भाँचने का अन्त आयेगा।]

मेरे अन्तःकरण का जो अत्यन्त गुण है, जो मेरा अतीव मिय धृष्ट-हृष्ट-है, मेरे पक्षप्राणों के भीतर

खाली बहा नदी में दुबोया तो वह छलकता हुआ बाहर आया जैसे मैं श्रीगुरु को नमन करने गया, उन्होंने मुझे अमन बना दिया और उस आनन्द में छलकता हुआ मैं जीवन जोने लगा।।।"

[नमन कहाँ होगा ?—सर्वत्र। सर्वत्र प्रयुक्तता को देखते हुए नमन होगा। वह सम्पूर्ण जीवन जीने की एक दृष्टि, एक वृत्ति बन जाती है। Humility is an attitude towards life. हम शरीर से जो करते हैं वह उसका प्रतीक मात्र है। वह वृत्ति अन्तर न हो तो साष्टाङ्ग प्रणाम भी यात्रिक औपचारिक क्रिया मात्र रह जाता है।

अब अनुसन्धान का अर्थ समझाते हैं—] मेरी जो सार्वभौम सत्ता है, सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ, सर्व में ओत-प्रोत जो मैं हूँ—उन मेरा जो अनुसन्धान करेगा—वह अपने लिए कोई सङ्कल्प-विकल्प करेगा ? कि मुझे यह चाहिये-वह नहीं चाहिये—ऐसे संकल्प या इच्छाएँ तो वह रख नहीं सकेगा। अनुसन्धान का अर्थ है संकल्पों को जला कर निःशेष कर देना, संकल्पों का सर्वथा भस्मीभूत-समाप्त-निःशेष हो जाना। यदि मेरे साथ अनुसन्धान है तो वह अपने लिये कोई संकल्प-विकल्प करेगा नहीं।—"यही मुझे चाहिये, वह नहीं चाहिये"—ऐसा वह सोच भी नहीं सकेगा। क्योंकि मेरी जो सत्ता है, वह कोई अन्वयक्ति, अरात्रक बल तो नहीं है। मेरा अनुसन्धान जो रखेगा उसका हित किसमें है—वह तो मैं जानता हूँ न ! मैं शब्दों का हित जानती है तो क्या मैं मेरे भक्तों का हित नहीं जानता ? अतः, जो कुछ मेरे भक्त के साथ होगा उसमें उसका हित है, कल्याण है—ऐसी उसकी श्रद्धा होने के कारण वह कुछ भी चाहता नहीं।

जो छिपा कर रखा है, जिसे लक्ष्मी भी नहीं जानती, वह मैं तुझे कह रहा हूँ पाप ! तू मेरा सखा जो है।



यही कहता है कि जो बाहर सर्वत्र नमन करेगा और भीतर जिसका अनुसन्धान मेरे साथ रहेगा उसका वेद मिश्र होते हुए भी उसका स्वरूप और मेरा स्वरूप अभिन्न ही रहेगा, उसके व मेरे स्वरूप में कोई अन्तर होने वाला नहीं है। क्योंकि रातदिन उसका अनुसन्धान मेरे साथ है।

अरे भाई ! पतञ्ज उड़-उड़ कर कहाँ जायेगा ? पतञ्ज की डोरी जिसके हाथ में है वह जैसी कसेगा या छोड़ेगा वैसा ही तो पतञ्ज उड़ेगा ? वैसे अपने जीवन की डोरी मेरे हाथों में जिन्ने सौंप दी वह मुझे पृथक् कहाँ रहा ? कर्म करते समय नमन जिसकी वृत्ति है, और भीतर नित्य मेरा अनुसन्धान है, वह मेरा स्वरूप ही हो गया है—समस्तो !—

बढ़ो वेदना से कह रहे हैं कि हे पार्थ ! कोई मेरे पास स्वयं मुझको नहीं माँगता। श्रद्धि-सिद्धि-अनुभूति धर्मिणं, वेदा—सुख्य परिवार—घर धर्मिणं, बल-प्रतिष्ठा-सत्ता धर्मिणं, पर मुझे कोई नहीं माँगता। हे पार्थ ! हृदय की मूक बात तुझे कह रहा हूँ—तू मुझे माँग ले। मेरे साथ अनुसन्धान रख। तू मत्स्वरूप ही जायेगा।

[कोई भी अनुभवी-ज्ञानी-भक्त यही कहेगा। अष्टात्स का सार है अहङ्कार की प्रथिप का पिघल जाना। ज्ञान के अग्नि में वह पिघल जाय, गल जाय, या प्रेम-रसायन में घुल जाय। "प्रेमपन्थ पावक की ज्वाला !"] (ओवी ५१५-२०)

अर्जुन ! यह जो हमारा सर्वस्व है, जो अत्यन्त गुप्त है, जो राजविद्या, राजयोग है—यह हम सबको नहीं कहते। तू प्रिय सखा है इसलिये तुझे कह दी। यह रहस्य सबसे चुरा कर रखा है मैं ने ! मेरे साथ रहने वाली लक्ष्मी भी उसे नहीं जानती। यह मेरा सर्वस्व—राजयोग का रहस्य तू ले ले—संसार के बीच, विषयों के बीच, सम्बन्धों के बीच रहना है देह-व्यारम्भ के कारण, लेकिन भीतर बाहर सर्वत्र प्रभु की सत्ता की ही देखना है। उसे किसी नामरूप के आधार से देखना-कहना चाहो तो वैसा देखो।—कि "सर्वत्र मेरे 'राम' है या 'व्याम' है या 'शिव' है।"—नाम-रूप के आधार से देखो या निराकार-

अरूप-अनाम सत्ताभाव रूप से पहचानो ! किसी भी प्रकार यदि सर्वदा सर्वत्र मेरा ही अनुसन्धान रहेगा तो तू सुखरूप हो जायेगा। फिर तू दुःख कभी नहीं जानेगा।

एक बार जो ब्राह्मी स्थिति में चले गये, बहों प्रतिष्ठित हो गये, उन्हें फिर दुःख क्या है यह पता नहीं रहेगा। वे रोना नहीं जानेंगे। कृष्णा से रोयें—यह बात अलग है। लेकिन अपने लिये दुःख वे नहीं जानते। वे इतना ही जानते हैं कि प्रभु जो करेंगे वह मेरे कल्याण की बात होगी, मेरे हित की बात होगी। किसी को उठा लिया धेरे जीवन में से—तो समझ लूंगा कि "इस को मेरी आसक्ति होगी, उस आसक्ति में से उबार लेने के लिये प्रभु इसे उठा कर अपने पास ले गये। वह व्यक्ति ही, वन-हो, कीर्ति हो, बस्तु हो।" अपना हुआ तो समझूंगा कि "कहीं न कहीं अहङ्कार बाकी है। जो अपना करके प्रभु उस अहङ्कार को गला देना चाहते हैं।"—इस तरह भक्त के जीवन में प्रभु जो करते हैं उसका सम्पूर्ण स्वीकार है। इसलिये वह दुःख नहीं जानता।

संजय कह रहे हैं कि क्यामल परब्रह्म मे ऐसा कहा। [सबिला क्यों ? वह न गौर है न कृष्ण है, उसे आपके बरिचित किसी वर्ण की उपमा आप नहीं दे सकते है। अनुपमेय है इसलिये सबिला कहा। दिन नहीं, रात्रि नहीं—सन्ध्या है वह। नाश्वेय सूक्त में कहा है—"नाशदासोन् नो सदा-सोत्तदानीम्" इस विषय का व्यक्त रूप आने से पहले मूल में न सत् था न असत् था, न दिन न रात्र, न मृत्यु न अमृत, ऐसी सत्ता का वर्णन करने के लिये जो—"व्याम" और "श्याम" शब्द का प्रयोग है वह बड़ा रसिक है, सूचक-सम्पर्क है।

जो सदेह सबैले परब्रह्म है उनको बासुदेव के रूप से, जिसकी वृत्ति सर्वाकार हो गयी, जिसके पास अपना पराया नहीं रह गया, जो सदेह प्रेम-रूप है उसका व्यवहार ज्ञानमुद्रा का है, उन्हें परब्रह्म न कहें तो क्या कहें ? वे भक्तों की कामना पूरी

करने वाले कल्पद्रुम है। भक्तों की इच्छा क्या?—  
 "सत्सङ्ग देना सदा ! न चाहिये मुक्तिबल-सम्पदा !"  
 "तुम्हारी मुक्ति-बल-सम्पत्ति-भोग-ऐश्वर्य सब तुम्हारे  
 पास रखो—तुम तो केवल सदा सर्वथा सन्त-  
 सङ्ग देना !"

यह आप अनुभव करके देखें कि जिसके चित्त में परमात्मा की तरफ—अध्यात्म की तरफ सच्ची अभिमुखता हो गई—उसको पता नहीं कैसे व कहीं से सत्सङ्ग मिलता ही रहता है। वह प्रयत्न करे या न करे, पता नहीं कहीं से ऐसे अवसर उसके जीवन में आ जाते हैं कि उसको सत्सङ्ग मिलता ही रहता है। हाँ, जिज्ञासा सच्ची होनी चाहिये, केवल बौद्धिक पिछेपिछा नहीं। सच्ची जिज्ञासा—प्रभु के लिये ध्यान—एक बार हो जाय, बाकी सब सम्हालने के लिये वे समर्थ हैं। ऐसे वे आत्माराधन बोल रहे हैं—यह संजय कह रहे थे। कहते हुए उन्होंने घृतराष्ट्र की ओर देखा कि ये वृद्ध सुन भी रहे हैं या नहीं। अब तक तो संजय अपनी मस्ती में—व्यास-कृपा से युद्ध-क्षेत्र का सब दृश्य देखने-सुनने की सामर्थ्य के सीमाभंग का आनन्द लेते हुए श्रीकृष्ण की वाणी जैसी सुनते वैसे बोलते जा रहे थे, उस रस से सराबोर थे। फिर उसके मन में आया कि यह इतना सुन्दर राजयोग का वर्णन सुनाया गया—इसका कोई अन्त घृतराष्ट्र पर हुआ है क्या? तो देखा कि वृद्ध राजा की वह वर्णन सुनने में जरा भी रस नहीं था।

नदी या तालाब में सुख से चँच कर बैठता हुआ जैसा जैसे कुछ भी सुनता-देखता नहीं, वैसे ये घृतराष्ट्र बैठे हैं। उनके सौ पुत्रों के प्रति मोह की नवीन बाढ़ आयी हुई है—उसे बस एक ही पत्नी है कि "मेरे पुत्रों का क्या हुआ? युद्ध में कौन जीतेगा?....."

तब संजय ने माथा ठोका लिया कि यहाँ अमृत की वर्षा हुई, पर इसका चित्त तो दूसरे गाँव गया हुआ है, इसने कुछ भी सुना नहीं। अभागे का स्वभाव ही ऐसा है क्या करें?

[यह भावार्थदीपिका केवल गीता का शब्दार्थ तो नहीं, गीता एवं ज्ञानेश्वरी की साथ पढ़ें तो मूल

पन्थ कौन सा है यह भ्रम हो आयेगा? क्योंकि दुग्ध देखते-देखते व्याख्यान कर रहे हैं। ज्ञानेश्वर के मनः चक्षु के सामने तो पूरा दुग्ध गोठा का विश्व रहा था, अतः उम दुग्ध को ज्यों का त्यों कह गये। पर 'मैत्रे' की उपमा शायद अच्छी नहीं लगी—श्री निवृत्तिदेव को—ऐसा लगा—क्योंकि वैसे तो ज्ञानेश्वर भवपुर भाषी हैं, इसमें घृतराष्ट्र के प्रति यह शब्दप्रयोग कुछ उग्र हो गया।...तो कह दिया—]

किन्तु—ये तो मेरे अग्रजता हैं, इनके विषय में मैंने बाधा मालिन की, यह ठीक नहीं हुआ। इन्हीं के निमित्त से तो महाभूमिनाथ व्यासदेव ने मुझ पर यह कृपा की है कि यहाँ बैठता हुआ मैं कुच्छेत्र का सारा दृश्य देख रहा हूँ और वासुदेव-अर्जुन का संवाच साक्षात् सुन पा रहा हूँ। किन्तु बड़ा भाग्य मेरा कि यह सीमाभंग गया।

बहुत मुश्किल से संजय ने इतना-सा कहा। उसकी आँखों के सामने श्रीकृष्ण-अर्जुन हैं। श्रीमुख से वह राजविद्याराजगुह्य योग का वर्णन सुनकर अर्जुन को अष्टसात्विकभाव उदित हो आये—रोमाञ्चित हो गया। वह देखते-देखते संजय की क्या अवस्था हुई—यह वर्णन चल रहा है। इतना बोलते-बोलते संजय की हालत अर्जुन जैसी ही गयी, अष्टसात्विक भाव हुए; हृदय भर आया, कण्ठ गद्गद हो गया, वाणी जहाँ की तहाँ पंगु हो दक गई। वैश्वरी में आते-आते मध्यमा में अटक गई।

[यह तो माय पन्थ का विशेष विषय है—नामि में से बाधनमातृकार्थों में से बिन्दु कैसे बनता है स्वास के आधार से बिन्दु ऊपर कैसे चढ़ता है? वह परा से पश्यन्ती से मध्यमा में आकर नाद रूप कैसे धारण करता है? कैसे वैश्वरी में उसका शब्दाकार स्फोट होता है—यह कहना है। अध्याय के अन्त में चलते-चलते उसकी ओर इङ्गित कर दे रहे हैं कि वाणी मध्यमा तक आकर अटक गई—वैश्वरी में उतर न सकी।]

अर्धनीमोलित नयन हो गये, रोमाञ्च से मानों कञ्चुक बन गया। अन्तर जो स्वास रेंच रही थी

उससे शरीर काँपने लगा। शरीर के सब रोम-कूपों में से निर्मल स्वेदकणिकायें झलक आयीं।

'निर्मल'—योगाभ्यासों के शल-शुद्ध-पसीने में गन्ध नहीं हो सकती। सूचित कर रहे हैं कि संजय भी योग के अधिकारी थे। ऐसा लगा कि पूरे शरीर पर मोती की जाली ओढ़ी हो।

[शुद्ध स्वेद का रंग सन्धे मोती का सा होता है।] व्यासमुनि को चिन्ता होने लगी कि आगे का संवाह कीन सुनायेगा। अतः व्यासजी ने संजय को सम्भाल लिया। अतः श्रीकृष्णार्जुन की बातलाप की ध्वनि उसके कान तक फिर से आने लगी। व्यासमुनि बड़े परिश्रम से उसे देहस्मृति पर वापस लाये।

तब वेत्तजल का विसर्जन करके, शरीर की स्वेदकणिकायें पोंछ डालीं। फिर संजय धृतराष्ट्र को कहने लगे—महाराज अब ध्यान देंगे ?

अब शानेश्वर कह रहे हैं—श्रीकृष्णवाक्यरूपी बीज, संजय के श्रवण व चित्तरूपी सात्त्विक धरती

में बोये जा रहे हैं—आप (श्रोतागण) ध्यान देंगे तो उन बीजों पर जो फसल आयी वह आप वा सकेंगे। श्रोताओ! प्रमेय (चार महावाक्यों के अर्थ) सरल अर्थ रूप में हमें मिलेगा।

अब बोझा सा अवधान और दिया जाय (बीजिये) यदि आप अवधान देंगे (अवधान—सर्वेन्द्रियवृत्तियों को एकाग्र करके सुनना) तो आप सुख की राशि पर जा बैठेंगे। देखिये श्रवणेन्द्रिय पर प्रभु की कैसी कृपा उतर आयी है कि—प्रभु नाब शब्द रूप बनकर इनके द्वारा आपके और मेरे भीतर प्रवेश कर रहे हैं। परमात्मा ने श्रवणेन्द्रियों के गले में माला डाल दी है। शिष्टों के मुकुटमणि कृष्ण—जो सभी विभूतियों के परमनाम हैं—वे अब अर्जुन को अपनी विभूतियों का वर्णन सुनाने वाले हैं, इसलिये श्री निवृत्तिनाथ के ज्ञानदेव कहते हैं कि हे श्रोतागण उसे बहुत प्रेमपूर्वक सुनिये। (ओषो ५२१-३५)

ॐ हरिः ॐ तत् सत् ॐ ॐ



भारती ज्ञानराजा ! महाकैवल्यतेजा ! सेवितो सारधु-सन्त !

मनु देखिला बा माहा । भारती जानराजा !

छोपले ज्ञान जगों । हित नेणती कोणी । अवतार पाण्डुरङ्ग ।

नाम ठेविलें जानीं । भारती जानराजा !

प्रगट गुह्य बोले । विश्व ब्रह्मचि केले । एका जनार्दनी ।

पायीं मस्तक ठेले । भारती जानराजा !

\* \* \* \* \*

भारती तुकारामा ! स्वामी सद्गुरुधामा । सच्चिदानन्दभूति !

पायीं दाखवी आम्हा ! भारती तुकारामा !

तुकया तुळनेसीं । ब्रह्म रूपासीं आले । रामा जनार्दनीं !

पायीं मस्तक ठेले । भारती तुकारामा !

\* \* \* \* \*

घालोन लोटांगन बन्दोन चरण । ओऽर्थांनो पाहोन रूप तुषे ।  
 प्रेमे आलिङ्गनेन मानन्वे पूजोन । भावे ओवाळोन म्हणे नामा ।  
 अकल्प आपुष्य श्वावे तथा कुळा । माझिया सकळा हरिचा वार्सा ।  
 कल्पनेचो बाधा न हो कोणे काळीं । हो सन्त मण्डळी सुखी असो ।  
 अहङ्काराचा वारा न लागो राजसा । माझिया विष्णुवासा भाविकांसो ।  
 नामा म्हणे श्वावे तथांचि कल्याण । जामुखीं निघान पाण्डुरङ्ग ॥

\* \* \* \* \*

जय जय रामकृष्ण हरि ! जय जय गोविन्व हरि ! जय जय गोपाल हरि !  
 जय जय माधव हरि ! जय जय भुक्तुन्व हरि ! जय जय रामकृष्ण हरि !

पुण्डरीकवरव ! हरि ! विट्ठल ! विट्ठल ! विट्ठल !

श्री ज्ञानदेव ! तुकाराम !



[महाराष्ट्र-परम्पराानुसार श्रीज्ञानेश्वरी-पारायण के पश्चात् उक्त रीति से आरती गायी जाती है । श्रीज्ञानेश्वर-आरती के पश्चात् उससे ठीक दुगुनी लय में श्रीतुकाराम-आरती गायी जाती है । इनके पश्चात् पारायणकर्ता महात्मा सन्त नामदेवजी के शब्दों में भगवान् से भक्तों के लिये आखीर्षाचना करते हैं । फिर नामधुन सकीर्तन के पश्चात् उच्च स्वर से—पुण्डरीक को बर देने वाले, (उस बर के अनुसार) पण्डरपुर में श्रीपाण्डुरङ्ग के रूप में 'हँट पर खड़ा' (विट्ठल) कीविग्रह चारण करके नित्य-निवासी बने हुए भगवान् के नाम का शोध और उन्हीं के मानवविग्रहरूप सन्तों—श्रीज्ञानदेव, तुकाराम—का नामशोध होता है ।]

### आरती अर्थ

हम श्रीज्ञानराय को आरती करते हैं; जो महाकैवल्यतेज-स्वरूप हैं, सब सामु-घन्त उनका सेवन करते हैं । उन्होंने मेरा हृदय बंध लिया है । अब अज्ञ में ज्ञान लुप्त हो गया था, कोई द्विज को नहीं पहचानता था, तब भगवान् पाण्डुरङ्ग ने अवतार लिया—नाम रक्षा 'ज्ञानदेव' । गृह्यतम परब्रह्म को, निगमागम-ग्रन्थ को, ऋसाधिक अथुर भाषा में प्रकट खोलकर कहा । विश्व को ब्रह्मरूप ही बना दिया । श्रीजनार्दन (गुरुदेव) के चरणों में मस्तक टेकते हुए एकनाथ श्रीज्ञानराजा (मराठी में बुलार जताने में नाम के साथ 'राजा' कहा जाता है) को आरती करते हैं ।

हम भक्तशिरोमणि श्रीतुकारामजी को आरती करते हैं, जो सच्चिदानन्द प्रभु की प्रकटमूर्ति-स्वरूप हैं, वे अपने चरणों के दर्शन हमें दें । तुकाराम को तुलना (स्वरूप, वाणी, बोध-प्रत्यय) में तो ब्रह्म ने ही रूप चारण किया था धृतिमान् हुए । श्रीजनार्दन-विष्व राम उनके चरणों में प्रणाम करते हैं ॥

साष्टाङ्ग सण्खत्त प्रणाम करते हुए चरणबन्धना करते हुए, प्रेम से आलिङ्गन करते हुए, मानन्व से पूजा करते हुए, भाव से आरती उतारते हुए—नामदेव कहते हैं कि मेरे श्रीहरि के सब बाधों (भक्तों) के कुल में आकल्प (चिरन्तन) आमुष्य हो; कल्पना को बाधा उन्हें कभी आड़े न आवे, यह सन्तमण्डली सदा सुखी रहे । अहङ्कार (रूपी व्याधि) को हवा का झोंका भी मेरे प्यारे इन भाव-भरे विष्णुभक्तों को कभी न लगे । नामदेव कहते हैं कि जिनके मुख में श्रीपाण्डुरङ्ग-नाम का निघान है, उनका सदा-सर्वदा कल्याण हो ॥

॥ ॐ हरि; ॐ तत् ॐ सत् ॐ ॥

॥ ॐ हरिः ॐ ॥

## श्रीमद्भगवद्गीताभाषार्थवीपिका (ज्ञानेश्वरी)—नवम अध्याय

यदि दें अवधान एकाग्र। होंगे सर्वमुखों के पात्र। यह भेरा प्रतिज्ञोत्तर। सुनिये स्पष्ट ॥१॥  
कहता नहीं कुछ गर्व से। आप सर्वज्ञों के समाज में। दुलार भरी विनती सबसे। दें अवधान ॥२॥  
लाइलों के लाड़ भरते। मनोरथों के मनोरथ पुरते। यदि आप जैसे श्रीमन्त होते। माता-पिता ॥३॥  
आपकी दृष्टि की आर्द्रता से। प्रसन्नता का उपवन खिले। मैं श्रान्त उस शीतल छाँव में। पाऊँ विश्राम ॥४॥  
आप सुखामृत के सरोवर। अतः पाऊँ शीतलता जी भर। यदि यहाँ लाड़ में रखूँ डर। तो कहीं मिटे ताप ?  
बालक तुतला कर बोले। या आड़े-टेढ़े कदम भरे। वह देख माता दुलार से। रोझे जैसी ॥६॥  
वैसे आप सन्तों का दुलार। कैसे भी हो जाय मुझ पर। इसी अभिलाषा से भर कर। लड़ाऊँ लाड़ ॥७॥  
अन्यथा नहीं मुझ में वचनयोग्यता। यहाँ आप जैसे सर्वज्ञ श्रोता। शारदासुतों को क्या पढ़ना पड़ता।

पाठ रट कर ? ॥८॥

हो कितना भी बड़ा खद्योत। महातेज में नहीं गुणगवित। लयें अमृतधाल के योग्य। कौन सा रस ॥९॥  
अजी हिमकर को करना व्यजन। या नाद के सम्मुख गायन। अलङ्कार को और अलङ्कृत। करें कैसे ? ॥१०॥  
परिमल क्या ले भला घ्राण ? सागर कहीं करे स्नान ? किस में जा समाये गगन ? सम्पूर्ण ॥११॥  
वैसे आप दें अवधान। प्रशंसापूर्वक करें श्रवण। कौन ऐसा वक्तृत्व-निपुण ? कि रोझें आप ॥१२॥  
विश्व आलोकित करता गमस्ति। करते न क्या उसकी आरती ? क्या अञ्जलि से सागर के प्रति।

देते न अर्घ्य ? ॥१३॥

प्रभो आप महेश मूर्तिमन्त। कहूँ अर्चना मैं दीन भक्त। अतः शब्दरूपी बिलबपत्र। करें स्वोकार ॥१४॥  
बालक पिता के बाल में बैठ। पिता के हो मुख में देता ग्रास। पिता वह लेने को प्रेमवश। बढ़ाता मुख ॥१५॥  
वैसे मैं आप के प्रति। वाचाल बना हूँ बालप्रति। तो भी आप हों तुष्ट यह रीति। है प्रेम की ॥१६॥  
मुझे अपनेपन के मोह से। बहुधा स्वोकारा आप सन्तों ने। अतः न होगा भार मेरे। लाड़-दुलार का ॥१७॥  
अहो प्यासा बलझा जब सिर मारे। तब गोमाता अधिक पिन्हाये। वैसे लाइलों के रोष से। बढ़ता प्रेम ॥१८॥  
सुन मुझ बालक के बोल तुतले। निद्रित कृपालुता ने नयन खोले। यह जान बढ़े-साहस से। बोला मैं ॥१९॥  
अन्यथा पाल में चाँदनी को पकाना। पवन को बहने की गति देना। अरे गगन को खोल चढ़ाना। कैसे सम्भव ?  
पिघला जान पड़े जल। न मथना पड़े नवनीत। वैसे लजा गया व्याख्यान। जिन्हें देख कर ॥२१॥  
अरे शब्दब्रह्म जिस शय्या पर। समेट शब्द विश्रान्त निद्रित। कहूँ मराठों में उसका अर्थ। क्या अधिकार मेरा ?  
तब भी कर रहा साहस। क्योंकि आज्ञा से भरा हृदय। कि ढिठाई से भी पाऊँ स्नेह। आप सबका ॥२३॥

अतः चन्द्र से भी शीतल। अमृत से भी सञ्जीवक। निज अवधान से मनोरथ। करें पूर्ण ॥२४॥  
यदि आप की कृपादृष्टि बरसे। तो मति में सकलार्थसिद्धि पनपे। अन्यथा अङ्कुरित भी ज्ञान सूखे  
यदि आप उदास ॥२५॥

अतः सुनिये सहज। अवधान का चारा पाये वक्तृत्व। तो सुपुष्ट हों अक्षर। प्रमेय के ॥२६॥  
अर्थ शब्दों की राह देखें। अर्थ पर अर्थ निकलते चलें। भावगुण खिलते चलें। बुद्धि में ॥२७॥  
अतः जब संवाद का सुवायु चले। हृदयनभ में सारस्वत उमड़े। पर श्रोता यदि दुश्चित रहें। तो रस विरस।  
अहो चन्द्रकान्त होता द्रवित। वह चन्द्र का हो कौशल। अतः वक्ता नहीं वक्ता जब तक। श्रोता न हो ॥२९॥  
“हमें मान लीजिये मधुर”।—क्या विनती करते तण्डुल ? क्या कठजुतलो करती विनय। सूत्रधार से ? ॥३०॥  
वह क्या पुतलो के लिये उसे नचाता ? या निज कलाकौशल दिखाता ? अतः मैं भी यह विविध प्रार्थना।  
कहूँ क्यों ? ॥३१॥

तब श्रीगुरु बोले हुआ विदित। तेरा अभिप्राय समस्त। अब कहो जो निरूपित। नारायण द्वारा ॥३२॥  
यह सुन कर श्रीनिवृत्तिदास। बोले ‘जो ! जो !’ सोल्लास। सुनिये ऐसे श्रीनिवास। कहने लगे ॥३३॥

**इवं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयथे । ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽगुभात् ॥१॥**

सुनो यह बीजरहस्य अर्जुन। पुनः तेरे प्रति कहूँ निरूपण। अन्तःकरण का गुह्यज्ञान। प्राणसम ॥३४॥  
“भला क्यों प्राणप्रिय गुह्य। कहते मुझसे यह रहस्य !” यदि तू मन में स्वभाववशा। सोचे यह ॥३५॥  
तो सुनो प्राज्ञ सखा। तुम हो मूर्त्तिमन्त आस्था। कही बात को अज्ञाता। करना न जानो ॥३६॥  
गुह्य की गुह्यता छूटे भले। अकथ्य भी कहना पड़े। पर हृदय का मर्म पहुँचे। तेरे हृदय में ॥३७॥  
अरे दूध छिपा रहता स्तन में। पर माचुर्य क्या स्तन जाने ? भले हो व्यय अनन्य के लिये। जो आस्वादन पद।  
कोठों में से बीज निकाले। फिर तैयार श्वेत में डाले। तब वे व्यर्थ बिखरे गये। कहलाते क्या ? ॥३९॥  
अतएव सुमन और शुद्धमति। जो अनिन्दक अनन्यगति। गोप्य रहस्य भी उसके प्रति। सानन्द कहे ॥४०॥  
प्रस्तुत इन गुणों से सम्पन्न। तेरे सिवा नहीं अन्य। अतएव तुझसे गोप्य। न रखूँ गुह्य ॥४१॥  
पुनः पुनः सुन कर इसे गुह्य। प्रतीत होगा दुष्प्राप्य। अतः कहूँगा अब ज्ञानरहस्य। विज्ञानसहित ॥४२॥  
ऐसे कहूँगा विवेचित। जैसे खरे-खोटे मिश्रित। सिक्के किये हों पृथक् स्पष्ट। परख कर ॥४३॥  
राजहंस बोंब की चिमटी से। दूध-जल पृथक् करे जैसे। तुझे ज्ञान-विज्ञान वेसे। दूँगा विवेचित ॥४४॥  
बापुवेग के सम्मुख जैसे। अल्प भी भूषा टिक न सके। और घाम्य को राशि बने। अपने आप ॥४५॥  
वेसे पाने से जो ज्ञान। संसार छूटता यथास्थान। साधक को मिलता आसन। मोक्षश्री का ॥४६॥

**राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् । प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम् ॥२॥**

जो सभी विद्याओं में मुख्य। आचार्य कहलाने योग्य। बस गुह्यों का स्वामितृत्व। पवित्रराज ॥४७॥  
जो धर्मों का निज धाम। तथा उत्तमों में उत्तम। जो मिलने पर न रहता काम। जन्मान्तरों का ॥४८॥  
महान् गुह्यमुख से दिखता उदित। हृदय में स्वयम्भू प्रतिष्ठित। प्रत्यक्ष होता अनुभूत। अपने आप ॥४९॥

चढ़ने पर सुख-सोपान । होता जिससे मिलन । मिलते ही भोक्तापन । विसर्जित जहाँ ॥५०॥  
 उस भोग के इसी तट पर । स्थित चित्त जाता सुख से भर । ऐसा मुलभ सहज सरल । और परब्रह्म ॥५१॥  
 और उसका गुण विशिष्ट । मिलने पर फिर न होता नष्ट । आत्वाद से न होता न्यून । न विकृत कभी ॥५२॥  
 तार्किक तुम वहाँ यदि । उठाओ शङ्का ऐसी । कि क्यों न पाते यह वस्तु भली । लोक सब ? ॥५३॥  
 सौ में एक बढ़ाने को । जलती वहिँ में कूदते जो । वे अनायास निज माधुर्य को । छोड़ते क्यों ? ॥५४॥  
 तो पवित्र और रम्य । तथा सुखोपाय से गम्य । यह स्वसुख परम घम्य । प्राप्य स्वयं में ॥५५॥  
 सभी प्रकार से उत्तम सुखकर । इसे क्यों न पाते लोग जोभर । है इस शङ्का को अवसर । पर करो न तुम ।

**अश्वत्थधाना पुरषा धर्मस्यास्य परन्तप । अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥**

देखो दूध पवित्र मयुर । निकट बस त्वचा के भीतर । पर किलनो उसे उपेक्षित कर । जूसे न रक्त ? ॥५७॥  
 या कमलकन्द और दर्दुर । बसते दोनों एक घर । पर पराग लेता भ्रमर । दूसरा कर्दम ॥५८॥  
 अथवा अभागे के घर में । दबी हों हजारों मुहरें । उन्हीं पर बैठ भूखा मरे । दरिद्र जैसे ॥५९॥  
 वेते हृदय में मैं राम । रहता सर्व-सुख-आराम । पर भ्रान्त को उपजे काम । विषयों का ॥६०॥  
 देखकर बहुत सा भृगुबल । जो निगला अमृत करे वमन । तोड़ दे गले का पारस । सोपो पाकर ॥६१॥  
 अहं-ममता-कन्द में फँसे । त्यों पाते न बेबारे मुझे । जन्म-मरण के तटों में । भटका करते ॥६२॥  
 अन्यथा मैं कैसा ? मुख के प्रति भानु जैसा । पर कहीं दिखे न दिले ऐसा । नहीं मैं पार्थ ॥६३॥

**मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना । मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥**

क्या नहीं विस्तार मेरा । यह जगत् हो सारा । जैसे दूध हो जमा हुआ । होता दही ॥६४॥  
 बीज ही हुआ तस्वर । अथवा स्वर्ण ही अलङ्कार । वैसे मुझ एक का ही विस्तार । विश्व यह ॥६५॥  
 यह अव्यक्त ही घनीभूत । विश्वाकार में भासित । अमूर्तरूप मुझसे विस्तृत । त्रैलोक्य जानो ॥६६॥  
 महदादि से देहपर्यन्त । ये अशेष भूतजात । मुझमें ही प्रतिबिम्बित । जल में फेन सम । ६७॥  
 देखें यदि फेन के भीतर । तो वहाँ न मिलता जल । वैसे स्वप्न का नानात्व । जागने पर नहीं ॥६८॥  
 वैसे ये भूत मुझमें । प्रतिबिम्बित, मैं नहीं उनमें । यह उपपत्ति बहुधा तुझे । बताई पहले ॥६९॥  
 कथित को कहना अतिचार । अतः न करें इसका विस्तार । पर मुझमें करे प्रवेश सत्वर । दृष्टि तुम्हारी ॥७०॥

**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् । भूतभून् न च भूतस्यो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥**

मेरा प्रकृति से अतीत स्वरूप । देखो यदि हो कल्पना-रहित । तो मुझमें भूत, यह भी व्यर्थ ।

क्योंकि मैं हूँ सर्वमय ॥७१॥

सङ्कल्परूप सन्ध्या में । क्षणिक बुद्धि पर तिमिर छाये । अतः अखण्डित धुँधला पड़े । दिखे भूतमेद ॥७२॥  
 जब सङ्कल्प-साँझ हो लुप्त । तब अखण्डित ही है स्वरूप । जैसे भ्रान्ति मिटते ही सर्पत्व । नहीं माला में ॥७३॥  
 नहीं तो घरती में से स्वयंभूत । क्या षड़े मटके होते अङ्कुरित ? वे तो कुम्हार मति के गर्भरूप । प्रकट होते ।

अथवा सागर के जल में। तरङ्गों की क्या खान रहे? अवान्तर कर्म नहीं क्या वे। पवन के ॥७५॥  
 क्या कपास के पेट में। वस्त्रों को पेटों रहे? पहनने वाले को दृष्टि से। बने वस्त्र ॥७६॥  
 स्वर्ण से आभूषण गर्हें। पर स्वर्णत्व इससे न विगड़े। नाना अलङ्कार बने। भोका की दृष्टि से ॥७७॥  
 कहीं ध्वनि के प्रतिनाद। या दर्पण में प्रतिबिम्ब। हमारे निमित्त या सचमुच। वे ये वहाँ? ॥७८॥  
 वैसे मेरे निर्मल स्वरूप में। जो भूत-भावना आरोपे। उसे उसी के सङ्कल्प से। होता भूताभास ॥७९॥  
 जब कल्पक प्रकृति होती समाप्त। तभी भूताभास लुप्त। तब मेरा शुद्ध स्वरूप। रहता शेष ॥८०॥  
 मस्तक में जब चक्कर चढ़े। चहुँ ओर सब घूमता दिखे। वैसे अक्षण्ड में कल्पना से। दिखते भूत ॥८१॥  
 यदि कल्पना छोड़ कर देखें। तो मैं भूतों में, भूत मुझ में। ऐसा न स्वप्न में भी अरे। कल्पनीय ॥८२॥  
 अब भूत मुझ से चारित। या भूतों में मैं ही स्थित। ये सङ्कल्प-सन्निपात के शब्द। मूर्छाजन्य ॥८३॥  
 अतएव सुनो हे प्रियोल्लस। ऐसे में विश्व का विश्वात्म। जो है एक आश्रय परम। मिथ्याभूतों का ॥८४॥  
 रश्मि के आघार से जैसे। मृगजल असत् भी आभासे। मुझ में भूतजात वैसे। मुझ से भाव्य ॥८५॥  
 इस प्रकार मैं भूतभावन। तो भी सब भूतों से अभिन्न। जैसे प्रभा और भास्कर। एकरूप ॥८६॥  
 यह मेरा ऐश्वर्य-योग। देखा तुमने भली प्रकार। कहीं अब कहीं प्रसङ्ग। भूतभेद का ॥८७॥  
 अतएव मुझ से भूत। न ये भिन्न यह निश्चित। न ही मुझे उनसे भिन्न। समक्षो कभी ॥८८॥

**यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् । तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ॥६॥**

गगन जितना विशाल। पवन का उतना विस्तार। हलचल से दिखे भिन्न। अन्यथा गगन-रूप ॥८९॥  
 वैसे मुझ में भूतजात। यह कल्पना-जनित आभास। निर्विकल्प स्थिति में पार्थ। मैं एकमात्र ॥९०॥  
 अतएव 'अस्ति' 'नास्ति' यह। कल्पना से आभासित। जो कल्पनालोप से अज्ञित। उदित कल्पना से ॥९१॥  
 वह कल्पना जाये समूल। तब 'है' 'नहीं' को कहीं अवसर? अतः पुनः तू समझ देख। यह ऐश्वर्य-योग ॥९२॥  
 ऐसे प्रतीति-बोध-सागर में। तू स्वयं को कल्लोल बना दे। फिर देख सचराचर में। तू ही तू स्थित ॥९३॥  
 इस ज्ञान को जागृति। आई तुझ में?—बोले श्रीपति। अब द्रैत-स्वप्न प्रतीति। व्यर्थ हुई या नहीं? ॥९४॥  
 फिर कभी यदि प्रारब्धवश। बुद्धि हो कल्पना से निद्रित। तो अभेद-बोध होकर लुप्त। दिखे भेद स्वप्न ॥९५॥  
 अतः निद्रा का पन्थ छोटे। निखिल उद्बोध स्वयं प्रगटे। ऐसा रहस्य स्पष्ट तुझे। कहीं पार्थ ॥९६॥  
 अतः धैर्यशील धनुर्धर। दो अवधान एकाग्र। माया ही ये भूतमात्र। बनाती मिटाती ॥९७॥

**संबन्धतानि कान्तेय प्रकृतिं धान्ति भामिकाम् । कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पावो विदुज्जायम्हम् ॥७॥**

जिसका नाम प्रकृति। जो कहीं द्विविधा तेरे प्रति। एक अष्टधा भेद वाली। दूसरी बीजरूपा ॥९८॥  
 यह प्रकृति विषय समस्त। पहले बता चुका तुझे पार्थ। अतः क्या कहीं बार-बार। वही अब ॥९९॥  
 या इसी प्रकृति में। महाकल्प के अन्त में। सभी भूत अव्यक्त में। पाते ऐक्य ॥१००॥  
 ग्रीष्म के प्रखर ताप में। तृण बीज सहित जैसे। भूमि में सुलीन होते। लौट कर ॥१०१॥  
 अथवा वर्षा का घटाटोप मिटे। शारदीय निरन्नता में। तब धनजात लीन होते। गगन के ॥१०२॥



अथवा आकाश रूप में। पवन चैन से सोये। या तरङ्गता खो जाये। जल में जैसे ॥१०३॥  
अथवा जागृति के समय। मन में ही स्वप्नविलय। वैसे आने पर कल्पक्षय। प्रकृतिलय ॥१०४॥  
पुनः होने पर कल्पारम्भ। मैं करता सृजन यह प्रसिद्ध। इस विषय में सुस्पष्ट। उपपत्ति सुनो ॥१०५॥

**प्रकृति स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥**

यही स्वकीय प्रकृति पार्थ। जब मैं कल्लं अङ्गीकार। जैसे पट में तन्तु-समवाय। दिखाता बुनावट ॥१०६॥  
फिर उस बुनाई के आधार से। नहों चौकड़ियों से पट बने। वैसे पञ्चात्मक आकार में। प्रकृति व्यक्त ॥१०७॥  
जैसे जामन के सङ्ग से। दूध सब जमने लगे। वैसे प्रकृति ही परिणमे। सृष्टिरूप ॥१०८॥  
बीज जल का सङ्ग पाये। शास्त्रोपशास्त्रा में फैलता जाये। मेरी सन्निधि से वैसे। उत्पन्न भूत ॥१०९॥  
'राजा ने बसाया नगर'। प्रसिद्ध होता कथन। पर हुए क्या वहाँ श्रमित। राजा के हाथ ? ॥११०॥  
मैं प्रकृति का अधिष्ठान कैसा ? स्वप्न का द्रष्टा जैसा। वही पुनः प्रवेश करता। जागृति में ॥१११॥  
स्वप्न से जागृति में आते जब। क्या पांव दुखते पार्थ तब ? या स्वप्न में रहते समय। होता प्रवास ॥११२॥  
इस सब का अभिप्राय यही। कि होती भूतसृष्टि जो भी। उसमें मेरा कर्तृत्व नहीं। किसी प्रकार ॥११३॥  
जैसे राजा के आश्रित प्रजा। करे व्यापार अपना-अपना। वैसा प्रकृतिसङ्ग मेरा। कर्तृत्व उसका ॥११४॥  
देख कर पूर्णचन्द्र। ज्वार से उछलता समुद्र। तब चन्द्र को क्या पार्थ। होता श्रम ? ॥११५॥  
जड़ भी यदि सर्माप। चुम्बक के खिचता लोह। तो क्या चुम्बक होता ध्रान्त। सान्निध्य से ॥११६॥  
किबहुना इसी प्रकार। मैं करता प्रकृति को अङ्गीकार। तब स्वयं विस्तार। भूतसृष्टि का ॥११७॥  
यह जो भूतग्राम सम्पूर्ण। है प्रकृति के आधीन। ज्यों बीज में से लता-पल्लव। उपजावे भूमि ॥११८॥  
अथवा बाल्यादि वयस्का। देहसङ्ग कारण जैसा। या आकाश में घनावली का। वर्षाऋतु ॥११९॥  
या स्वप्न का कारण नींद। वैसे प्रकृति है नरेन्द्र। जिससे अशेष भूतसमुद्र। उद्भूत ॥१२०॥  
स्यावर और जङ्गम। स्थूल अथवा सूक्ष्म। सभी ये भूतग्राम। प्रकृतिमूलक ॥१२१॥  
अतः भूतों का सर्जन। फिर उनका प्रतिपालन। इन सब कर्मों का सम्बन्ध। मुझ में नहीं ॥१२२॥  
जल पर चन्द्रिका प्रसृत। उसका कर्ता नहीं चन्द्र। वैसे मुझ से उत्पन्न कर्म। दूर मुझ से ॥१२३॥

**न च मां तानि कर्माणि निबन्धन्ति धनञ्जय। उदासीनबवासीनमसक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥**

सिन्धुजल को आवे बाढ़। तब रोक न सके लवण का बांध। वैसे मुझमें ही विलीन कर्म। क्या बांधें मुझे ? ॥१२४॥  
घूर्णरज के पिञ्जर से। क्या वायु का वेग रुके ? अथवा स्वयं सूर्य बिम्ब में। तम प्रवेश ? ॥१२५॥  
पर्वत-कन्दरा में जैसे। पर्जन्यधारण न पहुँचे। वैसे कर्मजात प्रकृति के। स्पर्श न मुझे ॥१२६॥  
तब भी जितने प्रकृति-विकार। सबका मैं ही एक आधार। किन्तु उदासी के समान। न कल्लं न कराऊँ ॥१२७॥  
जैसे घर में दीप प्रदीप्त। किसी को न करे प्रवृत्त-निवृत्त। कौन किस कार्य में रत। न जाने वह ॥१२८॥  
वह जैसा साक्षिभूत। गृह-व्यापार का प्रवृत्ति-निमित्त। वैसा भूतों में अनासक्त। मैं भूतों में स्थित ॥१२९॥  
यही अभिप्राय बारम्बार। कितना कल्लं सविस्तार। समझो इतना ही भलो प्रकार। सुभद्रापति ! ॥१३०॥

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृयते सचराचरम् । हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद् विपरिवर्तते ॥१०॥

समस्त लोकचेष्टा में। निमित्तमात्र सविता जैसे। वैसे पाण्डव! जगत्प्रभव में। हेतु मुझे जान ॥१३१॥  
क्योंकि मुझ से अधिष्ठित प्रकृति। उससे सचराचर की सम्भूति। अतः मैं ही हेतु यह उपपत्ति। होती घटित।  
अब वस्तुतः इस प्रकाश में। ऐश्वर्ययोग को देखो अरे। तो सभी भूत स्थित मुझ में। मैं भूती में नहीं ॥१३३॥  
अथवा भूत मुझ में नहीं। और मैं भूतों में नहीं। इस रहस्य को तुम कहीं। चूको नहीं ॥१३४॥  
यह मेरा सर्वस्व गूढ़। कहा तुमसे खोल कर। अब बन्द कर इन्द्रिय-किवाड़। भोगो हृदय में ॥१३५॥  
यह रहस्य न समझें जब तक। मेरा सच्चा स्वरूप तब तक। सर्वथा त मिलता कुन्तीसुत। जैसे तुष में कण ॥१३६॥  
यों अनुमान के बल से। 'समझा तत्त्वं' ऐसा लगे। किन्तु मृगजल की आर्द्रता से। क्या भोगे भूमि ? ॥१३७॥  
जल में डाले जाल। फँसा दिखे चन्द्रबिम्ब। पर स्थल पर झाड़ने पर। बिम्ब कहाँ कहो ॥१३८॥  
वैसे केवल शब्दों का बल। व्यर्थ प्रतीति का आडम्बर। किन्तु बोध के अवसर पर। न है त होगा ॥१३९॥

अवजानन्ति मां भूढा मानुषां तनुबाधितम् । परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

किम्बहुना यदि हो भवभय। और सदरूपप्राप्ति का प्रेम। तो करो तुम सर्वथा जतन। इस उपपत्ति का ॥१४०॥  
अन्यथा दृष्टि कामला से प्रस्त। चन्द्रिका को भी देखे पीत। वैसे मेरा निमल स्वरूप। दिखे सदोष ॥१४१॥  
अथवा ज्वर से दूषित मुख। दूष को कहे कटु विष। वैसे अमानुष को मानुष। मानोगे मुझे ॥१४२॥  
अतः बारम्बार कहूँ धनञ्जय। भूलो नहीं यह अभिप्राय। नहीं तो स्थूल दृष्टि से व्यर्थ। धिरेती मति ॥१४३॥  
स्थूल दृष्टि से देखना मुझे। वह देखना हो नहीं अरे। जैसे स्वप्न के अमृतपान से। होते न अमर ॥१४४॥  
यों तो स्थूलदृष्टि मूढ़। जानते मुझे सुदृढ़। किन्तु वह जान होता प्रतिबन्ध। यथार्थ ज्ञान में ॥१४५॥  
जैसे आभासित नक्षत्र। उसे रत्न समझ कर हँस। करे हूब कर जल-मध्य। आत्मघात ॥१४६॥  
बुद्धि कहे गङ्गा जहाँ मृगजल। पर उसे मानने का क्या फल? क्या सुरतष कहने से बबूल। फल देगा ? ॥१४७॥  
नीलमहार समझ दुलड़ा। उठालें सर्प विषला। या रत्न समझकर ओला। लें हाथ में ॥१४८॥  
अथवा निधान हुआ प्रगट। जान अंगारों से भरे आँचल। या कूदे प्रतिबिम्ब को देख। कूप में सिंह ॥१४९॥  
ऐसे मुझे मान प्रपञ्चमय। जो हो जाते कृतनिश्चय। वे चन्द्र समझ पकड़ते जलमय। प्रतिबिम्ब ही ॥१५०॥  
तब कृतनिश्चय होता निष्फल। जैसे कोई काँजी पीकर। चाहे परिणाम सुखकर। अमृत का ॥१५१॥  
वैसे स्थूलाकार नाशवन्त में। विश्वास रखकर चित्त में। जो मुझ अविनाशी को खोजते। उन्हें कैसे दिखूँ ? ॥१५२॥  
क्या पश्चिम सागर के तट पर। निकलेंगे पूर्वी पथ चल कर। अथवा क्या भूसा कूट कर। मिलता घान्य ? ॥१५३॥  
वैसे क्या यह विस्तृत स्थूल। जानने से ज्ञात मैं केवल ? क्या फेन पीने से जल। पिया जाता ॥१५४॥  
अतः मोहित मनोवर्म से। 'यही मैं' मानकर संभ्रम से। तब जन्म-कर्म यहाँ के। मानता मेरे ॥१५५॥  
इसी से अनामो पर नाम। मुझ अक्रिय पर कर्म। विदेह पर देह-वर्म। आरोपित ॥१५६॥  
आकाररूप को साकार। निष्पाधिक-प्रति उपचार। विधिविजित पर व्यवहार। आचारादि का ॥१५७॥  
मुझ वर्णहीन में वर्ण। गुणातीत में गुण। मानते अचरण में चरण। अपाणि के पाणि ॥१५८॥

मूत्र अमेय का मान । सबंगत का स्थान । देखे शय्या में वन । निद्रित जैसे ॥१५५॥  
 वेसे अश्रवण के श्रोत्र । अचक्षु के नेत्र । अगोत्र का गोत्र । रूप अरूप का ॥१६०॥  
 मुझ अव्यक्त में व्यक्ति । अनार्त में वाति । स्वयं तृप्त में तुष्टि । करते कल्पित ॥१६१॥  
 मूत्र अनावरण का आवरण । भूषणातीत के भूषण । अखिलकारण का भी कारण । देखते वे ॥१६२॥  
 मुझ सहज को बनाते । स्वयम्भू की प्रतिष्ठा करते । नित्य-निरन्तर का करते । आह्वान-विसर्जन ॥१६३॥  
 मैं सर्वदा स्वतः सिद्ध । पर बाल-तर्षण-वृद्ध । एक रूप में ये सम्बन्ध । मानते वे ॥१६४॥  
 मुझ अद्वैत में द्वितीय । अकर्ता के कार्य । अभोक्ता का भोग । करते वर्णित ॥१६५॥  
 मुझ अकुल का करते कुलवर्णन । नित्य के निघन पर शोकमग्न । सर्वान्तर्ग्रामी के शत्रु स्वजन । करते कल्पित ।  
 मैं हूँ स्वानन्दाभिराम । मुझे कहते अनेक सुखकाम । मैं सर्वत्र सदा सम । वे माँएँ एकदेशी ॥१६७॥  
 मैं चराचर का आत्मा एक । पर लेता किसी का पक्ष । किसी को करता कोप से नष्ट । यह करते प्रचार ॥१६८॥  
 किम्बद्वना ऐसे ही समस्त । जो मानुष घर्म प्राकृत । वे मुझमें—ऐसा विपरीत । ज्ञान उनका ॥१६९॥  
 जब सम्मुख आकार देखें । देव-भाव से उसे भजें । दूटने पर उसे फँक दें । खण्डित कह कर ॥१७०॥  
 मुझे इस-इस प्रकार से । जानते मनुज आकार से । यह विपरीत ज्ञान ही बने । प्रतिबन्ध ज्ञान में ॥१७१॥

**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः । राक्षसोमासुरो चैव प्रकृति मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥**

जन्म ही उनका मोघ । जैसे अकाल के मेघ । अथवा मृगजल के तरङ्ग । दूर से ही दृश्य ॥१७२॥  
 मिट्टी का घुड़सवार । या मान्त्रिक के अलङ्कार । या गन्धर्वनगरी में घर-द्वार । भासते जैसे ॥१७३॥  
 सँहुड़ बढ़ता जाता सरल । पर भीतर पोल तथा निष्फल । अथवा जैसे गलस्तन । अजा के ॥१७४॥  
 वेसे ही मूर्खों का जीवन । व्यर्थ उनसे निपजे कर्म । जैसे सँहुड़ के फल । न लेने न देने के ॥१७५॥  
 फिर जो भी हो अध्ययन उनका । वह मानो मकंद ने श्रीफल तोड़ा । अथवा अन्ध के हाथ पड़ा । मुक्ताफल ।  
 किंबद्वना उनके शास्त्र । ज्यों कुमारी के हाथ दिये शस्त्र । अथवा अचुचि के प्रति बीजमन्त्र । कहा हुआ ॥१७६॥  
 वेसे उनका ज्ञानजात । और जो कुछ भी आचरित । वह सभी गया व्यर्थ । जो चित्तहीन ॥१७७॥  
 तमोगुण की राक्षसी । जो सद्बुद्धि को ग्रास करती । विवेक का स्थान मिटाती । निशाचरी ॥१७८॥  
 जो इस प्रकृति से आक्रान्त । वे होते चिन्ता से ग्रस्त । फिर तामसी के मुख में पतित । होते पार्थ ॥१८०॥  
 जहाँ आशा की लार में । भीतर हिंसा जीभ डोले । अखण्ड चबाती सन्तोष के । मांसपिण्ड ॥१८१॥  
 जो अनर्थ के कान तक । ओठ चाटती निकले बाहर । वह प्रमाद-पर्वत की गुफा रूप । सदा अँधेरी ॥१८२॥  
 जहाँ द्वेष की दाढ़ । ज्ञान को करती चूर-चूर । त्वग् अस्थि का आवरण मूढ़ । बनाती स्थूल बुद्धि ॥१८३॥  
 ऐसे आसुरी प्रकृति के मुख में । बलि बनकर जो जा पड़े । वे दूबे मानो कुण्ड में । व्यामोह के ॥१८४॥  
 वे गिरते तमोगुण के गर्त में । न आते विचार के हाथ में । वे गये कहीं यह भी अरे । पता न मिलता ॥१८५॥  
 अतः रहने दें यह व्यर्थ कथन । मूर्खों का क्या करें वर्णन । व्यर्थ बकने में यह निरूपण । थके वाणी ॥१८६॥  
 ऐसे बोले जब देव । कहने लगा जी ! जी ! पाण्डव । सुनिये जहाँ वाचा को आनन्द । वह साधुकथा ॥१८७॥

महात्मानस्तु मां पार्यं वैर्षीं प्रकृतिभाभिः । भजन्यनन्यमनसो ज्ञात्वा मूर्ताविमव्ययम् ॥१३॥

जिनके विशुद्ध मानस में । मैं रहता क्षेत्रसंन्यास लिये । निद्रा में उपासना करे । वैराग्य जिनकी ॥१८८॥  
जिनकी आस्था के सद्भाव । मैं रहे धर्म का साम्राज्य । जिनका मन सदा आर्द्र । विवेक से ॥१८९॥  
जो ज्ञान-गङ्गा में स्नात । पूर्णता से सन्तुप्त । जो शान्तिवेल के पल्लव । नबोदित ॥१९०॥  
जो परिणाम मानो अकुरित । जो धैर्यमण्डप के स्तम्भ । आनन्द समुद्र में कुम्भ । छलकते हुए ॥१९१॥  
जिन्हें भक्ति ऐसी प्राप्त । कि कैवल्य को कहते दूर हट । जिनकी लीला में ही जीवित । धर्मनीति ॥१९२॥  
जिनके कारण समस्त । शान्ति से विभूषित । दिये रहता बालिङ्गन चित्त । मुझ व्यापक को ॥१९३॥  
ऐसे जो महानुभव । देवो प्रकृति के देव । जो जानते यह सर्व । स्वरूप मेरा ॥१९४॥  
बढ़ते हुए प्रेम से । वे महात्मा भजते मुझे । पर द्वैत का उनके चित्त में । नहीं स्पर्श ॥१९५॥  
ऐसे मद्‌रूप होकर अर्जुन । वे करते मेरा सेवन । पर उसमें अद्भुत सुन । एक कहूँ ॥१९६॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च बुद्धव्रताः । नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥

उनके कीर्तन-नृत्य से । प्रायश्चित्त का व्यापार धमे । क्योंकि नाम को भी न रहें । पापलेश ॥१९७॥  
यम-दम हुए व्यर्थ । तीर्थ हुए पथभ्रष्ट । यमलोक का हुआ कुण्ठित । आवागमन ॥१९८॥  
'किसे रोहूँ ?' कहता यम । 'किसे जीतूँ ?' कहता दम । औषध-भर भी न बचे दोष । क्या खावें तीर्थ ? ॥१९९॥  
ऐसे मेरे नामघोष से । नष्ट करते दुःख विश्व के । सकल जग महासुख से । सघन-भरते ॥२००॥  
वे उषा बिना करते प्रभात । अमृत विना करते जीवित । योग विना दिखाते कैवल्य । नयनों से ॥२०१॥  
न जानते वे राजा-रङ्ग । न देखते योग्यता-भेद । भरते समान आनन्द । जग भर में ॥२०२॥  
कोई एकाध जाता वैकुण्ठ । वे विश्व को बनाते वैकुण्ठ । ऐसे नामघोष से किया विश्व । बवल उन्होंने ॥२०३॥  
यों तेज से सूर्य सोज्ज्वल । पर कभी तो होता अस्तमित । पूर्ण कभी हो दिखाता चन्द्र । वे नित्य पूर्ण ॥२०४॥  
मेघ उदार, पर होता रिक्त । अतः यह भी उपमा अनुचित । ये हैं दयालू निश्चित । पञ्चानन ॥२०५॥  
जिनकी वाचा में सकौतुक । मेरा नाम करता नृत्य । जिसके एक उच्चार में युगसहस्र । तप अपेक्षित ॥२०६॥  
वह मैं वैकुण्ठ में भले न होऊँ । कभी भानु में भले न दीखूँ । भले योगी के मन से जाऊँ । दूर कभी ॥२०७॥  
पर उनके समीप पाण्डव । मुझ खोये को सकते पकड़ । जहाँ वे नामघोष सुन्दर । करते मेरा ॥२०८॥  
वे मेरे गुणगान से सन्तुप्त । देश-काल उन्हें विस्मृत । कीर्तन से सुख में मग्न । स्वयं रहते ॥२०९॥  
कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द । इन नामों के निखिल प्रबन्ध । जिनमें आत्मचर्चा विशद । गाते अपार ॥२१०॥  
इसी प्रकार कितने । मेरा कीर्तन-गान करते ! चरावर में विचरते । पाण्डुकुंवर ॥२११॥  
फिर और भी अर्जुन । सर्वथा करते बहुयत्न । जिससे पञ्चप्राण और मन । करं सहाय ॥२१२॥  
बाहर यम-निधम की कँटीली बाड़ । भीतर वज्रासन का प्राकार । उस पर निरन्तर प्राणायाम । यन्त्र सञ्चित ।  
ऊर्ध्वशक्ति के प्रकाश में । मन-पवन के सहाय से । सत्रहवीं कला का कुण्ड करते । उपलब्ध ॥२१४॥  
जहाँ प्रत्याहार के बल से । विकारों की बोली बन्द करते । सब इन्द्रियों को बाँध लाते । हृदयमध्य ॥२१५॥

तब धारणा के घुड़सवार। पञ्चभूतों को करते एकत्र। फिर सङ्कल्प का चतुरङ्ग सैन्य। करते नष्ट ॥२१६॥  
 यह होने पर ध्यान। वजाता विजय का निषाण। तन्मयता का एकच्छत्र। झलकता तब ॥२१७॥  
 तब समाधिश्री का समस्त। आत्मानुभव-राज्य-सुख पर। समरसता से पट्टाभिषेक। उत्सव होता ॥२१८॥  
 ऐसा यह गहन। अर्जुन मेरा भजन। अब कहूँगा मुन। और एक ॥२१९॥  
 वस्त्र के दोनों छोरों पर। जैसे तन्तु रहता एक। वैसे चराचर में मुझसे भिन्न। न जानते वे ॥२२०॥  
 आदि ब्रह्म से लेकर। लघुतम मशक तक। समझते सब नामरूप। मेरा स्वरूप ॥२२१॥  
 फिर न कहते लघु या विशाल। न जानते सजीव निर्जीव। वस्तु देखते ही करते प्रणाम। मद्रूप पाकर ॥२२२॥  
 स्मरण न करते निज उत्तमत्व। न देखते किसी का योग्यायोग्य। व्यक्तिमात्र को करते प्रणाम। समान भाव से।  
 जैसे ऊँचे से गिरे उदक। तो नीचे हो आवे सहज। वैसे भूतमात्र के प्रति प्रणत। स्वभाव उनका ॥ २२३॥  
 शाखा तट की फल भरित। सहज भूमि पर अवनत। जीवमात्र के प्रति प्रणत। वैसे ही वह ॥२२५॥  
 अखण्ड अगर्वता मूर्तिमन्त। विनय ही उनकी सम्पद सञ्चित। 'जय-जय' मन्त्र से समर्पित।

करते मेरे प्रति ॥२२६॥

नमन से मानापमान गले। अनायास मद्रूप हुए। ऐसे निरन्तर ऐव्यभाव से। भजते मुझे ॥२२७॥  
 अर्जुन यह श्रेष्ठ भक्ति। कही मैंने तेरे प्रति। जिनकी ज्ञानयज्ञ रीति। सुनो उन्हें ॥२२८॥  
 पर भजन करने को पढ़ाति। जानते ही हो किरिटी। यह बात मैंने पहले भी। कही थी तुम से ॥२२९॥  
 तब 'जी हूँ' बोला अर्जुन। यह आपका प्रसाददान। पर करते हुए अमृतपान। 'बस' कहे कौन ? ॥२३०॥  
 इस कथन से श्री अनन्त ने। श्रवणातुर देखा उसे। तब सुख से भरे चित्त से। लगे झूमने ॥२३१॥  
 बोले—पार्थ ! भला किया। यद्यपि अनवसर सर्वथा। पर बुलवाती तेरी भास्या। मुझे आज ॥२३२॥  
 यह क्या ? अर्जुन ने कहा। चन्द्रिका नहीं क्या चकोर बिना ? निखिल विश्व को शीतल करना।

स्वभाव शशी का ॥२३३॥

चकोर तो निज प्रीतिवश। चोंच पसारे चन्द्र की ओर। वैसे मेरी विनति अल्प। देव कृपासिन्धु ॥२३४॥  
 जो मेघ अपनी उदारता से। सन्तप्त जगत् को तुम करे। चातक की प्यास कितनी कहिये।

वर्षा की तुलना में ॥२३५॥

पर अज्ञलि की भी इच्छा से। गङ्गा भू पर उतरती जैसे। वैसे आति हो अल्प भले। पर कहें देव ! ॥२३६॥  
 तब देव बोले—अहो बस-बस। हुआ मुझे जो सन्तोष। उस पर भो कलै स्तुति सहन। यह न शेष ॥२३७॥  
 तू करता जैसा श्रेष्ठ श्रवण। उससे वक्तृत्व होता धन्य। ऐसी प्रशंसा-पूर्वक। बोले श्रीहरि ॥२३८॥

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्वे यच्चान्तो मामुपासते। एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुत्सृ॥१९॥**

सुन ज्ञानयज्ञ का स्वरूप। आदि सङ्कल्प वहाँ यूप। महाभूतों का मण्डप। भेद ही पशु ॥२३९॥  
 उन पाँचों के जो विशेष गुण। अथवा इन्द्रिय और प्राण। ये ही यज्ञोपचार-भरण। अज्ञान घृत ॥२४०॥  
 मन-बुद्धि ही कुण्ड। जिनमें ज्ञानाग्नि प्रदीप्त। साम्य ही सुदृढ़। वेदिका जानो ॥२४१॥  
 सविवेक मतिपाठव। वही मन्त्रविद्या-गौरव। शान्ति ही झुक झुवा। जीव यज्जा ॥२४२॥

प्रतीति के पात्र में। विवेक महामन्त्र से। ज्ञानरूप अग्निहोत्र में। नष्ट होता भेद ॥२४३॥  
मिट जाता अज्ञान। एक होते यज्ञ-यजमान। आत्मरस में अवभृथ-स्तान। होता तब ॥२४४॥  
तब भूत, विषय, करण। कहता इन्हें भिन्न। जाने एकरूप सम्पूर्ण। आत्मबुद्धि ॥२४५॥  
जैसे जागने पर अर्जुन। कहते—'स्वप्न में विचित्र सैन्य। क्या नहीं बने ये स्वयं हम। निद्रावश ॥२४६॥  
वह सेना अब सेना नहीं। सब बना था एक मैं ही,। ऐसे वह विश्व में भी। देखे ऐक्य ॥२४७॥  
फिर 'जीव' नाम न रहे। आब्रह्म परमात्म-बीध भरे। होता भजन ज्ञानयज्ञ में। इस एकत्व से ॥२४८॥  
अथवा अनादि ये अनेक। समान परस्पर एक-एक। केवल नाम-रूपादिक। दिखते विषम ॥२४९॥  
अतएव विश्व भिन्न। पर न खण्डित उनका ज्ञान। जैसे अवयव होते विभिन्न। एक देह में ॥२५०॥  
अथवा शास्त्रार्थ छोटी बड़ी। होतीं एक तस्वर की। या एक ही दिनकर की। रस्मियाँ बहुत ॥२५१॥  
वैसे व्यक्ति नाना प्रकार। विभिन्न नाम और स्वभाव। भेदित भूतों में अभेद रूप। जानते मुझे ॥२५२॥  
ऐसे भेद प्रतीति से पाण्डव। करते ज्ञानयज्ञ सुन्दर। भेदज्ञान से न भेदित चित्त। क्योंकि आत्मज्ञानी ॥२५३॥  
अथवा जब जहाँ कहीं। देखते वे जो कुछ भी। वह सब मुझ से भिन्न नहीं। यही बोध दृढ़ ॥२५४॥  
अरे बुलबुला जहाँ भी जाये। जल ही उसके साथ रहे। फिर वह रहे या मिटे। सब जल में ही ॥२५५॥  
ये पवन से त्रसरेणु उड़े। पर पृथक् न हुए पृथ्वीपन से। और पुनः जब भी वे गिरे। रहे पृथ्वी पर ॥२५६॥  
ऐसे चाहे जहाँ जिस रूप में। कुछ भी वस्तु रहे या न रहे। पर मैं ही सब में। रहता तद्रूप ॥२५७॥  
अरे जितनी मेरी व्याप्ति। उतनी उसकी प्रतीति। ऐसे बहुरूप हो रहती। बहुधा वही ॥२५८॥  
यह भानुविम्ब चाहे जिसके। सम्मुख रहे धनञ्जय जैसे। वैसे ही वह समस्त विश्व के। सम्मुख सदा ॥२५९॥  
अरे उसके ज्ञान के। पोट-मेट नहीं होते। वायु जैसे गगन के। सर्वाङ्ग में ॥२६०॥  
वैसे मैं जितना विशाल। उतना ही उनका सद्भाव। अतः न करते हुए भी पाण्डव। होता भजन ॥२६१॥  
जब मैं ही हूँ समस्त। तब किससे हुआ उपासित। पर रहता सदा अप्राप्त। अज्ञानी को ॥२६२॥  
किम्बहुना जो उचित पथ से। ज्ञानयज्ञ के अनुष्ठान से। मेरी उपासना करते। वे कहे तुझे ॥२६३॥  
सदा सबके कर्म सब। मुझे ही होते अर्पित। यह न जानने से ही मूर्ख। पाते न मुझे ॥२६४॥

**अहं क्रतुरहं यज्ञः, स्वर्धाऽहमहवौषधम्। मन्त्रोऽहमहेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥**

जब ज्ञान का होता उदय। तब मैं ही दिखता मूल वेद। वह करता जिसका विधान। वह क्रतु मैं ही ॥२६५॥  
उस कर्म से जो अन्वङ्ग। पूर्ण साङ्गोपाङ्ग। पाण्डव! प्रकट हो यज्ञ। वह भी मैं ही ॥२६६॥  
मैं स्वाहा और स्वधा। सोमादि ओषधी द्विविधा। मैं ही आज्य-समिधा। मैं हवि और मन्त्र ॥२६७॥  
मैं 'होता', करता हवन। मेरा ही स्वरूप अनल। और जो जो वस्तु हुतक। मैं ही वह ॥२६८॥

**पिताऽहमस्य जगतो माता धाता पितामहः। वेष्टं पवित्रमोङ्कारं ऋक्साम यजुरेव च ॥१७॥**

अरे जिसके अङ्ग-सङ्ग से। प्रकृति के अष्टाङ्ग से। जगत् यह जन्म पाये। वह पिता मैं ॥२६९॥  
जैसे अर्धनारीनेश्वर। जो नारी वह नर। वैसे चराचर की पार्य। मैं ही माता ॥२७०॥

उत्पन्न जग जहाँ रहे। जिससे जीवनवृद्धि पाये। वह मुझसे अन्य नहीं रे। कुछ भी कहीं ॥२७१॥  
 प्रकृति-पुरुष दोनों ये। जिस अमन-मन से उपजे। वह पितामह त्रिभुवन में। विश्व का मैं ॥२७२॥  
 और ज्ञान के सभी पन्थ। पहुँचाते जिस गाँव पार्थ। वेदों ने जिसे कहा वेद्य। चौराहे पर ॥२७३॥  
 जहाँ नाना मतों का मिटता विवाद। परस्पर शास्त्रों में होता संवाद। भ्रमित ज्ञान जहाँ पहुँचते एकत्र।  
 जो कहाता पवित्र ॥२७४॥  
 वह ब्रह्मबीज में निकला अङ्कुर। धोष-ध्वनि-नादाकार। उसका भुवन जो अङ्कुर। वह मैं ही ॥२७५॥  
 जिस अङ्कुर को कुक्षि से। 'अ उ म' अक्षर उपजते। साथ ही वेदनय प्रगटे। जिनके पार्थ ॥२७६॥  
 अतः ऋम् यजुः साम। तीनों मैं ही! कहे आत्माराम। ऐसे मैं ही कुलक्रम। शब्दब्रह्म का ॥२७७॥

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्। प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥

यह समस्त चराचर। समाता जिस प्रकृति के भीतर। वह विश्राम पाती जहाँ पर। मैं ही वह परमगति ॥२७८॥  
 प्रकृति जिसे जिस आश्रय से। जहाँ अधिष्ठित विश्व सृजे। जो प्रविष्ट होकर प्रकृति में। भोगे त्रिगुण ॥२७९॥  
 उस विश्वत्रयी का भर्ता। मैं ही, हे अर्जुन सखा। मैं स्वामी त्रैलोक्य का। एकमात्र ॥२८०॥  
 आकाश रहे सर्वत्र। वायु क्षणभर न रहे स्थिर। दहन करे पावक। बरसे जल ॥२८१॥  
 पर्वत न छोड़ें आसन। न लीपें सीमा सागर। पृथ्वी सबको करे वहन। यह आज्ञा मेरी ॥२८२॥  
 मैं दूलाऊँ तो बोले वेद। मैं चलाऊँ तो चले सूर्य। मैं हिलाऊँ तो हिलें प्राण। जो जग को चलाते ॥२८३॥  
 मेरे द्वारा नियोजित। काल भूतों को करता प्रास। ये सब जिसके पाण्डुसुत। आशाधारक ॥२८४॥  
 जो ऐसा समर्थ। वही मैं जग का नाथ। और गगन जैसा साक्षिभूत। वह भी मैं ॥२८५॥  
 इन नामरूपों में सब। जो भरा हुआ, पाण्डव। नाम-रूपों का आधारस्थल। स्वयं ही जो ॥२८६॥  
 जैसे जल के कल्लोल। और कल्लोल में जल। वैसे जो बसाता सकल। वह निवास मैं ॥२८७॥  
 जो मेरे अनन्य शरण। उनका मिटाता मैं जन्म-मरण। अतः शरणागतों का शरण्य। मैं ही एक ॥२८८॥  
 मैं एक ही अनेकपन से। विभिन्न प्रकृति-गुणों से। जीवित विभिन्न प्राणों में। रहता प्रवृत् ॥२८९॥  
 जैसे पोखर हो या समुद्र। रवि प्रतिविम्बित सर्वत्र। वैसे मैं ब्रह्मादिकोट पर्यन्त। सबका सुहृद ॥२९०॥  
 मैं ही सबे अर्जुन। इस त्रिभुवन का जीवन। सृष्टि-प्रभव-क्षय-कारण। मूल मैं ही ॥२९१॥  
 शाखाओं को प्रसवे बीज। फिर बीज में समाये वृक्षपन। वैसे सङ्कल्प से उत्पन्न सब। सङ्कल्प में लीन ॥२९२॥  
 ऐसे जग का बीज जो सङ्कल्प। अव्यक्त-वासना-रूप। वह कल्पान्त में जहाँ निक्षिप्त। वह स्थान मैं ॥२९३॥  
 नष्ट होते ये नाम-रूप। वर्ण-व्यक्ति होते विलुप्त। जहाँ जाति का मिटता भेद। न रहे आकार ॥२९४॥  
 ये सङ्कल्प, वासना, संस्कार। पुनः रचने को चराचर। जहाँ स्थित रहते अमर। वह निधान मैं ॥२९५॥

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च। अमृतं चैव मृत्युञ्ज तवसत्त्वाहमर्जुन ॥१९॥

मैं सूर्य का वेष धर कर। तपूँ तो सूखे सकल। फिर बरसता इन्द्र हो कर। तो भरता सब ॥२९६॥  
 अग्नि काष्ठ को खाता। फिर काष्ठ ही अग्नि होता। वैसे मरने-मारने वाला। मेरा ही स्वरूप ॥२९७॥

अतः जो जो मृत्यु का ग्रास। वह मेरा ही स्वरूप। और न मरने वाला सहज। हूँ मैं ही ॥२९८॥  
 अब कहूँ क्या बहुत। एक बार मैं समझो सब। कहलाते जो सद रूप। वह मैं ही अरे ॥२९९॥  
 अतः जहाँ मैं नहीं अर्जुन। है कोई ऐसा स्याम ? पर कैसे प्राणी भाग्यहीन। जो मुझे न देखें ॥३००॥  
 पानी बिना तरङ्ग सूखे। ज्योति बिना रश्मि न देखे। वैसे मद् रूप भी मुझे न जानें। कैसा विस्मय ? ॥३०१॥  
 भीतर-बाहर मैं व्याप्त। निखिल जग मुझसे ओतप्रोत। पर कैसे आड़े आये कर्म। न मानें मुझे ॥३०२॥  
 अमृतकूप में अचानक पड़े। और प्रयत्न करके बाहर निकले। उस अभागे को फिर क्या कहें ? कही पार्थ ? ॥३०३॥  
 पाने को ग्रासभर अन्न। दश दिशा में भटके अन्ध। ठुकराता चिन्तामणि पथ पर। अन्धतावश ॥३०४॥  
 ऐसे जो ज्ञान को त्यागता। उसको होती यही दशा। होता व्यर्थ सब किया कराया। ज्ञान बिना ॥३०५॥  
 अन्धे गच्छ के भले हों पक्के। पर उनका क्या उपयोग। वैसे सत्कर्म हूँ श्रममात्र। ज्ञान बिना ॥३०६॥

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते ।

ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिग्गान् विधिं देवभोगान् ॥२०॥

देखो सखे अर्जुन। आश्रमघर्मगत जिनका वर्तन। विधिभारंग को कसौटी-रूप। स्वयं जो होते ॥३०७॥  
 जिनके यजन में सकौतुक। तीनों वेद झुकाते मस्तक। खड़े रहते क्रियाफल। सम्मुख जिनके ॥३०८॥  
 ऐसे दीक्षित जो सोमप। जो स्वयं ही यज्ञस्वरूप। वे भी पुण्य नाम से पाप। कमाते आरे ॥३०९॥  
 जो जान कर श्रुतित्रय। कर चुके शत वार यज्ञ। पर यज्ञित मुझको छोड़ कर। चाहते स्वर्ग ॥३१०॥  
 जैसे कल्पतरु के नीचे बैठ। देवे फटी झोली में गठ। फिर निकले माँगने भोख। अभागा कोई ॥३११॥  
 वैसे शतक्रतुओं से मेरा यजन। कर चाहते स्वर्गसुख-सेवन। क्या वस्तुतः वह पुण्य कर्म। पाप नहीं ? ॥३१२॥  
 मुझ से रहित जो पाते स्वर्ग। वह अज्ञान का ही पुण्य मार्ग। जानो उसे कहते उपसर्ग। हानिप्रद ॥३१३॥  
 पाकर नरक के दुःख। स्वर्ग को कहते सुख। अन्यथा निरयानन्द निर्दोष। स्वरूप मेरा ॥३१४॥  
 मेरे समीप आने में सुभट। भटकाते ये दोनों कुपथ। स्वर्ग या नरक—ये पथ। चोरों के ही ॥३१५॥  
 पुण्यात्मक पाप से मिलता स्वर्ग। पापात्मक पाप से मिलता नरक। जो मुझ से कराता मिलन। वह शुद्ध पुण्य।  
 अरे मुझ में रहते हुए। जो मुझ से दूर करे। उसे पुण्य कहने में। क्यों जीभ न टूटे ॥३१७॥  
 पर रहने दो यह प्रस्तुत। सुनो जो ऐसे दीक्षित। मुझ से वे लेंते माँग कर। स्वर्ग भोग ॥३१८॥  
 जो मुझे न कराते प्राप्त। ऐसे पापरूप पुण्य। पाने की उमंग से भर। जाते स्वर्ग ॥३१९॥  
 जहाँ अमरत्व ही सिंहासन। ऐरावत जैसा वाहन। राजधानी-भूवन। अमरावती ॥३२०॥  
 जहाँ महासिद्धि के भण्डार। अमृत के कोठार। जिस गाँव में प्रभूत गोघन। कामधेनुओं का ॥३२१॥  
 जहाँ देव करते सेवा। चिन्तामणि की भूमि जहाँ। विनोद-वन वाटिका। सुरतहर्मों की ॥३२२॥  
 जहाँ गन्धर्व गायन करें। रम्भा का नर्तन चले। उर्वशी हो अन्तःपुर में। मुख्य विलासिनी ॥३२३॥  
 शयनकक्ष में सेवक मदन। चन्द्र करे शीतसम्भार्जन। किङ्कर बना पवन। दोड़े जहाँ ॥३२४॥  
 स्वयं दृहस्पति मुख्य ब्राह्मण। करते नित्य स्वस्तिवाचन। स्तुतिपाठ करें सुरगण। जहाँ अनेक ॥३२५॥



लोकपाल अधीन बने। सामन्त पदवी में रहते। उच्चैःश्रवा सामने चले। शोभा बन ॥३२६॥  
किम्बहुना ऐसे बहुत। भोग इन्द्र-सुख-सदृश। भोगता रहता जब तक। पुष्यलेश ॥३२७॥

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुणे मर्त्यलोकं विशान्ति।

एवं त्रयोधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥२१॥

जब पुष्य पूंजी होती क्षय। तब छूट जाता इन्द्र पद। आना पड़ता पुनः लौट कर। मृत्युलोक में ॥३२८॥  
जैसे धन व्यय करे वेश्या-भोगी। फिर छू न सके वह द्वार भी। वैसी लज्जास्पद स्थिति होती। दीक्षितों की।  
ऐसे सन्निहित मुझ को चूकें। जो पुष्य से स्वर्ग चाहें। अमरत्व खोकर लौटें। मृत्युलोक से ॥३३०॥  
फिर माता के उदर-कुहर में। एक कर विद्या की घानी में। नौ मास उबल कर जन्म पाते। पुनः मरण ॥३३१॥  
बरे स्वप्न में मिला निधान। जागने पर स्रोता सम्पूर्ण। वैसा ही स्वर्ग-सुख अर्जुन। वेदज्ञों का ॥३३२॥  
अर्जुन! यदि हुए भी वेदविद। पर मुझे न जाना तो व्यर्थ। कृणु छोड़कर फटका तुष। मानो उसने ॥३३३॥  
अतः एक मुझ से रहित। यह त्रयोधर्म है व्यर्थ। मुझे जान, न जान अन्य। तू होगा सुखी ॥३३४॥

अनन्याश्रित्यन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥२२॥

जिन्होंने सर्वभाव से चित्त। किया मुझ में समर्पित। जैसे न करता गर्भस्थ। कोई उद्यम ॥३३५॥  
मुझ से अन्य कुछ भी। प्रिय-प्राप्य जिनको नहीं। मेरे नाम पर ही। अर्पित जीवन ॥३३६॥  
ऐसे अनन्यरति चित्त से। जो मेरा चिन्तन करते। मेरे ही उपासक वे। मैं उनका सेवक ॥३३७॥  
एक निष्ठा से जिस क्षण। किया मेरा अनुसरण। तब से उनका क्षेमचिन्तन। कर्तव्य मेरा ॥३३८॥  
फिर उनका जो भी करणीय। मैं स्वयं करता सब धह। जैसे अजातपक्ष का जीवनपालन। पक्षिणी करे ॥३३९॥  
जो अपनी भूख-प्यास न जाने। उस शिशु को माँ ही सँभाले। प्राणपण से जो अनुसरते मुझे।

न लजाऊँ उनकी सेवा में ॥३४०॥

यदि वे चाहते सायुज्य। तो देता उन्हें वही यथेच्छ। यदि रखते सेवाभिलाष। तो उपजाऊँ प्रेम ॥३४१॥  
ऐसे मन में रखते जो-जो भाव। वह पूर्ण करता बारम्बार। उन्हें प्रदत्त का क्षेम-निर्वाह। करता मैं ही ॥३४२॥  
उनका योगक्षेम समस्त। मुझ पर ही आता पाण्डुसुत। जो सर्वभाव से आश्रित। मुझ पर ही ॥३४३॥

येऽप्यन्यवेशता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः। तेषां मामेष कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥

अन्य सम्प्रदाय अनेक। जो न जानते मुझे व्यापक। जो अग्नि-इन्द्र-सूर्य-सोम। आदि का करें यजन ॥३४४॥  
वह भी मेरा ही होता यजन। क्योंकि मैं ही विश्व अखिल। पर वह पद्धति पड़ती विषम। भजन की ॥३४५॥  
देखो शाखा-पल्लव वृक्ष के। उपजे नहीं क्या एक बीज से। पर मूल में ही जलसिञ्चन। लाभप्रद ॥३४६॥  
दस इन्द्रियों विभिन्न। हैं एक देह के अवयव। वे जो करतीं विषय-सेवन। पहुँचे एक स्थान ॥३४७॥  
किन्तु बनाकर स्वादु पकवान। भरते न उनसे कान। बाँधते क्या सुरभि-सुमन। नेत्र पर कभी ? ॥३४८॥  
मुझ से ही होता रससेवन। परिमल का रसिक घ्राण। वैसे करें मेरा यजन। मद्भाव से ॥३४९॥  
मुझे न जानकर मेरा भजन। होता केवल व्यर्थ प्रयत्न। अतः कर्म का चक्षुरूप ज्ञान। होता निर्दोष ॥३५०॥

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातस्त्व्यवन्ति ते ॥२४॥

अन्यथा देखो पाण्डुसुत । जितने यज्ञोपहार समस्त । कौन इनका भोक्ता पार्थ ? मुझसे अन्य ? ॥३५१॥  
मैं सभी यज्ञों का आदि । यजनकर्म की मैं ही अवधि । क्यों मुझे भूलकर दुर्बुद्धि । भजते इतर देव ॥३५२॥  
जैसे गङ्गोदक अर्पण गङ्गा में । करते देव-पितरों के लिये । वैसे मेरे ही मुझे देते । पर अन्य भाव से ॥३५३॥  
अतएव वे पार्थ । करते न मुझको प्राप्त । फिर अपनी वास्थानुसार । पाते लोक ॥३५४॥

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या, यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥  
मन-वाणी-करणों से । जो देवताओं को भजते । वे देहपात के क्षण में । होते देव रूप ॥३५५॥  
अथवा पितरों के व्रत में । जिनका चित्त टिके । जीवन बीतने पर वे । पाते पितृलोक ॥३५६॥  
या क्षुद्र देवतादि भूत । जिनके लिये परम देवत । वे अभिचार-पूर्वक उपसित । जिनके द्वारा ॥३५७॥  
उनका छूटे जब देह । तब पाते वही भूतत्व । सङ्कल्पानुसार फलित । कर्म उनके ॥३५८॥  
पर मुझे ही नयनों से देखा । जिन्होंने मुझे ही केवल सुना । मन से की मेरी भावना । वाणी से वर्णन ॥३५९॥  
जिन्होंने सर्वाङ्ग से सर्वत्र ; किया मुझे ही नमस्कार । किया दान-पुण्यादि सब । मेरे लिये ॥३६०॥  
जिन्होंने किया मेरा ही अध्ययन । मैं ही जिनका भोजन-पान । जिनका सम्पूर्ण जीवन । मेरे ही लिये ॥३६१॥  
जो सर्वाङ्ग में वहाँ अहङ्कार । कि पहन सके भक्ति-अलङ्कार । जग में जिनको एक लोभ । केवल मेरा ॥३६२॥  
जो मेरे काम से सकाम । मेरे प्रेम से सप्रेम । मुझ में मुग्ध होकर सभ्रम । न जानें लोक को ॥३६३॥  
जो समझते मुझे ही शास्त्र । मेरा ही जपते मन्त्र । ऐसे जिनकी चेष्टामात्र । मेरा भजन ॥३६४॥  
वे मृत्यु से पूर्व ही । मिल जाते मुझ में ही । फिर मृत्यु-समय अन्य कहीं । जायें कैसे ? ॥३६५॥  
अतः मद्याजी हुए जो मुझ । वे पा चुके मुझ में सायुज्य । जिन्होंने उपचारमिष किया समर्पित । निज को मुझे ।  
मुझे पाने को अर्जुन । एक ही पथ आत्मसमर्पण । अन्य किसी उपचार से मिलन । होता न मुझ से ॥३६७॥  
यहाँ ज्ञानाभिमान ही अज्ञान । सम्पन्नता ही न्यूनपन । जो मानें स्वयं को कृतार्थ जन । वे कुछ भी नहीं ॥३६८॥  
अथवा यज्ञदानादि पार्थ । या तप आदि का गर्व प्रबल । नहीं उनका तुष्णाधिक । महत्त्व यहाँ ॥३६९॥  
कहो ज्ञान के बल में । वेद से कौन आगे ? अथवा बढ़ कर शेष से । वाचाल कौन ? ॥३७०॥  
पर एक छिपा शय्या के नीचे । दूसरा बेति-नेति कह सके । जहाँ सनकादि उन्मत्त बने । कुछ कहान पाते ।  
तपस्त्रियों की श्रेष्ठता में । कौन शम्भु की पक्ति में । वे गर्व छोड़कर धारण करें । चरणोदक शीश पर ॥३७२॥  
अथवा ऐश्वर्य को समता में । लक्ष्मी-तुल्य कौन जग में ? 'श्री' जैसी दासी रहें । जिनके घर में ॥३७३॥  
जो खेल में बनायें घरोंदा । नाम रहें अमरावती उसका । तो बनते नहीं क्या गुड्डा-गुडिया । इन्द्रादिक उसमें ?  
न रुचने पर वह घर तोड़े । तो महेन्द्र भी रङ्ग होते । जिस वृक्ष को ओर वह देखे । वही बने कल्पतरु ॥३७५॥  
जिसको निकटवर्तिनी । दासी समर्थ ऐसी । वह लक्ष्मी मुख्य स्वामिनी । नगण्य जहाँ ॥३७६॥  
वह करके सर्वस्व-समर्पण । छोड़ कर सब अभिमान । पद-प्रक्षालन का पात्र अर्जुन । बनी भाग्य से ॥३७७॥  
अतः जो महत्त्व दूर फेंक कर । शास्त्राभिमान त्याग कर । रहें जग में नगण्य बन कर । वे मेरे समीप ॥३७८॥

सहस्रकिरण की दृष्टि सम्मुख। चन्द्र भी होता लुप्त। वहाँ क्या दिखलाये शक्यत। तेज अपना ॥३७॥  
जहाँ न चलता लक्ष्मी का महत्त्व। पूरा न पड़ता शम्भु का तप। वहाँ अन्य प्राकृत मूढ़ जन। कैसे जायें ?  
अतः देह-ममता छोड़ कर। सभी गुण डाले दार कर। सम्पत्तिमद करे न्योछावर। स्वात्मसहित ॥३८॥

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति। तवहं भक्त्युपहृतमनानामि प्रयतात्मनः ॥२६॥

तब निस्सीम भाव-उल्लास से। मुझे अर्पण के निमित्त से। एक फल कोई भी अरे। कहीं से भी ॥३८॥  
देता जब भक्त मुझे वह। मैं लेता कर पसार उभय। पा लेता डण्डल सहित। सादर तत्क्षण ॥३८॥  
अरे भक्ति के नाम से। कोई फूल भी यदि दे मुझे। न सूँघता केवल उसे। लेता मुझ में ॥३८॥  
भक्ति के नाम पर दिया। कोई भी एक पत्ता। ताजा हो या सूखा। चाहे जैसा ॥३८॥  
पर भरा हो सर्व-भाव से। तो अमृत से तृप्त हो भूखा जैसे। वैसे उसे बड़े सुख से। आरोग्यं पार्यं ॥३८॥  
अथवा यदि ऐसा ही योग हो। कि पत्ता भी न जुटे किसी को। पर कहीं जल का अकाल तो। पड़ता नहीं।  
वह तो बिना मोल चाहे जहाँ। मिल सकता श्रम के बिना। वही सर्वस्वभाव से अर्पण किया। जिसने मुझे।  
उसने वैकुण्ठ से भी विशाल। बनाया मानो महल। या कौस्तुभ से भी निर्मल। दिये भूषण ॥३८॥  
या दुग्ध-शय्या-सम्भार। क्षीराब्धि से भी मनोहर। मेरे लिये अपार। रचा उसने ॥३९॥  
कर्पूर, चन्दन, अक्षर। ऐसे सुगन्धों का सुमेघ सम। आरती में सजाया दिनकर। दीपमाला सा ॥३९॥  
गर्हूँ जैसा वाहन। सुरसह के उद्यान। कामधेनु-स्ता गोघन। किया अर्पण ॥३९॥  
अमृत से भी सुरस। पक्वान्न दिये हों परोस। ऐसा भक्त का उदकलेश। देता परितोष ॥३९॥  
कहाँ तक कहूँ पार्यं तुझे। देखा तूने निज दृष्टि से। सुदामा की पोटली खोली मैंने। तन्दुल के लिए ॥३९॥  
मैं जानता बस भक्ति एक। न देखता फिर न्यूनाधिक। मैं भाव का ही अतिथि रङ्क। किसी के भी ॥३९॥  
जो भी पत्र पुष्प फल। ये भजन के निमित्त केवल। अन्यथा मुझे प्रिय निष्कल। भक्तितात्त्व ॥३९॥  
अतएव सुनो पाण्डव। तू बुद्धि को कर स्ववश सरल। निज मनमन्दिर में सहज। न भूल मुझे ॥३९॥

यत्करोषि यववनासि यञ्जुहोषि ववासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् क्रुदध्व मवर्षणम् ॥२७॥

फिर जो क्रुद्ध भी कर्म करे। या कोई भोग भोगे। या नानाविध यज्ञ करे। वेद-विहित ॥३९॥  
या पात्र विशेष को दे दान। सेवकों को दे मानघन। अथवा तप आदि का अतसाधन। स्वयं करे ॥३९॥  
वे क्रियाजात सम्पूर्ण। हों स्वभावतः निष्पन्न। पर भावना से सम्पन्न। हों मेरे लिए ॥४०॥  
और सर्वथा चित्त में। कर्तृत्व का भाव न रहे। परिशुद्ध कर्म ऐसे। समर्पे मुझे ॥४०॥

शुभाशुमफलैरेवं मोक्षये कर्मबन्धनैः। संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो माधुष्यवसि ॥२८॥

अग्निकुण्ड में डाले बीज। न होते जैसे अङ्कुरित। वैसे न फलते मुझे अर्पित। शुभाशुम ॥४०॥  
यदि कर्म रहते शेष। तो फलते सुख-दुःख रूप। करने को वह भोग। मिलता देह ॥४०॥  
यदि मुझे हों अर्पित कर्म। तो मिटता मरण-जन्म। जन्माधारित श्रम। छूटता सब ॥४०॥

अतः अर्जुन इस प्रकार। प्रतीक्षा में न गँवाओ काल। यह संन्यास-युक्ति सरल। दे दो तुझे ॥४०५॥  
इस देह-कारा में न पड़ो। सुख-दुःख सागर में न गिरो। सुख से सुखरूप हो रहो। मेरे स्वरूप में ॥४०६॥

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाभ्यहम् ॥२९॥

तुम पूछो यदि मैं कैसा? तो सब भूतों में समान सदा। जहाँ 'अपना' 'पराया' ऐसा। भेद नहीं ॥४०७॥  
यों जान कर मुझे ऐसा। अहङ्कार का तोड़ धरोदा। प्राणपण से कर्म करते सदा। भजते मुझे ॥४०८॥  
वे वर्तमान दिखते देह में। पर वस्तुतः रहते मुझमें। और मैं उनके हृदय में। रहतां समग्र ॥४०९॥  
सविस्तर बटत्व जैसे। बीज-कणिका में रहे। और बीज-कण बसे। बट में जैसे ॥४१०॥  
बैसे मैं और वह परस्पर। बाहर नाम का ही अन्तर। अन्यथा, करें यदि वस्तुविचार। तो मैं ही वह ॥४११॥  
जैसे उधार आभूषण। करे कोई धारण। वैसा उनका देह-धारण। उदास भाव से ॥४१२॥  
पवन सङ्ग चला परिमल। डण्डल पर रहा फूल। वैसे आयुष्य को मुट्टी में केवल। रहे देह ॥४१३॥  
शेष सभी व्यापार। मेरे भाव में आच्छ। मेरे स्वरूप में नित्य। वह प्रतिष्ठित ॥४१४॥

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स भन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः ॥३०॥

ऐसे भजते जो प्रेमभाव से। वे फिर शरीर नहीं पाते। किसी भी जाति में हों भले। उत्पन्न वे ॥४१५॥  
आचार देखने से सुभट। भले हों वे दुराचारो-मुकुट। पर भक्ति के चौराहे पर समपित। जीवन यदि ॥४१६॥  
करे अन्त समय जैसी प्रति। वैसी आगे होती गति। अतः भक्ति को दिया यदि। जीवन अन्त में ॥४१७॥  
तो भले हो दुराचारो पहले। पर श्रेष्ठ हो समझो उसे। जैसे महापूर में डूब निकले। जीवित कोई ॥४१८॥  
वह तट पर पहुँचे जीवित। तो 'हुआ' कहना हुआ व्यर्थ। वैसे, न रहते पाप शेष। यदि अन्त में भक्ति ॥४१९॥  
अतः भले हो दुष्कृती पहले। पर अनुताप तीर्थ में नहा ले। फिर मेरी ही शरण ले रहे। सर्व भाव से ॥४२०॥  
तो हुआ पवित्र उसका कुल। आभिजात्य वही निर्मल। जन्म पाने का फल। मिला उसे ॥४२१॥  
उसने किया अध्ययन सब। उसने किया सम्पूर्ण तप। किया सम्यक् योगाभ्यास। अष्टाङ्ग उसने ॥४२२॥  
अहो पार्थ किम्बहुना। यह कर्म से पार हुआ सर्वथा। जिसकी लखण्ड आस्था। मेरे प्रति ॥४२३॥  
सभी व्यापार मनोबुद्धि के। एकनिष्ठा-पेटी में भरे। फिर मुझको ही सौंप दिये। जिसने पार्थ ॥४२४॥

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा, शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रतिजानीहि, न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥

वह होगा मुझ-सदृश यथाकाल। यदि तेरे चित्त में हो यह भाव। तो अमृत में ही जिसका निवास।

उसको मरण कैसे? ॥४२५॥

उदित नहीं जब सूर्य। कहलाता रात्रि वह समय। वैसे भक्ति से रहित कर्म। महापाप नहीं क्या? ॥४२६॥  
अतएव जिसका चित्त। रहता मेरे सन्निकट। तत्त्वतः वह पाण्डुमुत्। मेरा स्वरूप ॥४२७॥  
जैसे दीप से जलायें दीप। न पहचान रहती कौन प्रथम। वैसे जो भजे सर्वस्व-सहित। वह हुआ मद्स्वरूप ॥४२८॥  
फिर मेरी जो नित्य शान्ति। वही दश और वही कान्ति। किम्बहुना जीवनरोति। मेरी ही वही ॥४२९॥

अतः बारम्बार पार्थ । कहूँ तुझसे कहाँ तक । यदि हो मेरी अभिलाष । भूलो न भक्ति ॥४३०॥  
 नहीं अपेक्षित उत्तम कुल । नहीं प्रशंसित आभिजात्य । विद्वत्ता का गौरव व्यर्थ । चाहें क्यों ? ॥४३१॥  
 अथवा रूप वयस् का मान । सम्पन्नता का अभिमान । यदि नहीं हो भाव । तो व्यर्थ सब ॥४३२॥  
 कण-रहित बाल । लगी हों पीधों पर सघन । या हो कोई सुशोभित । निर्जन नगर ॥४३३॥  
 या सरोवर सूख जाये । दुःखी को दुःखी मिले वन में । अथवा वन्ध्य पीधे में फूले । भरपूर फूल ॥४३४॥  
 वैयास कह सकल वैभव । अथवा कुल-जाति-गौरव । जैसे शरीर हो सावयव । पर प्राण नहीं ॥४३५॥  
 वैसे मेरी भक्ति से हीन । जलने योग्य ही जीवन । अरे पृथ्वी पर पाषाण । होते त क्या ? ॥४३६॥  
 धूल की छाया सघन । स्वीकारते नहीं सज्जन । वैसे पुण्य न करता स्पर्श । अभक्तों को ॥४३७॥  
 नीम निबोलियों से भरा । तो, कौओं को सुकाल हुआ । वैसे भक्ति से हीन जीया । पाप के लिये ॥४३८॥  
 या घड़स सूपर में परोसे । फिर चौराहे पर जा रखे । तो स्वान का ही भोग बने । जिस प्रकार ॥४३९॥  
 वैयास जो भक्तिहीन जीवन । स्वप्न में भी न जाने पुण्याचरण । मानो परोसा हुआ भोजन । संसार दुःख के लिये ।  
 अतः उत्तम कुल न हो भले । अन्यत्र की ही जाति अरे । अथवा पशु का ही मिले । देह पार्थ ! ॥४४१॥  
 गजन्द्र को पकड़ा ग्राह ने । व्याकुल हो पुकारा उसने । उसका पशुत्व न आया आड़े । पाया मुझे ॥४४२॥

मां हि पार्थ श्वपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः । स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥

जिसका अनुचित लेना नाम । जो अधमों से भी अधम । ऐसी पापयोनि में जन्म । पाया जिसने ॥४४३॥  
 वे पापयोनि मूढ़ । मूर्ख मानो पत्थर । पर मुझ में हो दृढ़ । सर्वभाव से ॥४४४॥  
 जिसकी बाणो मे मेरा आलाप । दृष्टि भोगती मेरा रूप । जिसके मन के सङ्कल्प । चलते मेरे प्रति ॥४४५॥  
 मेरी कीर्ति से शून्य । रहते नहीं जिसके श्रवण । जिनके सर्वाङ्ग में भूषण । मेरी सेवा ॥४४६॥  
 विषय न जाने जिसका ज्ञान । जिसे रहता मेरा ही मान । यह स्थिति ही जिसका जीवन । अन्यथा धरण ॥  
 इस प्रकार से पाण्डव । जिसने अपने सर्वभाव । जीने का एकाधार । बनाया मुझे ॥४४८॥  
 वे भले हों पापजाति में उत्पन्न । भले न हो शास्त्राध्ययन । पर तुलना में मुझ-समान । वे नहीं न्यून ॥४४९॥  
 जिसकी भक्ति सम्पन्नता से । देव दैत्यों से न्यून हुए । लेना पड़ा नृसिंहत्व मुझे । जिसकी महिमा से ॥४५०॥  
 उस प्रह्लाद का मुझे छोड़ । किया स्मरण बढ़तों ने पार्थ । क्योंकि जो मैं देता, मिले वह । उसके स्मरण से ॥४५१॥  
 उसका सचमुच देवकुल । पर उससे न इन्द्र-पद श्रेष्ठ । अतः भक्ति हो वहाँ समर्थ । जाति अप्रमाण ॥४५२॥  
 जैसे राजाज्ञा के अक्षर । अङ्कित हों चर्मसूत्र पर । तो उससे ही होती प्राप्त । सकल वस्तु ॥४५३॥  
 अन्यथा, सोना-रूपा नहीं प्रमाण । बस राजाज्ञा ही समर्थ साधन । तदङ्कित चमड़ा भी मूल्यवान । ऋषयोग्य ॥  
 वही उत्तमत्व उपयोगी । सर्वज्ञता सार्थक तभी । भरे जब मनोबुद्धि । मेरे प्रेम से ॥४५५॥  
 अतः कुल, जाति, वर्ण । सभी ये हैं अकारण । यहाँ मेरापन ही अर्जुन । सार्थक एक ॥४५६॥  
 फिर चाहे जिस भाव से । मन समायें मुझ में । तब जाति-जीवन पहले । होते व्यर्थ ॥४५७॥  
 'नाला' नाम तब तक रहे । जब तक न गङ्गा में मिले । फिर तो केवल ही रहे । गङ्गा रूप ॥४५८॥

अथवा खैर या चन्दन काष्ठ । यह विभेद रहता तब तक । जब तक न पड़ते एकत्र । अग्नि में ॥४५५॥  
 वैसे क्षी-वैश्य क्षत्रिय । अथवा शूद्र अन्त्यजादि सब । रहें जातियाँ पृथक् जब तक । मिलें न मुझ में ॥४६०॥  
 फिर जाति-व्यक्ति विलीन होते । जब सर्वभाव से मुझ में मिलते । लवण-कण घुलता जैसे । सागर में ॥४६१॥  
 तब तक नद-नदी नाम से । पूर्व पश्चिमादि से आते रहते । जब तक न आ समाते । समुद्र में ॥४६२॥  
 किसी भी मिस से ऐसे । चित्त मुझे में प्रवेशे । हो इतना तब निश्चित रहे । मद्दरूप होना ॥४६३॥  
 अरे चाहे फोड़ने के लिये । लोहा यदि पारस पर पड़े । उसी मिलन-प्रसङ्ग में । वह बनता स्वर्ण ॥४६४॥  
 देखो वल्लभ-भाव से । व्रजाङ्गनाओं के चित्त मुझ में । समायें तो क्या न हुए । मत्स्वरूप ? ॥४६५॥  
 अथवा भय के व्याज से । न पाया मुझे क्या कंस ने ? या अखण्ड बैर-वश से । चैद्यादि ने ? ॥४६६॥  
 अरे सगे-सम्बन्धी होने से । पाण्डव-यादव सभी ने । और वसुदेवादि ने ममत्व से । पाया सायुज्य ॥४६७॥  
 नारद, ध्रुव, अक्षर । शुक और सनत्कुमार । इनकी भक्ति से धनुर्धर । मैं प्राप्य जैसा ॥४६८॥  
 वैसा ही गोपियों को काम से । उस कंस को भय-संभ्रम से । अन्य घातक मनोधर्म से । शिशुपाल आदि को ॥  
 अरे मैं एकमात्र प्राप्य । पकड़ो चाहे कोई मार्ग । भक्ति अथवा विषय-विराग । चाहे बैर ॥४७०॥  
 अतएव देखो पार्थ । मुझ में पाने को प्रवेश । उपायों का नहीं अभाव । या न्यूनता ॥४७१॥  
 चाहे जिस जाति में ले जन्म । भजन करे या विरोध । पर बने बैरी या भक्त । मेरा ही ॥४७२॥  
 हो कोई भी निमित्त । मेरा हो गया यदि चित्त । तो मद्दरूप होना निश्चित । हाथ आया ॥४७३॥  
 अतः पापयोनि भी, अर्जुन ! वैश्य शूद्र या रमणोजन । मुझे भजें तो पाते सदन । मेरा ही ॥४७४॥

**किं पुनर्ब्रह्मणः पुण्या मरुता रावर्ष्यस्तथा । अतित्यमसुखं लोकमिदं प्राप्य मजस्व माम् ॥३३॥**

फिर, वर्णों में जो छत्र चामर । स्वर्ग जिनका अपहार । मन्त्र-विद्या के मातृगृह । जो ब्राह्मण ॥४७५॥  
 जो पृथ्वी-तल के देव । जो तपीवतार सावयव । सभी तीर्थों के देव । उदित जो ॥४७६॥  
 यज्ञ जहाँ अखण्ड बसते । जो कवचरूप वेदों के । जिनकी दृष्टि के उत्सङ्ग में । बढ़ता मङ्गल ॥४७७॥  
 जिनकी आस्था की आर्द्रता से । सत्कर्म सदा फूलें-फलें । जिये सत्य सङ्कल्प से । जिनके पार्श्व ॥४७८॥  
 जिनके शब्द-मात्र से । आयुष्य पाया अग्नि ने । निज जल दिया समुद्र ने । सप्रेम ॥४७९॥  
 मैंने लक्ष्मी को किया दूर । कौस्तुभ दिवा उतार । वलः स्थल को बनाया स्थान । तब चरणरत्न का ॥४८०॥  
 अब भी जिनके चरणचिह्न । हृदय में धरता मैं अर्जुन । अपने सुभाग्य का रक्षण । करने के लिए ॥४८१॥  
 हे सुभट जिनका कोप । कालाग्नि रुद्र का निवास । जिनके प्रसाद से अनायास । मिलती सिद्धि ॥४८२॥  
 ऐसे पुष्य-पूज्य जो ब्राह्मण । मेरे प्रति जो अतिनिपुण । वे पाते मुझे, इसका समर्थन । क्या करणीय ? ॥४८३॥  
 अरे चन्दन के अङ्कानिल से । स्पृष्ट नोम भी रुमीप के । देवमस्तक पर स्थान पाते । निर्जीव भी ॥४८४॥  
 फिर चन्दन वहाँ न चढ़े । यह मन मे वैसे धरें ? या चढ़ने पर समर्थन करें । क्या उचित यह ? ॥४८५॥  
 शान्ति की आशा से जब । अर्धचन्द्र को भी शिव । धारण करते निरन्तर । यस्तक पर ॥४८६॥  
 तो सम्पूर्ण और शान्तिप्रद । परिमल द्वारा चन्द्र से अधिक । वह चन्दन सर्वाङ्ग में चर्चित । हो न क्यों ? ॥

रघ्योदक जिसके आश्रय से । अनायास समुद्र में मिले । उस गङ्गा का क्या होगा अरे । गत्यन्तर ? ॥४८७॥  
 अतएव राजर्षि या ब्राह्मण । जिनका मैं ही गति-मति-शरण्य । उनका निश्चित मैं निर्वाण । मैं ही स्थिति ॥  
 अरे: शतजर्जर नाव में । बैठे कैसे निश्चिन्त रहें । या खुले देह से कैसे सहें । शङ्खवर्षा ? ॥४८९॥  
 देह पर गिरते हों पाषाण । तो क्यों न स्वीकारें आच्छादन । रोगी को कैसा उदासपन । औषध से ? ॥४९१॥  
 चारों ओर हो दावानल । वहाँ से क्यों न निकलें पाण्डव । वैसे पाकर लोक सोपद्रव । क्यों न भजे मुझे ?  
 यदि मेरा भजन न करे । तो कौन सा बल उसके तन में । घर या भोग में कौन उसे । करे निश्चिन्त ? ॥४९३॥  
 विद्या या वयस् में से । कौन सा बल प्राणियों में । मुझे न भजकर जिसके भरोसे । मिले सुख ? ॥४९४॥  
 जितने हैं भोग्य पदार्थ । सभी निर्मित देह-सुखार्थ । वह देह तो बनता ग्रास । कालमुख में ॥४९५॥  
 यहाँ दुःख-माल के गट्टर खुले । मरण का ही माप चले । उस मृत्युलोक की हाट में । पहुँचे अन्त में ॥४९६॥  
 खरोदने को सुखमय जीवन । ग्राहक बने यहाँ अर्जुन । तो राख फूँकते जले दीपक । क्या सम्भव ? ॥४९७॥  
 जैसे विषकन्द पीसकर । निकालें रस निचोड़कर । उसी का नाम अमृत रखकर । चाहें अमर होना ॥४९८॥  
 वंसा ही विषयों का सुख । जो है केवल परमदुःख । पर करें क्या, न रहते मूर्ख । सेवन विना ॥४९९॥  
 या अपना शोष काटकर । बाँधें पाँव के घाव पर । वैसे ही हैं सुख सकल । मृत्युलोक के ॥५००॥  
 अतः मृत्युलोक में कथा सुख को । सुनने को न मिले कभी । अज्ञान-शय्या पर कैसे ? सुखनिद्रा ? ॥५०१॥  
 जिस लोक में चन्द्र को रोग क्षय । जहाँ अस्त के लिये होता उदय । जहाँ सुख का कवच पहने दुःख ।

छलता जग को ॥५०२॥

जहाँ मङ्गल के अङ्कुर ही में । अमङ्गल की छाया पड़े । उदर में मृत्यु झपटे । गर्भ पर ॥५०३॥  
 जहाँ मिथ्या का चिन्तन करें । तभी यमदूत ले चलें । पहुँचाये किस गाँव में । न मिले खोज ॥५०४॥  
 अरे सभी पथ खोजने से । न दिखें पदचिह्न किसी के । पर गये हुआँ की कथा कहते । जितने पुराण ॥५०५॥  
 जहाँ अनिरयता न नापी जा सके । ब्रह्मा की भी आयु से । कैसा विनाश व्यापक अरे । सर्वत्र यहाँ ॥५०६॥  
 ऐसा जो लोक प्रसिद्ध । वहाँ पाते जो जन्म । उनको निश्चिन्तता देखकर । होता कौतुक ॥५०७॥  
 पाने को दृष्टादृष्ट फल । घन न छुटता कौड़ी भर । पर सर्वस्वहानि के काम पर । कोटि व्यय ॥५०८॥  
 जो विषय-विलास में ग्रस्त । जो अभिलाष भार से दबे ऋस्त । उन्हें मानते सुखी स्वस्थ । उन्हें सजान मार्गें ॥५०९॥  
 जिनकी आयु अल्प शेष । बल और प्रज्ञा पड़े मन्द । उन्हें करते नमस्कार । बड़े कह कर ॥५१०॥  
 ज्यों-ज्यों बालक बड़े होते । माँ-बाप हृष से नाचते । रलानि नहीं कि आयु घटे । वृद्धि के साथ ॥५११॥  
 प्रतिदिवस जन्म के बाद । निकट आ रहा काल । मनाते जन्मदिन सोल्लास । करते उत्सव ॥५१२॥  
 अरे, 'मर' यह शब्द न सहते । कोई मरे तो खूब रोते । पर निज आयु जातो न दिखे । मूर्खता से ॥५१३॥  
 सर्प मेंढक को रहा निगल । वह फँलाये जीभ मक्खी पर । वैसे प्राणी किस लोभ पर । बढ़ते तुष्णा ? ॥५१४॥  
 अरे अरे कितनी बुरी । उलट रीति इस लोक की । यहाँ अर्जुन देवात् हो । जन्मे तुम ॥५१५॥  
 सब निकलो बाहर झटपट । पकड़ो भक्ति को बाट । जिससे पाओगे अव्यङ्ग । निजघाम मेरा ॥५१६॥

मन्मना नम मन्मसो मन्मयाजो मां नमस्कृत्य । मामधैर्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः ॥३४॥

तू मन मुझ में ही रख कर । रख प्रेम मेरे भजन पर । करो सर्वत्र नमस्कार । मुझ एक को ॥५१७॥  
मेरे अनुसन्धान से देख । सङ्कल्प मिटा दे निःशेष । मन्मयाजो यह नाम शुद्ध । इसी का पार्थ ॥५१८॥  
ऐसे होगा मुझसे युक्त । पायेगा मेरा स्वरूप । यह चित्त का रहस्य गुह्य । कहना तुझे ॥५१९॥  
अतः सबसे चुरा-छिपाकर । रखा था मैं ने जो सर्वस्व । वह पाकर रहोगे सुख- । -निमग्न तुम पार्थ ॥५२०॥

\* \* \* \* \*

ऐसे श्यामल परब्रह्म । भक्त-काम-कल्पद्रुम । बोले त्वयं आत्माराम । कहे सञ्जय ॥५२१॥  
'सुना आपने ध्यान-सहित !' इस पर भी बूढ़ा रहा स्तब्ध । जैसे बाढ़ से भी घिर कर । उठे न भँसा ॥५२२॥  
तब सञ्जय ने हिलाया मस्तक । कहा अरे ! बरसा अमृत । यहाँ रह कर भी दूसरे गाँव । गया यह क्या ? ॥५२३॥  
पर यह तो हमारा स्वामी । होगी इस वचन से दूषित वाणी । करें क्या, इसका सदा हो । स्वभाव ऐसा ॥५२४॥  
पर मेरा तो है मुभाग्य । कि कहने को कहा यह वृत्तान्त । कैसा बचाया मुनिराज । श्रो व्यासदेव ने ॥५२५॥  
बस इतना बोला सायास । रखकर अति दृढ़ मानस । फिर न रह सका स्ववश । सात्त्विक भाव से ॥५२६॥  
चित्त हुआ चकित मुग्ध । बाचा जहाँ की तहाँ स्तब्ध । हुआ नख-शिक्ष-पर्यन्त । रोमाञ्चित ॥५२७॥  
अर्धोन्मोहित लोचन । बरसाते आनन्दाश्रुक्षण । आन्तरिक सुखोर्मि से कम्पित । काया बाह्य ॥५२८॥  
फिर सभी रोममूलों में । भरोँ निर्मल स्वेद-कणिकायें । मानो मुक्ताजाल पहने । सुशोभित ॥५२९॥  
ऐसे महासुख के अति रस में । जीव-दशा लुप्त होना चाहे । तब व्यास के आदेश ने । रोका उसे ॥५३०॥  
और श्रीकृष्ण के वचन । सुने मानो करते गर्जन । तब लौटा देहस्मरण । सञ्जय में ॥५३१॥  
तब पोंछ कर नेत्रजल । सर्वाङ्ग का स्वेद हटा कर । बोला 'सुनिये ध्यान देकर' । वृत्तराष्ट्र से ॥५३२॥  
श्रीकृष्ण-वाक्य उत्तम बोज । सञ्जय सात्त्विक का खेत । अतः श्रोता होंगे मुकालरूप । प्रमेयफल के ॥५३३॥  
अहो दीजिये तनिक अवधान । आनन्दराशि पर डालें आसन । श्रवणेन्द्रिय को माल्यार्पण । किया देव ने ॥५३४॥  
अब विभूति के स्थान । अर्जुन को कहेंगे सिद्धराज । वह सुनिये कहे ज्ञानदेव । निवृत्तिसुत ॥५३५॥

इति श्रीमद्भगवद्गीताप्रणोतायां श्रीमद्भगवद्गीतामार्थवार्थवैपिकायां राजविद्याराजगुह्ययोगो

नाम नवमोऽध्यायः (हिन्दीभाषायामनूवितः)

॥ ॐ हूरिः ॐ तत् सत्, श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥





## ‘श्रीमद्भगवद्गीता’—‘ज्ञानेश्वरी’ दृष्टि में

जैसे वह्निप्रताप न कह पायें। पर बाती पर शिखा प्रगटायें।

तो सूर्य के अभाव में बने। अवलम्ब वह ॥ १६६० ॥

वैसे शब्दब्रह्म अनन्त। बना सपादलक्ष भारत।

भारत का सप्तशतात्मक। सर्वस्व गीता ॥ १६६१ ॥

या गीता यह सप्तशती। मन्त्र-प्रविपाद्य भगवती।

मोह-महिष को दे कर मुक्ति। आनन्दित ॥ १६६६ ॥

अतः मन-काया-वाचा से। जो इस का सेवन करे।

स्वानन्दसांभ्राज्य का उरें। करे चक्रवर्ती ॥ १६६७ ॥

अविद्यातिमिर मिटाने में। श्लोक स्पर्धा में सूर्य को जीतें।

गीता-मिस ऐसे प्रकाशित किये। श्रीकृष्णराज ने ॥ १६६८ ॥

या श्लोकाक्षर-द्वाक्षलता वा। मण्डप बनी यह गीता।

संसारपथ से भ्रान्त का। विश्रामस्थल ॥ १६६९ ॥

या सुभागी सन्तभ्रमरों से। सेवित श्लोक-कमलों से।

श्रीकृष्णाख्य-सरोवर में। भरी कमलिनी ॥ १६७० ॥

अहो इत शास्त्र में एक। श्रीकृष्ण ही वाच्यवाचक।

यह प्रसिद्ध, जानें लोक। कोई भी ॥ १६८२ ॥

यहाँ अर्थ और पाठ। देते सपान ही फल।

वाच्य-वाचक का ऐव्य। साधता शास्त्र ॥ १६८३ ॥

जो तीनों भुवन सन्तप्त। उन्हें शान्ति देता कलावन्त।

चकोर के निमित्त। चन्द्र जैसे ॥ १६८७ ॥

या गीतम के व्याज से। कलकाल-ज्वरितों के लिये।

प्रवाहित किया गिरीश ने। गङ्गा-प्रवाह ॥ १६८८ ॥

कामधेनु गीता वैसे। पार्थ वत्स लगा कर के।

दुही समस्त जग के लिये। श्रीकृष्ण ने ॥ १६६९ ॥

पाठ, श्रवण, या अर्थ से। गीता मोक्ष से अन्वय न दे।

समर्थ दाता किसी को जैसे। ‘ना’ न कहे ॥ १६९४ ॥

श्रीकृष्णार्जुन ने खल कर। किया जो अद्भुत संवाद।

उसे व्यास ने करतल-लभ्य। बनाया ऐसा ॥ १६९६ ॥

बालक को प्रेम से। खिलाने जब माँ बैठे।

तब उसी के माप के। देती ग्रास ॥ १६९७ ॥

लाता सिन्धु का पानी मेंघ। उसी की ओर ताके लोक।

वर्षोंक उपयोग में अमाप। न आवे किसी के ॥ १७०५ ॥

मन-वाणी से जो न प्राप्य। वह न बनता ये श्लोक सुन्दर।

तो कान-मुख उस का स्वाद। पाते कैसे ? ॥ १७०६ ॥

अतः श्री व्यास का महत्तर। विश्व पर हुआ उपकार।

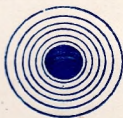
कि श्रीकृष्णोक्ति को आकार। दिया ग्रन्थ का ॥ १७०७ ॥

[ श्रीज्ञानेश्वरी—१८वें अध्याय से उद्धृत ]





[सत्यं श्रीज्ञानेश्वरी चिन्ता सं श्रीशुद्धाचार्य, मुंबईचे संस्थापक  
परिशिष्टी मद्रिभ उल्लेख हे । पृ. ७०० मुद्रण ७१ स. मास: वि. स. २०.]



श्रीज्ञानेश्वरी अर्थित भावार्थदीपिका